DAMAGE BOOK

साहित्य-दर्शन

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री, शास्त्राचार्य्य



परमपूज्य पिताजी के श्रीचरणों में

सादर समर्पित



भूमिका

नई कविता की भाँति नई आलोचना भी द्विवेदी-युग से छायावाद युग में आकर नया रूप-रंग धारण कर चुकी है। उसकी वेश-भूषा में ही नहीं, आकृति-प्रकृति में भी अन्तर आ गया है। उसकी नई शैली और नवीन मान्यताएँ हो गई हैं। अपने नए व्यक्तित्व के अनुकूल वह अपना एक स्वतन्त्र दार्शनिक अस्तित्व भी ढूँढने लगी है। कहने का प्रयोजन यह कि नई समीक्षा, पुरानी समीक्षा से भिन्न, नए ही साँचे में ढल रही है।

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री इसी नई धारा के आलोचक हैं। आलोचक ही नहीं, वे कवि और कहानीकार भी हैं और नई शैली की रचनाएँ करते हैं। 'रूप औ' अरूप' नामक उनका काव्य-संग्रह और 'कानन' तथा 'अपर्णा' नामक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनके कवित्व में भी उनके पाण्डित्य का पूरा योग है। वे साहित्य के आचार्य हैं और देववाणी में भी ललित रचना करते हैं। वे बहु-भाषाविद भी हैं। 'सप्तपर्ण' नामक उनका सात भाषाओं का रचना-संग्रह प्रकाशित होने ही वाला है। जानकीवल्लभ प्राचीन साहित्य की पूरी जानकारी रखने वाले नवयुग के प्रौढ़ लेखक हैं। उनकी यह नवीन रचना 'साहित्य-दर्शन' हिन्दी में निश्चय ही सम्मान प्राप्त करेगी।

'साहित्य-दर्शन' एक आलोचनात्मक कृति है। इसकी आलोच-नाएँ कई श्रेणियों में बँटी हुई हैं। आरंभ में साहित्य और आलोचना के स्वरूप पर कुछ लेख हैं। इन्हें हम 'सैद्धान्तिक आलोचना' के लेख कह सकते हैं। तत्पश्चात् 'आधुनिक हिन्दी आलोचना का विकास'

और 'हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा' शीर्षक 'विवरणात्मक आलोचना' के दो लेख हैं। पुनः पुस्तक में 'मीरा और महादेवी' 'जयदेव और विद्यापति' 'मुद्राराक्षस और जूलियस सीज़र' 'गीता और गीताञ्जलि' शीर्षक लेख 'तुलनात्मक आलोचना' के निदर्शक हैं। 'साकेत की ऊर्मिला' 'प्रमीला की कल्पना' 'रवीन्द्र नाथ की उपमाएँ' 'रवीन्द्र की उपेक्षिता' तथा 'रवि और कवि' 'भक्ति और शृङ्गार' आदि लेख 'प्रासंगिक या प्रकीर्णक आलोचना' के अंतर्गत आते हैं। पुस्तक के अंत में 'निराला की काव्यकला' शीर्षक एक बड़ा लेख या प्रबंध भी है जो 'व्यावहारिक आलोचना' का उदाहरण कहा जा सकता है। इस प्रकार आलोचना के कई भेद प्रस्तुत पुस्तक में प्राप्त होते हैं।

भूमिका में आलोचना के इन अनेक स्वरूपों की विस्तृत चर्चा तो नहीं की जा सकती पर संक्षेप में इनका परिचय दे देना आवश्यक होगा। किन्तु इस कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व हम यह सूचित कर देना चाहते हैं कि नवीन आलोचना अबतक अपनी निश्चित शास्त्रीय परिपाटी नहीं बना सकी है, अभी वह निर्माणावस्था में है। अबतक उसकी कुछ प्रवृत्तियाँ ही प्रकाश में आई हैं, उन्हीं के आधार पर हमें उसे परखना होगा। दूसरी बात यह भी जान लेनी चाहिए कि इस युग के विभिन्न आलोचकों की आलोचना-दृष्टि में भी पर्याप्त अंतर है और वे सभी अपनी-अपनी दृष्टियों से साहित्यिक तथ्यों का निरूपण कर रहे हैं। हिन्दी जैसे अभ्युदयशील साहित्य में यह दृष्टि-भेद स्वाभाविक ही है, किन्तु अनेक दृष्टियों से की गई इस युग की आलोचनात्मक उपपत्तियों में बड़ी हद तक एकतानता भी है जिसकी ओर हमारा ध्यान सब से पहले जाता है।

आरंभ में इस एकतानता पर ही दृष्टि डालिए। साहित्य की परिभाषा को ही लीजिए। श्री जानकीवल्लभ लिखते हैं—'सत्य मौन है, वाणी मुखर। सत्य नित्य निर्मल है, वाणी संस्कार-परिष्कार की अपेक्षा करने वाली।' ....'सत्य संपूर्ण रूप से कभी भी व्यक्त नहीं किया जा सकता।'...'अधिक से अधिक सत्य को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील महामनस्वियों की पवित्र तथा परिष्कृत वाणी ही का नाम साहित्य है।'

साहित्य की इस व्याख्या में हमें वर्तमान युग की आध्यात्मिक चेतना की स्पष्ट झलक मिलती है। यही चेतना रचनात्मक साहित्य में भी व्याप्त हुई और आलोचनात्मक साहित्य में भी। साहित्य की इस आध्यात्मिक व्याख्या में हम नवयुग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब पाते हैं। संक्षेप में यह व्याख्या साधनामय, आदर्शात्मक, सांस्कृतिक और प्रसरणशील साहित्य की मापरेखा है। इस व्याख्या से साहित्य का स्वरूप-निर्देश भले ही न होता है, उसकी विशुद्ध प्रकृति का आभास अवश्य मिल जाता है। यह व्याख्या अनिर्दिष्ट भले ही हो, संकीर्ण और असंयत नहीं है।

'संकीर्ण' और 'असंयत' शब्दों से मेरा क्या आशय है, यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। आचार्य जानकीवल्लभ की इस व्याख्या के साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की वह परिभाषा लीजिए जिसमें वे कहते हैं कि जगत् ब्रह्म की (या सत्य की) अभिव्यक्ति है और साहित्य जगत् के नाना भावों की अभिव्यक्ति। आचार्य शुक्ल ने सत्य और साहित्य के बीच में जगत् और उसके नाना भावों का मध्यवर्ती तत्त्व ला रक्खा

है जब कि जानकीवल्लभ साहित्य का सीधा संबंध सत्य या आध्यात्मिक तत्त्व से जोड़ देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जानकीवल्लभ जी की अपेक्षा आचार्य शुक्ल की व्याख्या 'संकीर्ण' है।

साहित्य का जगत् से संबंध जोड़ देने के कारण शुक्ल जी साहित्य के नैतिक और व्यावहारिक आदर्शों की ओर इतना अधिक झुक गए कि उसके विशुद्ध आध्यात्मिक और भावमूलक स्वरूप का स्वतंत्र आकलन न कर सके। नवीन आलोचना से ही इस कार्य का आरंभ होता है इसलिए स्वभावतः अभी इसका स्वरूप सब लोगों को स्पष्ट नहीं हुआ। कुछ लोग इस नवीन साहित्ययुग को सौन्दर्यवादी और नवीन समीक्षा को कलावादी समीक्षा कहते हैं। केवल सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य अथवा कला के लिए कला का सिद्धान्त आधुनिक साहित्यिकों का नहीं है, यह अबतक स्पष्ट हो जाना था।

जानकीवल्लभ जी की उपर्युक्त व्याख्या इसके प्रमाण में उपस्थित की जा सकती है। यह व्याख्या साहित्य में विना किसी मतवाद का आग्रह किए भी उसके मनोवैज्ञानिक सौष्ठव और परिष्कार का आग्रह तो करती ही है। स्पष्ट ही यह व्याख्या साहित्य के मानसिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्रधानता देती है और कला के लिए कला का समर्थन नहीं करती। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि यह व्याख्या असंयत नहीं है।

कला के लिए कला और रस की अलौकिकता का सिद्धान्त माननेवाले ही साहित्य की असंयत व्याख्या करते हैं। जानकीवल्लभ जी अथवा नवीन आलोचकों ने ऐसा नहीं किया। रस को अलौकिक

वस्तु मान लेने पर साहित्य की एक ऐसी स्वतंत्र सत्ता हो जाती है जिस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं रह जाता। क्रमशः जीवन के लिए अल्प महत्त्व की बातें साहित्य में प्रधानता पा जाती हैं और उसका ह्रास होने लगता है। यूरोप में कला के लिए कलावाद और भारत में अलौकिक रसवाद, रीतिबद्ध और जीवननिरपेक्ष साहित्य के निर्माण में कारण बना। नए समीक्षक इस ख़तरे से ख़ूब परिचित हैं।

यहाँ हम साहित्य की इस आध्यात्मिक व्याख्या के संबंध में उन साहित्यिकों का आक्षेप भी उपस्थित कर देना चाहते हैं जो आध्यात्मिक नाम से ही घबड़ाते हैं और जिन्हें मार्क्स-दर्शन का अनुयायी होने के कारण प्रगतिशील कहलाने का गौरव प्राप्त है। ये लोग साहित्य के मनोवैज्ञानिक और कलात्मक सौष्ठव की अपेक्षा उसमें अभिव्यक्त वर्गवादी सिद्धान्त को अधिक महत्त्व देते हैं और सामयिकता की दुहाई देकर साहित्य के नए मापदंड स्थिर करना चाहते हैं। यह कोरी उपयोगितावादी, सैद्धान्तिक (dogmatic) और उपदेशात्मक प्रवृत्ति है जो पूर्व युगों में भी उभार खा चुकी है, किन्तु यह साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में कभी स्वीकार नहीं की गई।

हम यह नहीं कहते कि साहित्य में नवीन जीवन का विन्यास नहीं होगा अथवा नवीन प्रेरणाएँ प्रवेश नहीं करेंगी। यदि साहित्य किसी पूर्वपरंपरा में ही बँध जाय तो वह साहित्यिक दृष्टि से भी अवनत ही होगा। किन्तु नवीन जीवनधाराओं में निमज्जित होकर भी साहित्य अपना विशिष्ट स्वरूप—अपना मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष—कभी नहीं छोड़ सकता।

यहाँ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि कोई भी भारतीय साहित्यिक वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी, कबीर और जायसी, अथवा किसी भी विशिष्ट कवि की अवहेलना यह कह कर नहीं कर सकता कि वे सामंतवादी या राजसत्तावादी युग के प्रतिनिधि थे और वह युग अब बीत गया है। वास्तव में सभी महान् कवि उच्चतम भावों और संस्कृति के प्रतिनिधि होते हैं, किसी विशेष-वाद के नहीं। सामाजिक जीवन में नए परिवर्तन होने पर भी महान् कवियों की भाव और कला विभूति अपना आकर्षण नहीं खोती। वह स्थायी साहित्य और संस्कृति का अंग बन जाती है।

अस्तु, जानकीवल्लभ जी की उपर्युक्त व्याख्या स्थायी साहित्य का स्वरूपनिर्देश करती है, वह साहित्य और जीवन के विकास पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती। नित्य नवीन भावधाराओं को ग्रहण करने में वह पश्चात्पद नहीं है। यदि वह पश्चात्पद है तो केवल ओछी, उत्तेजनापूर्ण, अश्लील अथवा कोरी उपदेशात्मक कृतियों को, जो स्पष्टतः असाहित्यिक हैं, साहित्यिक स्वीकार करने में पश्चात्पद है। साहित्य के उच्चतर मनोवैज्ञानिक कलात्मक और आध्यात्मिक स्वरूप की रक्षा यदि अपराध हो तो निश्चय ही जानकीवल्लभ तथा नवीन समीक्षक अपराधी हैं। यदि नहीं तो नहीं।

इससे अधिक उदार साहित्य की व्याख्या क्या हो सकती है? अपनी उदारता के कारण ही यह व्याख्या पूर्णतः स्वरूप-निर्देशात्मक भी नहीं बन सकी। यह केवल इंगित का काम देती है, बड़ी हद तक अनिर्दिष्ट भी है। इसमें साहित्य के उन तत्त्वों का निर्देश भी नहीं

किया गया जो उसकी सीमा के विधायक हैं और जिनके बिना साहित्य अपनी संज्ञा ही नहीं प्राप्त करता। यह एक प्रकार की त्रुटि भी है, किन्तु इसका कारण ऊपर बताया जा चुका है। इस त्रुटि की पूर्ति भी लेखक ने अपनी तुलनात्मक और व्यावहारिक समीक्षाओं में अच्छी तरह कर दी है। अब हम उन्हीं की ओर आगे बढ़ते हैं।

आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि नवीन आलोचना अभी पूर्णतः शास्त्रीय स्वरूप नहीं धारण कर सकी है, अबतक उसकी कुछ प्रवृत्तियाँ ही प्रत्यक्ष हुई हैं। इन प्रवृत्तियों के ही आधार पर हमें नवीन समीक्षा के स्वरूप का परिचय मिल सकता है। ऊपर मैंने इसके मूलभूत मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्वरूप का उल्लेख किया है। अब यहाँ हमें उन सूत्रों की ओर दृष्टिपात करना होगा जिसके आधार पर समीक्षा का यह स्वरूप प्रतिष्ठित हो सका है। संक्षेप में हम नई समीक्षा के साध्य को देख चुके, अब साधनों की ओर दृष्टि डालनी होगी।

सबसे पहले यह बात दिखाई देती है कि नवीन समीक्षा रस और अलङ्कार की शैली को छोड़ स्वतन्त्र मार्ग ग्रहण कर चली है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल यद्यपि इस प्राचीन समीक्षा-परम्परा का यथेष्ट परिष्कार भी कर गए और उसकी संभावनाओं का उज्वल चित्र भी दिखा गए किन्तु नवीन समीक्षकों ने इसका अधिक उपयोग नहीं किया। इसका कारण यह नहीं था कि नवीन समीक्षक इस परम्परा से अपरिचित थे किन्तु स्वच्छन्द अनुभूति प्रवाह और अभिव्यक्ति सौष्ठव के प्रत्ययों में रस और अलङ्कार परम्परा के वाह्य वर्गीकरणों को भूल ही गए। उनका ध्यान सांस्कृतिक मनोभावनाओं और उनकी मनोरम अभि-

व्यक्तियों ने इस प्रकार आकृष्ट कर लिया कि उसके स्थूल स्वरूप-निर्देश को वे अधिक महत्त्व न दे सके। किन्तु इतना निश्चय है कि साहित्य के कल्पना-पक्ष, उसकी अनुभूति और कलाविशिष्टता को परखने में यह युग पिछले सभी युगों से आगे बढ़ गया।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि यह नवयुग भारत में अभूत-पूर्व राजनीतिक और सामूहिक जागृति का था। गांधी जी के सामूहिक सत्याग्रह आन्दोलन ने एक अनोखी आशावादिता और उत्साह का वातावरण उपस्थित कर दिया था। उनकी आध्यात्मिक प्रेरणाओं के फल स्वरूप देश में जो अनुपम जागृति फैली उससे न केवल साहित्य में नवीन भावोद्रेक की धारा फैली, नयी आध्यात्मिक चेतना भी मिली और रचनाओं में नया सांस्कृतिक प्रकाश आया।

इन नवीन रचनाओं में बाहरी ढाँचे की अवहेलना भी थी। अलङ्कारों का आधिक्य नहीं था। नवीन स्वरलहरी का उल्लास था। भावनाओं में एक अनुपम आध्यात्मिक ज्योति थी। इन्हीं की ओर स्वभावतः समीक्षकों का भी ध्यान गया।

विषय नवीन भी थे और प्राचीन भी किन्तु भावना सब में एक सी ही सौम्य सूक्ष्म और आदर्शोन्मुख थी। पुनरुत्थान (अतीतोत्थान या Romantic) आन्दोलन की प्रकृति के अनुसार यह नया साहित्य प्राचीन दर्शन, इतिहास और पुराण के क्षेत्रों में भी पहुँचा और उनकी बहुत सी सामग्री नवीन उपयोग में लाया। संस्कृत भाषा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवियों और लेखकों ने उसकी विशिष्टताएँ भी अपनी रचनाओं में ग्रहण कीं। इसी कारण इस काल की भाषा में संस्कृत

का प्राचुर्य है। भाषा की लाक्षणिकता और अभिव्यक्ति की प्रतीक प्रधान शैली इस युग की अपनी विशेषता रही है। यह नवीन अलंकरण या चित्रण शैली कुछ कम ध्यान देने योग्य नहीं।

कवियों ने नवीन शिक्षा-दीक्षा भी ग्रहण की थी। अंग्रेजी भाषा की अभिव्यक्तियों और प्रयोगों का भी अच्छा प्रभाव देख पड़ा। लेखकों की ग्राहिका-बुद्धि ने और उनकी नव सांस्कृतिक रुचि ने अभिव्यंजना को पाश्चात्य शैली में भी सज्जित करने की चेष्टा की। जितने नए शब्द और प्रयोग संस्कृत और अंग्रेजी से इस युग में गृहीत और निर्मित हुए उतने इसके पूर्ववर्ती किसी युग में कदाचित् ही हुए हैं। भाषा की समृद्धिशीलता भी साहित्य की ही समृद्धिशीलता है।

गद्य और पद्य दोनों में नए स्वरों का संधान और नई शैलियों का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ। लेखकों की शैलियाँ भी क्रमशः समुन्नत होती गई हैं।

कुछ कवि अन्यों की अपेक्षा अधिक भावुक और तन्मात्रा प्रधान (sensuous) हुए हैं, उदाहरण के लिए चंडीप्रसाद 'हृदयेश' या या स्वयं प्रसाद जी। कुछ अन्य कवि अधिक सजग कौशल पांडित्य और तटस्थता लिए हुए हैं उदाहरण के लिए निराला जी; कुछ अन्य कवि उत्कृष्ट कल्पना-प्रतिभा लेकर आए, जैसे पन्त जी; कुछ अन्य करुणा का आध्यात्मिक सौष्ठव लेकर चले, जैसे महादेवी जी; इसी प्रकार विभिन्न कवियों की विभिन्न व्यक्तिगत विशेषताएँ होते हुए भी इनकी युगगत प्रेरणाओं में बड़ी हद तक साम्य भी रहा है।

साम्य और वैषम्य के इन सूत्रों को सुलझाने में नई समीक्षा को

पर्याप्त समय लगाना पड़ा। पूर्ववर्ती साहित्यिक निर्णयों और विवेचनों का विरोध भी करना पड़ा, नई स्थापनाएँ भी करनी पड़ीं। द्विवेदी जी से आरम्भ होने वाले नवीन साहित्य का नया विश्लेषण और मूल्याङ्कन किया गया। प्रबन्ध और मुक्तक की काव्यपरिपाटियों पर भी बड़ा विवाद रहा। प्रगीत की नई परिपाटी हिन्दी में आई। निराला जी के नवाविष्कृत मुक्त छन्द पर भी बड़ी चखचख हुई। इन व्यस्तताओं के कारण नई समीक्षा विस्तृत साहित्यिक विवेचनों में अबतक नहीं जा सकी। अब वह उस ओर झुक रही है।

किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि नए समीक्षक सामयिक साहित्य की समीक्षा तक ही सीमित हैं। उन्होंने प्राचीन साहित्य का भी अध्ययन अनुसन्धान किया है तथा साहित्य-सिद्धान्तों पर भी निबन्ध और पुस्तकें लिखी हैं। यह कार्य भविष्य में और भी अग्रसर होगा। पुराने कवियों में सूर, तुलसी, कबीर, मीरा और विद्यापति आदि नए समीक्षकों को अधिक आकृष्ट कर सके हैं क्योंकि वे भाव-प्रधान और आध्यात्मिक कवि हैं। नए समीक्षकों की रुचि भी उनके अनुकूल है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि इस क्षेत्र में भी नवीन समीक्षा ने बहुत कुछ नया कार्य किया है।

जहाँ एक ओर नए समीक्षकों ने विशुद्ध प्रेम-प्रगीतों को प्रबन्ध-मूलक रचनाओं और उनमें प्रदर्शित नीतिवाद से पृथक् और उच्चतर स्थान देने की चेष्टा की है, वहीं दूसरी ओर भक्ति के नाम पर रचित भाव रहित,शुष्क या अति शृङ्गारी काव्य को भी अलग कर दिया है। काव्य की परीक्षा काव्यात्मक मनोवैज्ञानिक आधारों पर की गई है।

साथ ही नए समीक्षकों ने भक्ति की पुरानी, अतिवादी अथवा असांस्कृतिक प्रतिपत्तियों को भी पहचाना और उनसे दूर रहे। शबरी, सुदामा, विदुर, द्रौपदी आदि के आख्यानों में भक्ति की अनन्यता के प्रदर्शन के लिए दूसरे पक्ष को जो अत्यधिक विपन्नता और विवशता दी गई है अथवा स्थान-स्थान पर उनके आत्मविस्मरण का जो दृश्य दिखाया गया है, नवीन समीक्षक उसके समर्थन तक नहीं गए। गोपिकाओं की मानलीला में निहित रहस्यवाद की असामाजिकता का उन्होंने निर्देश किया। किन्तु जहां विशुद्ध और भावमय प्रेम के चित्रण हैं वहाँ केवल नीति और ऐकान्तिकता के नाम पर उनका विरोध नहीं किया गया। न उन चित्रणों को अनीतिवादी बताया गया है।

इन पंक्तियों के लेखक ने 'सूर' और 'तुलसी' पर इसी आशय के अनेक निबन्ध लिखे हैं जो सामयिक पत्रिकाओं और संग्रहों में आ चुके हैं और अब पुस्तकाकार छप रहे हैं। कबीर पर भी नई दृष्टि से लेख और पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री ने प्रस्तुत पुस्तक में 'जयदेव और विद्यापति' पर एक सुन्दर तुलनात्मक लेख लिखा है जिसमें साहित्य की भावात्मक परीक्षा की परिपाटी ग्रहण की है। जानकीवल्लभ के निर्देशों को ध्यानपूर्वक देखने पर प्रकट होता है कि जयदेव और विद्यापति दोनों ही भाव-प्रधान कवि थे, कोई शृङ्गारी नहीं, जैसा कि कतिपय पूर्ववर्ती समीक्षक कहा करते थे।

इस प्रकार क्रमशः नई समालोचना नए साहित्यिक तथ्यों पर प्रकाश डाल रही है। वह केवल प्रभाववादी नहीं है, विश्लेषण-प्रधान और सैद्धान्तिक भी है। कोरी प्रभाववादी आलोचना सैद्धान्तिक नहीं हो

सकती। विश्लेषण केवल भावों या काव्य के अन्तरंगों (कल्पना आदि) का ही नहीं किया गया है, काव्य के वस्तु-संघटन और रचना कौशल आदि (technique) का भी किया गया है। जानकीवल्लभ जी ने 'रवीन्द्रनाथ की उपेक्षिता' शीर्षक लेख में काव्य के इसी वाह्य स्वरूप की मीमांसा की है। मैंने भी अपने 'साकेत' शीर्षक लेख में 'टेकनीक' का प्रश्न उठाया है।

संक्षेप में यही कार्य है जो नवीन समीक्षा ने किया है और अब भी करती जा रही है। ध्यान देने की बात यह है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही समयों के लेखक इस समीक्षा का पृथक्-पृथक् कारणों से विरोध कर रहे हैं। किन्तु अब यह समीक्षा अपनी शैली और अपने मापदण्डों का बहुत कुछ निर्माण कर चुकी है और अपने भविष्य के सम्बन्ध में विश्वस्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जानकी-वल्लभ जैसे संस्कृत साहित्य के अभ्युदयशील विद्वान आचार्य ने नई समीक्षा का पक्ष ग्रहण कर केवल उसकी श्रीवृद्धि ही नहीं की, 'पण्डितों' के प्रहारों से उसकी रक्षा भी कर ली है। इसके लिए नया साहित्य उनका कृतज्ञ रहेगा।

यह तो नहीं कह सकता कि मैं शास्त्री जी की सभी स्थापनाओं और उपपत्तियों से सहमत हूँ (कदाचित् ऐसा कहना नवीन साहित्य की स्वच्छन्दता का तिरस्कार करना होगा) किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि जहाँ कहीं मेरी व्यक्तिगत सम्मति भिन्न भी है वहाँ भी शास्त्री जी के सुसंगत विचारों का मैं सच्चे हृदय से सम्मान करता हूँ।

प्रसन्नता यह देखकर होती है कि जानकीवल्लभ जी चार सौ से

अधिक पृष्ठों की इस पुस्तक में बड़ी स्फूर्तिदायक शैली से नवीन साहित्यिक तथ्यों का निरूपण और नए विवेचन द्वारा उसकी पुष्टि करते चले गए हैं।

मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता जानकीवल्लभ जी का 'निराला की काव्यकला' प्रबंध पढ़कर हुई, जो इस पुस्तक का अंतिम अंश है। इसे पढ़ लेने के पश्चात् मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई है कि नवीन समीक्षा में और जोकुछ कमी हो, पांडित्य की कमी नहीं है जिसकी शिकायत समय-असमय सदैव होती रही है। मैं निराला जी की 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' शीर्षक रचनाओं को उनके पांडित्य की प्रदर्शक अवश्य मानता रहा हूँ और उनकी ओजस्विता तथा प्रशस्त वर्णना का कायल भी हूँ किन्तु मैं इन दोनों को उनकी श्रेष्ठतम रचना नहीं मानता था। काव्य की दृष्टि से 'स्मृति' 'संध्या सुंदरी' 'तरंगों के प्रति' 'सरोज-स्मृति' 'तुम और मैं' 'यमुना' 'जूही की कली' आदि अधिक सहज सौन्दर्यसम्पन्न कृतियाँ प्रतीत होती थीं। किन्तु जानकीवल्लभ जी ने उपर्युक्त दोनों रचनाओं का वैशिष्ट्य दिखाकर मुझमें एक नया ही विचारोत्तेजन उत्पन्न कर दिया है। औरों पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना न रहेगा।

जानकीवल्लभ जी की शैली में आत्मविश्वास की यथेष्ट मात्रा है। इसीलिए उनके निबन्धों में प्रभावोत्पादकता और स्फूर्ति भी असाधारण है। पांडित्य का प्रचुर संयोग होते हुए भी उनकी शैली में युवकोचित प्रवाह है और भारग्रस्तता का नाम भी नहीं।

मैं समीक्षा क्षेत्र की इस नवीन कृति का स्वागत करता हूँ। मुझे

यह स्वीकार करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है कि यह नवीन समीक्षा-साहित्य में प्रथम श्रेणी की रचना है और इससे नई समीक्षा को नया बल प्राप्त होगा। जानकीवल्लभ शास्त्री से नवीन हिन्दी को बहुत कुछ आशा है। उसकी पूर्ति के प्रमाण भी उनकी रचनाओं द्वारा उपस्थित होते जा रहे हैं।

मैं पुनः इस पुस्तक का सहर्ष स्वागत करता हूँ।

काशी
वसन्त पंचमी १९९९
९–२–'४३

—नन्ददुलारे वाजपेयी

डेढ़ दो साल पहले कवि 'दिनकर' की सत्सङ्गति से लाभ उठा कर 'हिन्दी काव्य की राष्ट्रीयधारा' शीर्षक लेख लिखा गया था। अगर वह अच्छा लगे तो उसका अधिकांश श्रेय उन्हें मिलना चाहिए।

एक आलोचक ने 'माधुरी' में श्री मैथिलीशरण गुप्त को व्यास-वाल्मीकि से बड़ा लिखा था, उसी के अप्रिय उत्तर के रूप में 'साकेत की ऊर्म्मिला' को मैंने 'चाँद' में छपाया था। अभी हाल में गुप्त जी से विशेष परिचय होने पर मैंने ऐसा अनुभव किया कि अब मुझसे उनके विरुद्ध लिखना कठिन है। यों मैंने उनसे सुस्पष्ट शब्दों में कहा कि मुझे 'साकेत' से 'यशोधरा' अधिक पसन्द है और उन्होंने यह कहते हुए मेरा पक्ष समर्थित किया कि श्री सुमित्रानन्दन पन्त की भी यही सम्मति है।

३५० वें पृष्ठ में भवभूति के ताण्डव का अर्थ शिव-परक छप गया है, देवी-परक है वह। अर्थ में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं, केवल शिव को शिवा समझना चाहिए।

ध्वनि

आज यह मेरा पाँचवाँ प्रकाशन आपके आगे है; अब आप चाहे इसे आँखों पर रक्खें, चाहे तनिक कोर से भी देखे बिना ही इसकी ओर से आँखें फेर लें। मुझे तो यही सुख है कि प्रभु ने प्रार्थी एवं अकिञ्चन जान जो कुछ भी प्रदान किया उसे मैंने जमीन में गाड़ कर नहीं छोड़ दिया। हाँ, यह दूसरी बात है कि उन्होंने मुझे इतना ही दिया अथवा मैं इतना ही पाने का अधिकारी समझा गया !

और, अपने आलोचकों से यही बात मै यों कह रहा हूँ कि मेरे सामने ज्ञान का अम्बुधि लहरें ले रहा था मगर मैं डूब जाने के डर से भीतर पैठा नहीं, यों ही किनारे से कुछ बँधे घोंघे और खुली सीपियाँ उठा लाया, सोचा, ये मेरे निर्मम बन्धु कम से कम इतना तो जान लें कि भीतर पैठने का साहस न रहने पर भी मैं समुद्र के किनारे तक अवश्य चला गया था !

रमना,
मुजफ्फरपुर
६-६-१९४२

जानकीवल्लभ



श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

साहित्य-दर्शन

साहित्य

सत्य मौन है, वाणी मुखर। सत्य नित्य निर्मल है, वाणी संस्कार-परिष्कार की अपेक्षा करने वाली! न मैं सर्व-शक्ति-शाली सत्य को 'मूक' कह रहा हूँ, और न संस्कृत-परिष्कृत वरेण्य वाणी को 'वावदूक',—वृथा प्रलापिनी। मेरा मतलब इतना ही है कि सत्य सर्वतः परिपूर्ण, परम प्रशान्त है, उसे कुछ भी कहना नहीं, इसलिए वह शब्द, वर्ण एवं वाणी से परे है, नीरव है, मौन है।

सत्य चिर-स्थिर, प्रकृति से मौन है, यह वहाँ अधिक स्पष्ट हो गया है, जहाँ सत्य ही के साथ-साथ आकाश को भी ब्रह्म बताया गया है। आकाश में आकर सब शब्द सो जाते हैं, वाणी पूर्ण विश्राम ग्रहण कर लेती है।

पर जिस प्रकार नित्य आत्मा की स्फूर्ति के लिए अनित्य शरीर की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी प्रकार नीरव सत्य की सत्ता को व्यक्त करने के लिए मुखर वाणी को महत्ता भी माननी पड़ती है। क्योंकि रूप का आश्रय ग्रहण किए विना आत्मा पृथक् से प्रतिभासित नहीं हो सकती, [स ईक्षां चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति। स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्] और वाणी के विना सत्य का स्पष्टीकरण भी असम्भव है। इसलिए कहा जा सकता है कि

'अधिक से अधिक सत्य' को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील महामनस्वियों की पवित्र तथा परिष्कृत वाणी ही का नाम साहित्य है।

सत्य स्वयं नीरव है। जब हम उसे वाणी का रूप देना, वर्णों में व्यञ्जित करना चाहते हैं, हमें तत्क्षण भाँति भाँति की इङ्गित-चेष्टाओं, ऊँची-नीची वहुविध कल्पनाओं का अवलम्बन करना पड़ता है। और तब मेल-मिलाप हो चुकने पर वह विशुद्ध स्वरूप से कभी भी प्रकट नहीं हो पाता। अतएव विश्व-साहित्य के अखिल-निखिल निर्माताओं—ऋषि-महर्षियों से लेकर अति आधुनिकों तक की उक्ति-प्रत्युक्तियाँ 'केवल सत्य' ही नहीं हैं। सत्य को सम्पूर्ण रूप से कभी भी व्यक्त नहीं किया जा सकता। [मानसिक वेदना को शब्दों में प्रकट करने के दुःसाहस को एक अनुभूतिशील-हृदय ने पाप कह कर सत्य के सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हो सकने की कितनी मार्मिक व्याख्या की है!—

I sometimes hold it half a sin
To put in words the grief I feel,
For words, like nature, half reveal
And half conceal the truth within.]

कल्पना करें कि सूर्य्य सत्य है। पर सूर्य्य अपने सम्पूर्ण स्वरूप से कभी भी दिखलाई नहीं पड़ता। हाँ, यह ठीक है कि उसका जितना भी अंश दीख पड़ता है, उसे हम सूर्य्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते। उसी प्रकार उदात्त तथा अलङ्कृत

वाणी (साहित्य) के भीतर से जिस सत्य की बाँकी झाँकी हमें मिलती है, वह सम्पूर्ण न होने पर भी सत्य से पृथक् और कुछ नहीं। इसलिए उसे 'अधिक से अधिक सत्य' कहना उचित होगा। उसे मिथ्या तो किसी प्रकार भी नहीं कह सकते।

हम अपनी स्वाभाविक दृष्टि से सूर्य्य को जिस आकार-प्रकार में देखते हैं, यह तो सभी जानते हैं कि उसका दिखलाई पड़ने वाला अंश भी उससे बहुत बड़ा है। पर अपनी संयत दृष्टि-शक्ति के कारण अक्षम हो हम उसके वृहत् स्वरूप की कल्पना ही कर रह जाते हैं। वैज्ञानिक ग्रह-वेध-यन्त्र (Astronomical Teliscope) की सहायता से हमारी अपेक्षा उसे अधिक बड़े रूप में देख कर, उससे भी अधिक विराट् स्वरूप की कल्पना करता है। कहने का मतलब यह है कि हम अपनी शक्ति भर सत्य-सूर्य्य को देखने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ तक हमारी दृष्टि-शक्ति मदद देती है, Teliscope का Magnifying power जितनी दूर तक प्रसार प्राप्त करता है, हम सत्य-सूर्य्य को उसी अनुपात से छोटा या बड़ा देखते हैं। यह ऐसा छोटा या बड़ा देखना 'मिथ्या-दर्शन' नहीं हो सकता। यह हमारा 'अधिक से अधिक सत्य' देखना ही कहा जा सकता है।

सत्य एक है। कल्पना-जल्पना की अनेकता के कारण, उसी के माध्यम से प्रकाश पाने वाला वह एक ही अनेक प्रतीत होता है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' ऐसी प्रतीति आपाततः होती है। यह हमारी सहज प्रकृति है कि हम सत्य को

छोटा नहीं मान सकते। उसे महान् से भी महीयान् देखना चाहते हैं, देखने का उद्यम करते हैं। जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, जब हमारी दृष्टि या यंत्र की नियमित शक्ति जवाब दे देती है, हम कल्पना द्वारा उसके अधूरेपन की दरारें भर लेते हैं। हमारी कल्पना-शक्ति जितनी ही तीव्र या उग्र होगी, हम उससे उतनी ही तृप्ति प्राप्त कर सकेंगे। विभिन्न-मस्तिष्क की विभिन्न कल्पनाओं के कारण, साहित्य में या सर्वत्र ही विभिन्नता-विविधता दृष्टिगत होती है। निश्चय ही कल्पनाओं के मिश्रण से सत्य का विशुद्ध स्वरूप व्यक्त नहीं हो पाता पर उसकी विशुद्ध अभिव्यक्ति के लिए दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। सत्य एक है, पर अभिव्यक्ति एक ही प्रकार की नहीं हो सकती। एक वसंत में एक ही कली नहीं चटक सकती। एक आकाश में एक ही तारा नहीं टिमटिमा सकता। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि विविध भाव-भङ्गियों, कल्पना-जल्पनाओं द्वारा एक ही सत्य की अभिव्यक्ति (expression) का अनवरत उद्योग जारी है। "विज्ञानमेकं निज-कर्म-भेद-विभिन्न-चित्तै र्बहुधाऽभ्युपेतम्।" विविध वाणियों में स्फुट सत्य-प्रकाशन का यही उदात्त उद्वेग साहित्य है।

सत्य ही ज्ञान है। सत्य ही आनन्द है। सत्य, ज्ञान या आनन्द ही साहित्य है। जब-जब हमें सत्य के अन्वेषण की आकाङ्क्षा, ज्ञान के अर्जन की कामना, या आनन्द-लाभ की लालसा होगी, तभी-तभी हमारे सामने चाँदनी से धुले, खुले

छाया-पथ, वीचि-रहित ज्योतिः समुद्र या सलील-सलिल रस-सरोवर के रूप में साहित्य समुपस्थित होगा। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि साहित्य का माध्यम ग्रहण किए बिना सत्य, ज्ञान या आनन्द का साधारणीकरण नहीं हो सकता।

एक बात और। जैसे लाल-गुलाबी कोंपलों, हरित-पीत बौरों के सौन्दर्य्यभार से झुकी, कोयल की कूक, भौंरों के मञ्जु गुञ्जन से सिहरी अमराइयों में वसन्त-प्रकृति की छाया-छवि के दर्शन होते हैं; और जैसे 'धूम-धुआँरे काजर-कारे' मँडलाते बादलों वाले आसमान से रिमझिम-रिमझिम बरसती नन्हीं-नन्हीं बूँदों में सरस पावस का परस पाते हैं; उसी प्रकार हमें साहित्य ही के भीतर से सत्य, ज्ञान या आनन्द की अनायास उपलब्धि होती है। वसन्त को कोई नहीं देखता, पावस को भी नहीं, यानी वह नहीं देखा जा सकता। वह अरूप है, अमूर्त्त है। लहलहाती हुई अमराइयों, या मिट्टी पर मोती बिखेरती हुई फुहियों को देख कर ही हमें सुख-सन्तोष की साँसें लेनी पड़ेंगी। क्योंकि इनसे बढ़ कर रूपहीन वसन्त या पावस के अनुरूप और किसी भी सुन्दर स्वरूप की सम्भावना नहीं। अरूप सत्य, ज्ञान या आनन्द के अनुरूप निर्मित रूप ही का नाम साहित्य है।

'साहित्य' शब्द अपने में इतना अधिक पूर्ण है कि किसी भी दूसरे शब्द या वाक्य-विस्तार द्वारा हम उसके सम्पूर्ण अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकते। साहित्य अर्थात् चिर-परिपूर्णता,

राहित्य (अभाव) का राहित्य (अभाव) मात्र नहीं। इस ऐसे 'पूर्ण' को दूसरे-दूसरे अपूर्ण वर्ण कैसे व्यक्त कर सकते हैं ?

साहित्य आत्म-तृप्ति का उद्दाम उच्छ्वास है। जिसे पाकर हम झूम-झूम जाते, मस्ती की अलस अँगड़ाइयाँ लेने लगते हैं, कैसे विश्वास हो, उससे और किसी का कुछ नहीं होगा ? हमने तो अपने सङ्कुचित स्वार्थ का साथ नहीं किया, फिर हमारी तृप्ति हमारे ही दायरे में क्यों घिर कर रह जाय? लोक मङ्गल की ऐसी ही भव्य भावना से भर कर साहित्यकार आत्म-सुधा को साफ-सुथरी बोली की रुपहली-सुनहली प्यालियों में ढाल देता, उँड़ेल देता है।

जिसे हमने बहुत दिनों बाद जाना, पहचाना, जिसे हमने अपने को खोकर पाया, उसे विश्व से क्यों न परिचित करा दें ? उसे प्यासे संसार को क्यों न सौंप दें ? हम अपने स्वर को क्यों न विश्व-सङ्गीत से मिला दें ? क्या परिचय या प्राप्ति ही के समान अर्पण या त्याग में तृप्ति नहीं ?

इतना तो हमीं ने पहचाना है, इसे तो हमीं ने पाया है, तुम इसे अनायास देख सकते हो, देखलो, लेलो, फिर आगे बढ़ो, बढ़ते जाओ, अभी तो बहुत दूर जाना है, तुम भी यहीं, इसी के आस-पास, भटकते मत रह जाओ, हम तुम्हारे लिए इतनी सुविधा, इतना अवसर देकर ही तृप्त हो सकेंगे, और सच से बढ़ कर सच तो यह कि इस अपनी पहचान को, अपनी प्राप्ति को, हम अपने ही साथ नहीं ले जा सकते, यह तुम्हारी

है, इसे हमने तुम्हारे लिए ढूँढ़ा था,—आत्म-तृप्ति का यह ऐसा स्वाभाविक उच्छ्वास ही साहित्य है।

साहित्य एक अनुभूति है। विशाल विश्व से हिलमिल कर जो कुछ समझा, प्रकृति की सजीव श्री-सुषमा को अन्तः स्तिमित नेत्रों से जैसा देखा, उसी की एक-एक रश्मि-रेखा साहित्य के स्वच्छ पृष्ठों पर अङ्कित है।

विश्व-वीणा के तारों में बँधी हुई मुक्त झंकारें हमारे सूने-सूने सोए-सोए कर्ण-कुहरों को भर चुकीं; उछलती-पिछलती, किलकती-ढुलकती सातों सुरों की रिमझिम हमारे धूसर-धूमिल, चिर-मरु प्राणों को पोंछ गई, सींच गई। हमने सत्य को हँस-हँस कर उज्ज्वल प्रकाश में देखा, सौन्दर्य्य को सिहर-सिहर कर छुआ।

हमने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन के तरङ्गाघातों से आकुल-व्याकुल, तीखी धार की चौड़ी छाती चीर कर बहती, किनारे पहुँची, मझधार में चक्कर काटती, जीवन की राशि-राशि तरियाँ अपनी आँखों देखीं, खुल-खुल कर खुली धूप की आँच सही, छुप-छुप कर छुई-मुई-सी छहियाँ छुई, हम कोरी कहानी नहीं कह रहे, यह तो हमारी आपबीती है।

पहले हम भी अपनी ही परिछाईं से घिर कर खड़े थे, डर रहे थे। वाह्य विश्व-प्रकृति से हमारा कोई अपना—रागात्मक सम्बन्ध न था। हमें अपनापन और स्वार्थ-सङ्कोच में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं मालूम पड़ता था। हम स्वप्न

तो देखते थे, पर केवल जड़ता के, अन्धकार के। आसमान में पूनो का चाँद तब भी उगता था, पर हममें चाँदनी की चारुता का पान करने की चकोर जैसी क्षमता न थी। हम जीवित थे पर सजीव नहीं, जगे थे लेकिन सजग नहीं। अकस्मात् एक दिन स्वर्ण-किरण के एक हल्के से झिटके ने आगे के कुहरे का पर्दा हटा दिया। एक अपूर्व अज्ञात ज्योति जाने कैसे हमारे शरीर की तन्द्रा मेटती, प्राणों को पुलकित करती पास पहुँची।

["की जानि की होलो आजि, जागिया उठिल प्राण
दूर हते शुनि येन महासागरेर गान !"

* * *

"आजि ए प्रभाते रविर कर
केमने पशिल प्राणेर पर !"]

हमने अपने को पहलीबार आरपार देखा, सिर से पैर तक पहचाना, और तभी तुम्हें—समग्र विश्व को भी पहचान लिया। सचमुच ही तुम हमसे अलग न थे, फिर पहचानते देर क्यों लगती? [हमें मालूम हुआ—विश्व का प्रत्येक प्राणी एक ही धागे में गुँथा है, एक ही अनुशासन का अनुवर्त्तन करता है, प्रत्येक में एक ही आत्मा का अधिवास है—

Each breathing thing obeys one mind's control,
And in all substances is a single soul.]

तभी तो तुम भी हमारी खुशी में शरीक होकर हँसोगे, दुख में घुलकर रोओगे! विश्वास नहीं होता? तो साँसों के सुख-

स्पर्श समीर से खुले, हमारे नव-प्रकाश-धार में धुले प्राणों के पृष्ठों को पढ़ देखो। वहाँ किसी से सुनी-सुनाई रूखी-सूखी सीखें नहीं, हमारे ही होंठों की हँसी, हमारी ही आँखों के आँसू, हमारे ही हृदय का स्पर्श, हमारे ही प्राणों की पहचान— साहित्य है।

साहित्य एक सन्देश है जिसे सुने विना तुम बहरे हो। साहित्य एक अलौकिक सौन्दर्य्य है जिसे देखे बगैर तुम अंधे हो। साहित्य एक चेतना है जिसे न पाकर तुम जीवन्मृत हो। साहित्य एक साधना है जिसे अपनाकर तुम पशु-श्रेणी से ऊपर उठकर मानव का परम-पद प्राप्त कर सकते हो। साहित्य एक ऐसे दीन-हीन निःस्व-भिक्षुक का उदार सर्वस्व - दान है जिसे पाकर यदि तुम रंक हो तो राजा हो सकते हो, राजा हो तो सम्राट् बन सकते हो।

साहित्य में सिर्फ आसमान-जमीन, ग्रह-नक्षत्र, गिरि-कन्दर, झाड़-झंखाड़, कोयल-बुलबुल, समुद्र-सरित, बादल-बिजली, चित्र-संगीत, समाज-राजनीति, दर्शन-विज्ञान, भूगोल-खगोल, दानव-मानव, शेक्सपियर-मिल्टन, कालिदास-भवभूति, बुद्ध-शङ्कराचार्य्य, क्राइस्ट-सोक्रेटिज, शेली-ब्राउनिंग, पन्त-निराला, रवीन्द्र-नजरुल, अकबर-इकबाल, क्रोध-ईर्ष्या, दम्भ-द्वेष, लोभ-मोह, जीवन मरण, श्वास-उच्छ्वास, प्रेम-विरह, यह दृश्यमान विश्व, या वह स्वप्न-संगी स्वर्ग ही नहीं, और कुछ, बहुत कुछ, सब कुछ है। हाँ तो, वह जो अखिल-निखिल,

समग्र-सम्पूर्ण है,– वही साहित्य है ।

राशीकृत ज्ञान, पुञ्जीभूत शाश्वत सत्य, सञ्चित मानस-रस, उद्वेलित आनन्द, लोकोत्तर प्रतिभा-प्रकाश, प्राणों के पालने पर हौले-हौले पैंगें भरती सौन्दर्य्य की सजीव प्रतिमा ही तो साहित्य है। वह जो देह में हृदय, हृदय में प्राण, और प्राणों में स्पन्दन है; वह जो साँस में स्वर, स्वर में राग, और राग में मदिर-मधुर मूर्च्छनामय सङ्गीत है; वह जो स्वप्निल-कल्पना में भाव, भाव में रूप, रूप में रंग और रंग में चेतन-लावण्य. सुनहला पानी है, वहाँ सत्य-सौन्दर्य्य का मङ्गलमय स्पर्श है, रहस्य है, उसी को साहित्य कहते हैं ।

साहित्य सृष्टि ही नहीं स्वयं स्रष्टा भी है। इसी लिए कहा जाता है कि हमें चाहे मेट दो, हमारे नगर-प्रान्त, देश-राष्ट्र सबका सत्यानाश कर दो, पर हमारा साहित्य मत छुओ, उसे ज्यों का त्यों रहने दो, हम उसकी सञ्जीविनी सुधा पीकर फिर से जी उठेंगे, अमर हो जायँगे। उसकी स्वर्गीय प्रभा प्राप्त कर हमारा देश, हमारा राष्ट्र फिर से जगमगा उठेगा। क्योंकि हमारा साहित्य ही हमारी संस्कृति है, प्राण है, हमारा 'हमारापन' है। उसीके कारण हम अपनी मौलिक विशेषता की ओर इङ्गित करते हैं; उसके बिना हमारा अपना अस्तित्व शेष नहीं रह सकता। और इसीलिए मैं साहस के साथ प्रान्त, देश और राष्ट्र सब की परिधि पार कर, सब की संयत सीमा से आगे– बहुत दूर आगे बढ़कर इस विशाल विश्व ही का

विनाश करने के लिए दुष्ट-दुरन्त दैत्य-दानवों को ललकारता हूँ, चैलेंज करताहूँ,— सिर्फ एक शर्त पर कि वह इसके साहित्य की ओर अपनी ज्वलन्त ज्वालामुखी दृष्टि न डालें; अपनी आकुञ्चित उँगली न उठाएँ। बस, फिर मैं अशेष आशा और विश्वास के साथ कह सकूँगा कि वह आँखें फाड़-फाड़ कर देखें, कैसे उस तामस प्रलय जल-प्लावन पर सात्विक साहित्य का स्वर्णिम सहस्रदल प्राची-नभोमण्डल की ओर उन्मुख-उद्ग्रीव हो, एक-एक कर अपने सकल दल खोलता है। कैसे उसके परिमलमय प्रत्येक दल के जादू से आप ही आप खिँच-खिँच कर अज्ञात-अदृष्ट राशि-राशि भूले भौंरों की भीर गुन-गुन करती, मँड़लाती आती है। और तभी उन्हें भली भाँति मालूम हो जायगा कि साहित्य यह या वह नहीं—सब कुछ है। वह महज किसी की सृष्टि ही नहीं, स्वयं एक आदर्श स्रष्टा भी है।

मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि साहित्य सत्य, ज्ञान (शिव) तथा आनन्द (सुन्दर) का असम समीकरण है। सत्य, ज्ञान या आनन्द नश्वर नहीं, चिरन्तन है; शाश्वत है। फिर जो सत् (सत्य) है, उसका अभाव, उसका नाश कैसे हो सकता है?

—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

एप्रिल '३८



काव्य-साहित्य

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए जिसने पहले पहल तर्क और युक्तियों का आश्रय लिया, मै कहना चाहता हूँ, नास्तिकता का प्रथम प्रचारक भी उसे ही मानना ठीक होगा।

आए दिन शूद्रजाति के भीतर की बहुत सी उपजातियाँ अपने को ब्राह्मण या क्षत्रिय सिद्ध करने के लिए एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर रही हैं। परन्तु विचार करने पर यह सुस्पष्ट प्रतीत होगा कि इस प्रकार की सिद्धि के लिए किए जाने वाले उनके प्रयत्न ही असिद्धि के विज्ञापक बन बैठे हैं। मैं नहीं समझता, जो सचमुच ही ब्राह्मण है उसे अपने को ब्राह्मण 'सिद्ध' करने की कभी भी क्यों जरूरत पड़ेगी? जानबूझ कर या अनजानते, किसी भी दशा में आग में उँगली डालने पर वह जरूर जलेगी, अग्नि को अपने अग्नित्व की सिद्धि के लिए पृथक् प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं।

मेरा सङ्केत "तर्कोऽप्रतिष्ठः" की ओर है। चाहे कितने भी प्रबल तर्क किसी पक्ष की पुष्टि के लिए क्यों न पेश किए जायँ, मौलिक चिन्तनशील व्यक्ति उनके विरुद्ध, उतने ही प्रबल तर्क-प्रमाण उपस्थित कर देगा। इसीलिए उपनिषद् ने साफ शब्दों में कह दिया—'नैषा तर्केण मतिरापनेया।' तर्क के द्वारा 'उसे' कभी नहीं पाया जा सकता। ऐसी दशा में, यदि ईश्वर के लिए दिए हुए प्रमाण भी अखण्डनीय नहीं हो सके तो विश्व

की अन्य किसी वस्तु के बारे में क्या कुछ कहा जाय? अस्तु।

ज्ञान-ज्योति के स्तर पर स्तर पार कर जाने वाले महा-मानवों के जिन चरण-चिह्नों को 'साहित्य' नाम से पुकारा जाता है; मननशील मानवजाति की कल्पित-अनुभूत ज्ञानराशि के सङ्कलित सम्पूर्णांश को जिस शब्द के माध्यम से प्रकट किया जाता है, उसकी सिद्धि जभी 'सहित' शब्द में 'ष्यञ्' प्रत्यय जोड़ कर करने की नौबत आगई, यह निश्चय हो गया कि तथा-कथित शूद्र वर्ण की ही भाँति अब इन तीन वर्णों—साहित्य—में भी ब्राह्मणत्व की गुंजाइश नहीं रही। व्याकरण के डिक्टेटर ने जबर्दस्त 'विग्रह' कर इनकी असलियत ही हड़प ली।

साहित्य शब्द काव्यपरक हो गया। बड़ी उदारता हुई तो उससे काव्य का आलोचनात्मक भाग—अलङ्कार शास्त्र भी लिया गया। जो साहित्य शब्द अर्थ के उस अनन्त आकाश में प्रतिष्ठित था कि उसकी सीमा की कल्पना भी दिग्भ्रम उत्पन्न करने वाली जान पड़ती थी, उसे ही काव्य के घेरे में डाल कर साफ-साफ समझा दिया गया कि 'जिघ्रतीति व्याघ्रः', यानी सूँघने वाले को शेर कहते हैं की तरह ही 'सहितस्य भावः साहित्यम्' भी वैयाकरणकेसरी का अनर्थकारी विग्रह मात्र है। मगर फिर भी रूढ़ि टल जाने वाली बला नहीं। उसे अन्ध-विश्वास का ही सभ्य रूप समझना चाहिए। आज साहित्य शब्द की दौड़ काव्यार्थ के दायरे के बाहर नहीं।

ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व के भरत मुनि से लेकर सत्रहवीं

शताब्दी के पण्डितराज जगन्नाथ तक संस्कृत में जितने भी साहित्यिक हुए, सब इसी सुर पर बजते रहे ।

महाकवि बिल्हण ने अपने विक्रमाङ्कदेवचरित में—

"साहित्य - पाथोनिधि - मन्थनोत्थं
कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः !"

अथवा भर्तृहरि ने नीतिशतक में—

"साहित्य - संगीत - कला - विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः ।"

इसी सङ्कुचित अर्थ में लिखा ।

ईसा की दसवीं शताब्दी में राजशेखर नामक एक बहुत बड़े विद्वान् हुए थे। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से साहित्य की मौलिक समीक्षा की है, संस्कृत-साहित्य की। उनके विचार अनेक स्थलों पर अत्यन्त नवीन, अत्याधुनिक हैं; 'प्रगतिशील' नहीं, दृढ़, स्थिर, विश्वजनीन । उन्होंने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में कौटिल्य के मत के अनुसार चार विद्याएँ बतलाई हैं,—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति । और पाँचवीं विद्या साहित्य को कहा है, जिसमें पूर्वोक्त चारों विद्याओं का सार रहता है; जो सब विद्याओं का सार, तत्व होने से सर्वश्रेष्ठ है ।

किन्तु मेरा विश्वास है, विद्या और अविद्या के अतिरिक्त तृतीय भेद की कल्पना अनावश्यक है । दण्डनीति, जिसे आज कल राजनीति या Politics कहते हैं, अर्थशास्त्र, जिसे Economics कहते हैं, और Civics जिसे नागरिक-शास्त्र कहा जाता है, अविद्या ही के अन्तर्गत हैं, विद्या के कदापि नहीं ।

विद्या सत्य-ज्ञान की उपदेशिका होती है, लौकिक संधि-विग्रह के, लड़ाई-झगड़ों के 'ट्रिक्स' सिखलाने वाली नहीं। विद्या तो वह है जिसे जानने के बाद फिर कुछ जानना बाकी न रहे। 'यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते।' जिसे जान कर शाश्वत शान्ति प्राप्त हो।

गुरु-पुरोहितों द्वारा राजनीति की शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर प्रह्लाद ने अपने पिता से कहा था—

"साम चोपप्रदानं च भेददण्डौ तथा परौ,
उपायाः कथिताः सर्वे मित्रादीनां च साधने
तानेवाहं न पश्यामि मित्रादींस्तात मा क्रुधः
साध्याभावे महाबाहो! साधनैः किं प्रयोजनम्?
त्वय्यस्ति भगवान् विष्णुर्मयि चान्यत्र चास्ति सः
यतस्ततोऽयं मित्रं मे शत्रुश्चेति पृथक् कुतः!
तदेभिरलमत्यर्थं दुष्टारम्भोक्तिविस्तरैः
अविद्यान्तर्गतैर्यत्नः कर्त्तव्यस्तात! शोभने।

मैंने राजनीति का अध्ययन तो अच्छी तरह से किया, पर सोचने-विचारने, मनन-चिन्तन करने पर वह मुझे कुछ जँची नहीं। यह जो साम, दाम आदि नीतियाँ हैं, सो यथासमय मित्र एवं शत्रु को साधने की नीयत से निर्मित हुई जान पड़ती हैं, किन्तु पिताजी! आप मुझ पर नाराज न हों, मुझे तो इस अखिल-निखिल चराचर में कोई मित्र या शत्रु मालूम ही नहीं पड़ता। फिर जब शत्रु-मित्र का ही अभाव है, तो इस नीति को सीख कर क्या होगा? आपमें जो शक्ति कार्य्य कर

रही है, वही मुझमें तथा औरों में भी है, फिर उस एकही शक्ति से सञ्चालित इस विश्व में कोई किसी का मित्र या शत्रु कैसे हो सकता है ? इसलिए आप कृपा कर इस अविद्या के अन्दर की दुष्ट शिक्षा से मुझे बचावें। मनुष्य को विद्या पढ़नी चाहिए, अविद्या कदापि नहीं।"

कालिदास ने भी शकुन्तला में इसी विद्या (?) को "दूसरों को धोका देने वाली", साफ शब्दों में "फरेबी" कहा है—"पराभिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः।" आज इसी अविद्या के चक्कर में पड़ कर लोग ध्वस्त-नष्ट हो रहे हैं। वकील-बैरिष्टर, मामले-मुकद्दमे, खून-खर्राटे, दंगे-हंगामे—सब इसी बिल से निकले हुए विषधर हैं। कोई उन पैसों के प्यासों से मानसिक शान्ति की बाबत पूछ देखे, सब ठंडी-गरम साँस छोड़ते नजर आयँगे। फिर जिस विद्या से शान्ति-सुख की तनिक भी आशा नहीं, उसे 'विद्या' कहना अविद्या का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो और क्या है ? आज विद्या के नाम पर विद्यार्थीगण यही अविद्या पढ़ने, अहोरात्र पैसा-पैसा पुकारते हुए कुत्सित से कुत्सित कर्म करने पर तुले हुए हैं। विश्व की वर्तमान अशान्ति, क्षोभ और हाहाकार का कारण यही एकमात्र अविद्या है।

"विद्याबुद्धिरविद्यायामज्ञानात्तात जायते
बालोऽग्निं किंन खद्योतमसुरेश्वर मन्यते
तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये
आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्पकौशलम्।"

प्रह्लाद की उक्ति है कि अज्ञान के कारण अविद्या को भी लोग

विद्या कहने लगते हैं, जैसे बच्चे जुगनू को चिनगारी समझते हैं। पर वस्तुतः कर्म तो वह है जो फँसाने वाला, कब्जे में करने वाला, दुनिया में घूम-घूम कर रोटी-रोटी चिल्लाने वाला नहीं हो। और, विद्या भी वही है जो आत्यन्तिक सुख-शान्ति की जननी हो, परम तृप्ति-प्रदायिनी हो। इसके अतिरिक्त और सब कार्य्य केवल परिश्रम के लिए; और सभी विद्याएँ शिल्प या हुनर के लिए; रोटी कमाने, कुत्ते की तरह झपट कर खाने, एक को सता कर छन भर खुश होने की सीख देने भर के लिए हैं।

विद्या केवल अध्यात्म-विद्या है। वही आत्मज्ञानपूर्वक लोक-मंगल की सीख देती है। इस कार्य के सहायक उसके जितने अंग-उपांग हैं, उन्हें भी विद्या कहना ठीक होगा। इस दृष्टि से साहित्य ही उसका सर्वश्रेष्ठ सहायक सिद्ध होगा। क्योंकि जिस तत्त्व को अध्यात्म (वेदान्त) अनुशासन द्वारा सिखलाता है, उसे साहित्य बड़ी ही आसानी से शनैः शनैः सर्वप्रिय एवं सर्वजन-संवेद्य बना देता है। ऐसा मृदु-स्वभाव तथा सरस हृदय होने के कारण साहित्य स्वयं ही दर्शन से अधिक प्रिय और उपयोगी सिद्ध होता है। क्योंकि नीरस या कटु कह कर जो लोग दर्शन-शास्त्र की उपेक्षा कर देते हैं, वही इसकी रमणीयता पर सौ जानों से निछावर हो जाते हैं। और उन्हें अनायास वही तत्त्व प्राप्त होते हैं, जिन्हें दर्शन के गंभीर-अध्ययन से ही पाया जा सकता है। जो प्यार से सत्य की सीख दे सकता है, उसके

समस्त नीरस अनुशासन को महत्व देना, समाज के लिए डिक्टेटरशिप या गुरुडम की पीठ ठोंकना जैसा है। हाँ, यह सीख देने की बात भी केवल भारतीय नहीं, पाश्चात्यों में भी पूर्णतया प्रचलित है। वर्ड्सवर्थ ने प्रत्येक महान् कवि को उपदेशक कहा है। उसने स्वयं उपदेशक कहलाने की अत्युत्कट आकाङ्क्षा प्रकट की है। Every great poet is a teacher: I wish to be either considered as a teacher or as nothing at all.

राजशेखर ने साहित्य-विद्या की परिभाषा की है—"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या।" अभिप्राय यह कि और और शास्त्रों में केवल विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही शब्द प्रयुक्त होते हैं—वहाँ अर्थ के समक्ष शब्दों का कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। किन्तु साहित्य में वैसी बात नहीं। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों को बहुमूल्य होना चाहिए। दोनों का बैलेंस बराबर रहना चाहिए। इसीलिए इसे साहित्य कहते हैं। "न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थे शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र योगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्।"

इस प्रकार साहित्य का अर्थ 'काव्य' इन्होंने भी माना है। अलंकार शास्त्र के आदि-आचार्य भामह, (ई० ५०० के लगभग) सुप्रसिद्ध काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट-भट्ट, (नवीं शताब्दी) वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तल (ई० ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग)

आदि अनेक आचार्यों ने भी अपने-अपने काव्यलक्षणों में 'शब्द और अर्थ' पर जोर देते हुए इसी आशय को पुष्टि की है। (१) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (काव्यालंकार); (२) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (काव्यप्रकाश); (३) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि, बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि (वक्रोक्तिजीवित)।

एक समय था जब शत-शत वर्षों तक सत्य के अन्वेषणार्थ तपस्या में लीन रहना अनावश्यक अथवा असम्भव नहीं होता था। वह युग ज्ञान-पिपासा का था। सबों का ध्रुवलक्ष्य सत्य-तत्त्व प्राप्त करना होता था। अनेक ऋषि-महर्षि उसी ज्ञान-युग की देन थे। उसी समय वेद का साक्षात्कार हुआ। वेद का अर्थ 'ज्ञान' है। कालक्रम से तपस्साधना में नीरसता की अनुभूति होने लगी। ज्ञान-भूमि कुछ और निम्न स्तर पर आई। वेद रूपकों द्वारा समझाए गए। यह पुराणों का काल था। अरूप की कल्पना दुरूह तथा दुर्बोध हो गई थी, इतनी कि राम और कृष्ण रूप की पराकाष्ठा पर पहुँचा कर निर्मित हुए। लिखा है कि—

"वीर्य्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च,
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः
यथाऽसौ कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः,
वेदव्यासाभिधाना तु सा च मूर्त्तिर्मधुद्विषः।

मनुष्यों के बल-वीर्य्य-तेज-आयु—सब में न्यूनता देख कर लोक-हितैषणा से वेद में भेद किए गए। एक ही वेद (ज्ञान) का व्यास

(पृथक्-पृथक् विभाजन) करने के कारण स्वयं भगवान् वेद-व्यास कहलाए।" "कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्, को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद्भवेत् ? अर्थात् कृष्णद्वैपायन व्यास को नारायण ही समझना चाहिए। नहीं तो इस पृथ्वी में ऐसा कौन है जो महाभारत का निर्माण करे?" इसी विषय को वृहदारण्यक में यों लिखा है--"स यथार्द्रैधाग्नेः अभ्याहितात् पृथक् धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणंविद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।"

इसके बाद मानसिक ह्रास, चारित्रिक पतन अनुदिन वृद्धि पर रहा। तत्त्वदर्शियों द्वारा उससे भी सुलभ सुगम मार्ग का अन्वेषण हुआ। वही काव्य-साहित्य कहलाया। कहने का अभिप्राय यह कि प्रत्येक युग के प्रतिनिधि महामानवों द्वारा उपदिष्ट एक ही सत्य कभी वेद, कभी इतिहास-पुराण और कभी काव्य के नाम से घोषित हुआ। ज्यों-ज्यों मनुष्य-समाज में साधना, तपस्या तथा तज्जन्य ज्ञान की न्यूनता दृष्टिगत होने लगी, त्यों-त्यों उसे सजग, उद्बुद्ध करने के लिए सरल से सरलतर पद्धति द्वारा ज्ञानोपदेश दिया गया। वेद में जो ज्ञान या दर्शन है, वही पुराणों में स्थूल उदाहरणों से उपबृंहित हुआ है। वेद और पुराण में वास्तविक भेद कुछ नहीं है। काव्य की भी यही दशा है। काव्य के द्वारा जो तत्त्व बतलाया

जाता है, वह श्रुति-स्मृति की पद्धति से पृथक् नहीं। केवल शैली की विशेषता सत्य के सम-प्रकार को विभिन्न नाम दे देती है। वेद से तुलसीदास तक एक ही तत्त्व अनेक भङ्गियों से बतलाया गया है।

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यंकलासुच
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधु काव्य निषेवणम्।" का यही रहस्य है
"कटक मुकुटकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम्,
सुरपशुमनुजादिकल्पनाभिर्हरिरखिलाभिरुदीर्य्यते तथैकः

अर्थात् जिस प्रकार सुवर्ण भेद-रहित तथा एक होकर भी कटक, मुकुट तथा कर्णिका आदि के भेद से नानारूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही हरि देवता, मनुष्य, पशु आदि अखिल-निखिल कल्पनाओं द्वारा निर्दिष्ट होता है।" ठीक वैसे ही, एक ही सत्य-तत्त्व वेद-पुराण, दर्शन और काव्य आदि नाम तथा पदवी से युक्त भिन्न प्रतीत होता है। प्रत्येक ज्ञानी का कार्य, जनता को मोह अज्ञान से ऊपर उठाना होता है। सत्य का दान ही कवि तथा कलाकार का उद्देश्य है। इसलिए वह समयानुसार परिवर्तित होनेवाली लोकरुचि के अनुकूल, सत्य को नाना रूपों, रंगों के भीतर से आकर्षक बनाकर पेश करता है। इसलिए सृष्टि के आरम्भ में, ज्ञान के प्रथम आलोक के समय अनादि कवि ने जिस प्रकार यथायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया था; यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार कर्त्तव्य पदार्थों का याथातथ्य विधान किया था,

"स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम्, अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः, याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः
समाभ्यः।"

उसी प्रकार प्रत्येक काव्य-कर्त्ता अर्थात् कवि को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सत्य-असत्य, ग्राह्य-त्याज्य का विभाग कर लोक को सत्पथ पर प्रवृत्त करना होगा। फलतः जो शुद्ध-चित्त, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, आत्मदर्शी, सममति नहीं है, वह कदापि कवि कहलाने का अधिकारी नहीं। वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और सूरदास, मीरा और कबीर आदि ने जो कुछ भी काव्य रूप से कहा, वह वेद, पुराण अथवा चिरंतन सत्य-तत्त्व का ही नवीन संस्करण है। उसे ही आदर्श अथवा साधु-काव्य कहना चाहिए। इस प्रकार वेद-पुराण के ही उच्च-उदात्त तत्वों को सरससंगीतमय रूप से गानेवाला 'काव्य-साहित्य' समयानुसार स्वयं सर्वप्रिय एवं सर्वश्रेष्ठ बन बैठा है।

अंग्रेजी में साहित्य का समानार्थक Literature समझा जाता है। हिन्दी, बंगला वगैरह में भी इसी Literature की देखा-देखी अब बड़े व्यापक अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग होने लगा है। पर वस्तुतः वह प्रयोग (Experiment) मात्र ही है। कारण, अंग्रेजी में Literature का व्यवहार तो "साहित्य" के अभिप्राय से होता है, पर वहीं, जहाँ उस भाषा के सम्पूर्णशास्त्रों को एक ही शब्द से कहने की साध होती है। वस्तुतः "साहित्य पढ़ते हैं" का मतलब 'विज्ञान या कानून

पढ़ते हैं" वहाँ भी नहीं समझा जाता। और फलतः Arts तक घूम फिर कर वह रह जाता है। साहित्य से वहाँ भी Aesthetic pleasure ही की खोज की जाती है— जो काव्य द्वारा प्राप्त होता है।

"Literature is the name given collectively to all those books in which subjects of a general human interest are dealt with a manner so as to give aesthetic pleasure to the vast majority of men"— काव्य की सुस्पष्ट परिभाषा है।

इस प्रकार यह कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य शब्द काव्य ही के अर्थ में चरितार्थ होता है। मेरे विचार से इसमें एक रहस्य है। साहित्य शब्द सम्पूर्णता का प्रतिनिधि है। सम्पूर्णता, जिसे दार्शनिक भाषा में 'भूमा' कह सकते हैं। साहित्य का असली अर्थ, इसीलिए, अनन्त ज्ञान-राशि है। और ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म है। 'ब्रह्म' की सम्पूर्णता विश्व-विदित है। वैसे उसका अपना कोई आकार-प्रकार नहीं, पर उसे अणु-अणु में व्याप्त माना जाता है। साहित्य या ज्ञान-राशि का भी कोई एक स्वतंत्र रूप नहीं निर्द्धारित किया जा सकता। इसीलिए उसे ज्ञान के प्रत्येक उपलब्धि-स्थान (शास्त्रों) में प्रतिष्ठित मानना चाहिए।

वस्तुतः सकल-शास्त्र,— सम्पूर्ण-ज्ञान-राशि एक ही 'साहित्य' है। पर जैसे जलराशि मात्र को एक ही महा-महासागर न कह कर व्यवहार के लिए कई-कई सागर-उपसागरों, पैसिफिक-ऐट-

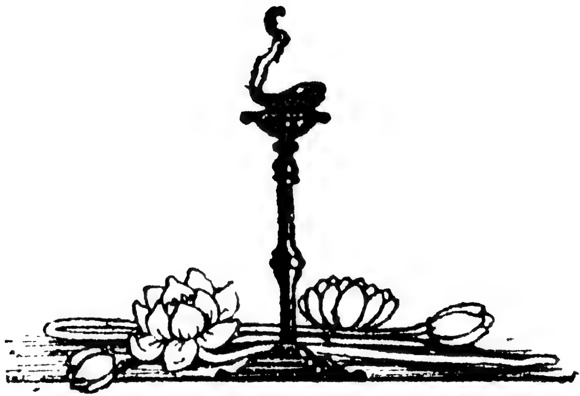
लाटिक, रेड सी और ब्लैक सी में विभक्त कर लिया गया है, उसी प्रकार एक ही साहित्य मनोविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, काव्य, नाटक आदि अनेक नामों से रूपान्तरित हो गया है।

काव्य ही के अर्थ में साहित्य शब्द के विशेष-प्रयोग का रहस्य मुझे दूसरा प्रतीत होता है। जैसे घट-घट में व्यापक होने पर भी ईश्वर का उपलब्धि स्थान हृदय ही है; पृथ्वी मात्र के ईश्वर-व्याप्त होने पर भी तपस्या, समाधि या मनन के उपयुक्त प्रशान्त तपोवन, या एकान्त स्थान ही माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञान-ज्योति से सकल-शास्त्रों के ओतप्रोत रहने पर भी काव्य ही तत्क्षण अलौकिक आनन्द में मज्जित कर सकने, प्रति-पल भटकने फिरनेवाले चपलतम मन को एकाग्र कर रस-सागर में परिप्लावित करने की क्षमता रखने के कारण साहित्य-शब्द से व्यवहृत होता है। इसीलिए मेरा कहना है कि साहित्य की इस पावन-वनभूमि को परकीया नायिकाओं का स्वैर-विहार-स्थल बनाना पाप ही नहीं, महापाप है। अस्तु।

आनन्द हृदय का धर्म है। काव्य का कार्य्य रस-दान है। काव्य हृदयोद्‌गार होने के कारण जैसे साक्षात् रस या आनन्द दायक है। 'आनन्द निःस्यन्दिषु रूपकेषु'। और, श्रुति की उक्ति है कि "रसो वै सः" "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्" रस या आनन्द ही ब्रह्म है। ब्रह्म को अन्नमय, प्राणमय विज्ञानमय आदि बतलाते हुए आनन्दमय के बाद फिर कुछ न कह कर उपनिषद् ने अपना अभिमत स्पष्ट कर दिया है। मैं कहना

चाहता हूँ कि अन्य शास्त्र 'ज्ञानमय' 'प्राणमय' तो हैं पर 'आनन्दमय' कदापि नहीं, वह काव्य ही है। इसलिए—रसमय या आनन्दमय होने के कारण काव्य ही साहित्य-शब्द से अभिहित होता है। मैं भी यहाँ इसी अर्थ में 'साहित्य' का प्रयोग करूँगा।

जुलाई '३८



साहित्य और दर्शन

१

इस विशाल विश्व में ऐसा एक भी प्राणी नहीं, जिसे आँसुओं का त्योहार मनाना पसंद हो। सभी सुख की खातिर मुँह बाए, दामन फैलाए रहते हैं। फिर, सच में प्रबुद्ध मानव का तो हमेशा सुख के लिए मुख सूखा ही रहता है। मगर अफसोस कि वह सूखा ही रहता है, और अक्सर सूखा ही रह जाता है।

इसकी वजह, कहते हैं, "ए जगते, हाय, सेइ वेशि चाय, आछे यार भूरि-भूरि" इस दुनिया में वही और-और चाहता जाता है, जो पहले ही से भरा-पूरा होता है। बात ठीक है। पर इसकी वजह की भी तलाश करनी चाहिए। लालच सही तलाश हर्गिज नहीं। क्योंकि लालच की बुनियाद जिस चीज पर कायम है, उसे ढूँढ़ निकालने के लिए बहुत गहराई में उतरने की जरूरत है।

दर्शन उसी गहराई का सही-सही पता बताता है। वह कहता है—इसका एकमात्र कारण अज्ञान है। [ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।] ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् तो शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है।

सचमुच अज्ञान ही समस्त उपद्रवों--अनर्थों का मूल है; सकल दुःख-दारिद्र्य का मौलिक रहस्य है। लोग प्यास से

अकुला-अकुला कर प्याले पर प्याला ढाले जाते हैं, पर प्यास का बुझना तो दूर, वह और दूनी-तिगुनी होती जाती है, किसी को धन की प्यास है तो वह विश्व की समग्र प्रभूत विभूतियों को अपनी ही अट्टालिका में कैद देखना चाहता है, अपने आसपास, अड़ोस-पड़ोस को मरुभूमि, कंगाल, कंकाल। पर, जब तक पड़ोसी कंगाल है, महल की खैर नहीं। ताले टूटेंगे, सम्पदाएँ लुटेंगी। या, यह सब कुछ न हो तोभी कुबेर बनने से पहले या उसके बाद तक भी, उसकी धन की तृष्णा तो नहीं मिटने की, वह और-और चाहता ही जायगा। 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' और जब तक तृष्णा है, सुख कहाँ!

तृष्णा अधिक से अधिक चिन्ताएँ उत्पन्न करेगी। चिन्ताओं की जड़ में अभाव रहेगा। और अभाव ही का दूसरा नाम दुःख है, जैसे सुख का दूसरा नाम परिपूर्णता। "यो वै भूमा तत्सुखम्।"

हाँ तो, प्यास से अकुला कर बर्फ खाते या दूध पीते ही वह और बढ़ जाती है, बढ़ती जाती है। दुनिया इसीलिए दुखी है। उसे प्यास पानी की,—'जीवन' की रहती है, पर वह उसे पहचान नहीं पाती और दुःख झेलती रहती है। कोई मरु-मरीचिका में 'नव उज्ज्वल जलधार' की खोज करता है, करे, पर यह तो पूर्वसिद्ध है कि वहाँ उसकी प्यास नहीं मिट सकती।

यह भौतिक धन-सम्पदा, सम्मान-प्रतिष्ठा महज 'मृगतृष्णा

है, इससे आन्तर सुख की—अक्षय-सुख की आशा रखना व्यर्थ होगा। इसीलिए मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य को उत्तर दिया था,—"तब मैं धन-सम्पदा, या पुत्र-पौत्र प्राप्त कर क्या करूँगी, जब उनसे सुख की, अक्षय सुख की—अमृतत्व की प्राप्ति ही नहीं हो सकती ?" [येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्याम् ?]

एक बात और। शुष्क मरुस्थल में शीतल जलधार भी उसी को दिखती है, जिसे प्यास लगी रहती है; तृप्त को कदापि नहीं। इस दृश्यमान विश्व में धन-पुत्र-कलत्र आदि में सुख का अनुभव वही करना चाहते हैं, जो धन, पुत्र या कलत्र के लिए अंधे हैं। पर चूंकि वह अंधे हैं, टटोल कर भी कुछ नहीं देख सकते। यही दिखलाने का काम 'दर्शन' करता है। वह कहता है, 'जैसे प्यासे की प्यास ही सूर्य्य की प्रचण्ड किरणों में पानी बन कर झलकने लगती है, उसी प्रकार तुम्हारा सुख का मोह ही पुत्र-कलत्र में प्रतिभासित होता है। पर सचमुच तो वहाँ दुःख ही दुःख, अभाव ही अभाव है।'

जब तक किसी को मौत का खौफ है, मर जाने का दुःख है, वह अपने को सुखी कहने का साहस ही कैसे कर सकता है ? अथवा, चार दिनों की चाँदनी में अमा के अवन्ध अन्धकार को भूल जाने की मूर्खता करे कोई, पर अमा तो अपनी अक्लमन्दी नहीं छोड़ने की। सुख (?) की नींद सोए हुए को जगाने की गलती मौत कभी नहीं करती।

फिर धन-धान्य-पुत्र-कलत्र में पाया जाने वाला सुख क्या

सचमुच ही अज्ञान नहीं है ? जिस सुख में पड़ कर आदमी सब कुछ भूलने लगता, सो जाता है, वह सुख नहीं, भूल है; नींद है; नशा है। अक्षय सुख प्राप्त कर कोई भूलता नहीं, अपने को ठीक-ठीक समझता है; सोता नहीं, हमेशा के लिए जग जाता [Enlightened] प्रबुद्ध हो जाता है।

लेकिन दुनिया भूल-भुलैयाँ में पड़ी है, दुःख भोग रही है। जिन्होंने इस तत्त्व—अक्षय सुख को जाना, समझा; इसकी प्राप्ति के मार्ग ढूँढ़े, वह यही कहते रहे। साहित्य और दर्शन, उन्हीं के हृदय की द्रुत अनुभूति, उन्हीं के मस्तिष्क की सजग ज्योति है।

२

वह मृत्यु को मेटने वाला अक्षय सुख-तत्त्व "आत्म-ज्ञान" के अतिरिक्त और कुछ नहीं; "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।" साहित्य और दर्शन समस्वर से इसी का प्रतिपादन करते हैं।

जैसे ईश्वर-प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति (प्रेम) दो पृथक्-पृथक् मार्ग निर्दिष्ट हैं, वैसे ही साहित्य और दर्शन भी हैं। दोनों की पहुँच एक ही तत्व, एक ही सीमा तक होती है। दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है। साक्षात् ज्ञान के समान दर्शन और भक्ति (प्रेम) के समान साहित्य है।

मुझे यह कहते तनिक भी हिचक नहीं होती कि (प्रेम) भक्ति ही के समान साहित्य का रस प्राप्त करने वाला भी बिरला ही मिलता है। पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्।

कुछ उच्च विचारक (Philosophic terms) दार्शनिक शब्दों में दर्शन को श्रेय और साहित्य को प्रेय कहने तक की उदारता करते हैं। मेरे विचार से वह 'संन्यास' का अर्थ त्याग और 'प्रेम' का अर्थ 'भोग' समझने की भूल करते हैं। श्रेय और प्रेय दोनों दिवा और रजनी की भाँति परस्पर विभिन्न हैं। 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः।' श्रेय का अभिमत अभिप्राय विद्या और प्रेय का अविद्या है। विद्या का परिणाम मुक्ति और अविद्या का सर्वनाश है। अतः साहित्य का Philosophic term प्रेय वस्तुतः Philippic है; दूसरे शब्दों में उसे 'नरक का पथ' ही कहना है। पर चूंकि साहित्य नरक का नहीं, स्वर्ग का स्वर्णिम सोपान है, मैं उसे किसी भी प्रकार प्रेय कहने का दुःसाहस नहीं कर सकता। साहित्य में भोग और वासना का उल्लेख उद्दीपन-आकर्षण के लिए नहीं, त्याग-विराग का महत्व प्रकट करने के लिए ही है। यशोधरा, राहुल, ऐश्वर्य आदि गौतम को बुद्ध बनाने के लिए थे। साहित्य सिखलाता है कि बिगड़ने की सारी सामग्री मौजूद रहने पर भी जिसका चित्त स्खलित नहीं होता—वही धीर है, स्थितप्रज्ञ है, मानव है। 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।' पंक के माध्यम से पंकज की भाँति प्रेय के भीतर से श्रेय का दर्शन कराना ही साहित्य का कार्य्य है। प्रेय मानव का प्रिय-पथ है, ज्ञान की रूक्षता को मोह-मृदु हृदय अपनाना नहीं चाहता। सत्य का भार वहन करने के लिए

दुर्बल मानव जल्दी तैयार नहीं। साहित्य उसकी इसी मनोवृत्ति को भलीभाँति समझ कर, उसे धीरे-धीरे आत्मतत्व,—अमृतत्व का परिचय देता है। उसी की रुझान पर रीझ-रीझ, उसी की बोली बोल-बोल, उसी की छाँह बन-बन, उसकी बाँह पकड़ता है। साहित्य का आलोक वासना के तमस्तोम का ऊपरी सोम-स्तर है। यदि बाग में जाकर कोई पेड़ गिन कर लौट आता; या कोई फूलों की खुशबू से पागल होकर वहीं झूमता रह जाता है, तो इसे आने-जानेवाला जाने, बाग इस दुराने-रिझाने की ऊसर क्रिया से ऊपर अपनी जगह पर बाग-बाग है।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति सरल नहीं। कोई समर्थ ज्ञानी उसे सरलता से प्रदान करने में अपने को असमर्थ ही पाता है। कहता है, "वहाँ आँखें नहीं पहुँच सकतीं, वाणी विवश हो जाती, मन हार मान लेता है। मैं नहीं समझता, नहीं समझ सकता, उसे किस प्रकर किसी को बतलाऊँ। वह तो मेरे ज्ञात से अन्य और अज्ञात से भी ऊपर है, अतिरिक्त है।" दर्शन का ऐसा ज्योतिर्नग्न उपदेश जहाँ रंग-बिरंगे आवरणों के भीतर से शतदल के दल की भाँति धीरे-धीरे खुलता-खिलता है, वही साहित्य का उषोज्वल सुजल सरोवर है। इसीलिए कहता हूँ कि वह प्रेय नहीं, श्रेय ही है। साहित्य स्वयं दर्शन है।

३

कामिनी के कच-कुच पर, सचमुच ही अपने जघन्य जीवन

को न्योछावर करदेने वाले, साहित्य की मंजिल के भटके हुए राही हैं। उन्हीं को आगे कर जो मंजिल तक पहुँचने का ख्वाब देखते हैं – उनके लिए "अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः" पुरानी उपमा नहीं।

जैसे संन्यासी होने का अर्थ जटा बढ़ाकर दर-ब-दर रोटियाँ माँगते फिरना नहीं है, उसी प्रकार साहित्य का अभिप्राय भी नायिका-भेद नहीं हो सकता। यह दूसरी बात है कि जटा वाले अपने ही को सर्वश्रेष्ठ संन्यासी होने का पैदायशी हक बताते हैं, पर शास्त्र का कथन तो यह है कि—

"पुंसां जटधरणमौण्ड्यवतां वृथैव
संभाषणादपि नरा नरकं व्रजन्ति !"

(व्यर्थ जटामुकुट धारण करने वाले विडालव्रतियों से बातचीत करने से भी नरक होता है। नायिका-भेद वाले नारकीयों को भी ऐसा ही समझना चाहिए।)

संस्कृत के वृद्ध जरद्गव जब 'बाला चिरं चुम्बिता' पढ़ते-पढ़ाते समय अपने पलित हृदय तथा पालित सहृदय बटुगणों को अनादि आदि-रस में मज्जित करने लगते हैं तो अकस्मात् पोतियों की उम्र की रूपसी रमणियों द्वारा 'बाबा' कहे गए 'उडुगन' केशवदास की रसिक बेबसी याद आ जाती है। संस्कृत, प्राकृत तथा ब्रजभाषा के नायिका-नरक-कुंड नहा आनेवाले साहित्य के मानसरोवर की कल्पना भी नहीं कर सकते।

साहित्य में राम या कृष्ण को काम-जयी कहने का भाव

अलौकिक सुन्दरता द्वारा उसे वशंवद कर लेना मात्र नहीं है, प्रत्युत काम को सर्वात्मना पराजित करने ही पर राम या श्याम बना जा सकता है,—इसी अर्थ का समर्थक है। साहित्य को संपूर्ण रूप से समझने के लिए यह समझलेना निहायत जरूरी होगा। कुमार-संभव का मदन-दहन एक रूपक-मात्र है। उसका मर्म गहन होने पर भी अज्ञेय नहीं। ज्ञान की ज्योति में कामवासना का अन्धकार नहीं टिक सकता। शंकर का तृतीय नेत्र ज्ञान-नेत्र ही तो था। इसीलिए कहता हूँ कि साहित्य दर्शन ही की भाँति ज्ञानादित्य की किरणों से धुला-पुँछा है, वह अपने सच्चे उपासकों को कृतार्थ ही करनेवाला है, स्वप्न में भी पथभ्रष्ट करनेवाला नहीं।

सोने की लंका जला कर राम-साहित्य नहीं समाप्त हो जाता। वह बताता है—राम ने जिस सीता के लिए अरण्य से लंका तक अश्रु और रक्त की धारा उमड़ा दी, वह उनके मलिन भोग-प्रदीप की रूप-शिखा नहीं, उज्ज्वल त्याग की ज्वलंत आहुति थी।

पाण्डवों ने मिट्टी के लिए लड़ाई नहीं लड़ी। "सूच्यग्रं नैव दास्यामि" की कलुषित मनोवृत्ति के साथ औचित्य या न्याय ने एक हाथ आजमाया था। "(सत्य) केशव का आश्रय लेने पर कोई हार नहीं सकता"—महाभारत का विशाल साहित्य सिर्फ इतना ही कह कर चुप नहीं हो रहता। उसका उद्देश्य 'यतो धर्मस्ततो जयः' पर ही समाप्त नहीं हो जाता। वह और

आगे बढ़ता है; और उच्च स्वर से कहता है—जीवन के आदर्श-तत्व के लिए यह धार्मिक विजय भी कुछ नहीं। विजय हो या पराजय—भोग की लोलुपता ही अमंगलकारिणी, अशान्ति-दायिनी है। जिसे अपना अनन्य अधिकार समझ कर पाया, उसे अपना कर्त्तव्य समझ कर निःस्वार्थ भाव से उत्सर्ग करने—त्याग देने ही में शाश्वत शान्ति है।—

—साहित्य की सुवर्ण वीणा में ऐसी-ऐसी स्वर्गीय झंकारें भरी हुई हैं। वह अनहद नाद की तरह आत्म-श्रुति द्वारा ही सुनी जा सकती हैं। जो उन्हें नहीं सुन सका, निःसन्देह वह हृदय-हीन या अभागा है। आखिर "रसो वै सः" "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दो भवति" की औपनिषद उक्ति-युक्तियाँ व्यावहारिक आदि रस को कब तक "ब्रह्मानन्द-सहोदर" बना सकती हैं? आर्य्य-साहित्य के प्रारम्भ और अवसान में मंगल-द्वारा मानसिक दुरितों को दुराने का अनुक्रम रहा है, जिसका आन्तरिक आशय यही मालूम पड़ता है कि साहित्य लोक-मंगल की कमनीय कामना करने वाला ही होता है। भोग-वासना निश्चय ही मङ्गल नहीं, विनाश-सूचक है; वह साहित्य का कदापि अभिप्रेत विषय नहीं।

४

इधर कुछ दिनों से जो पूर्वेतर दिशा से एक अपूर्व वात्या-चक्र उठा है, उसमें जटिल जीवन की प्रबल दुर्बलताओं को ऊपर उठा कर दिखाने का प्रयत्न किया गया है। स्वाभाविकता या सत्य-प्रदर्शन के लिए उसने मानव-हृदय की सभी दरारों को

दुपहर की रोशनी के सामने कर दिया है। प्राचीनता के नवीन पुजारियों को साहित्य की यह नग्नता पसन्द नहीं। पर मेरे विचार से इस पद्धति द्वारा भी लोकमंगल की ही अधिक प्रतिष्ठा हुई है। जब हमें यह देखने को मिलता है कि सत्य के पथ में रोड़े ही रोड़े हैं; धर्म में दुःख ही दुःख है; पाप की हमेशा हार ही नहीं होती, तो हमें साहित्य के ऐसे सत्य से भय या घृणा क्यों होती है, स्नेह या सहानुभूति क्यों नहीं होती? विश्व का इतिहास तो हमें ऐसा मानने को विवश कर रहा है। फिर रही बात, यह भोग से वितृष्णा करने वाला या श्रेयः-पथ-प्रदर्शक साहित्य नहीं, सो वह तो एक ही दृष्टिकोण से देखने के कारण वैसा मालूम पड़ता है। हम उससे यह रस मानस को क्यों नहीं ग्रहण करने देते कि सत्य-पथ-पथिक होते ही हमें काँटों के लिए चरणों का समर्पण कर देना होगा। हम ऐहिक विलास और सुखोपभोग की ईहा से सत्य या धर्म को न अपनाएँ, किन्तु सत्य या धर्म को सत्य या धर्म ही के लिए ग्रहण करें। एक ओर समग्र अक्षौहिणी सेना और एक ओर अकेला कृष्ण। एक ओर संसार की अशेष आकर्षक वस्तुएँ, एक ओर अकेला सत्य। हमें जो पसन्द हो ग्रहण करें। 'येनेष्टं तेन गम्यताम्।'

प्राचीन साहित्य में धर्म की निरंतर विजय दिखला कर हममें धर्म की सत्यता के प्रति आन्तरिक आग्रह नहीं, बल्कि आकर्षण या लोभ भरने की कोशिश रही है। अर्थात्, हमें पुत्र-पौत्र धन-सम्पदा या किसी भी प्रकार के (ऐहिक या आमुष्मिक)

सुख के लिए धर्म करने को आमंत्रित किया गया है। किन्तु नवीन साहित्य ने इस धर्मादर्श से प्रतिदिन घटित होने वाली बात को अधिक महत्त्व दे,—पाप को भी सफल बता, हमारी सत्य-तत्व की स्वर्ण-कामना को आग में जला-गला कर दिखलाने की चेष्टा की है। अवश्य इससे प्रत्येक को श्रेय की प्रेरणा नहीं मिल सकती। किन्तु अन्ध-परम्परा के अभाव के कारण इससे श्रेय के लिए प्रेरित व्यक्ति को धर्म-लोलुप से अधिक धर्मात्मा बनने की आशा रहेगी। मुझे दोनों ही मार्ग प्रशस्त दीखते हैं। यह दूसरी बात है कि विज्ञान के युग में कोई 'ज्ञानी' बनना नहीं चाहता; किन्तु इसीलिए विज्ञान की तरह साहित्य तो केवल जड़वादी (Materialistic) नहीं हो सकता।

फलतः साहित्य और दर्शन को एक ही श्रेय का 'हृदय' और 'मस्तिष्क'; 'भाव' और 'ज्ञान', या 'अनुभूति' और 'चिन्तन' कह कर समान सम्मान मिलना चाहिए। विज्ञान-निशा के इस निश्चल निस्तब्ध-प्रहर में भी आज के कवि कभी-कभी यह ऐसा विहाग-राग गा उठते हैं—

"जग का एक देखा तार,
कण्ठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर झंकार।
बहु सुमन,—बहु रंग,—निर्मित एक सुन्दर हार,
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार।
जग का एक देखा तार।" —'निराला'

* * * *

"एक छवि के असंख्य उडुगन, एक ही सब में स्पन्दन,
एक छवि के विभात में लीन, एक ही तो असीम-उल्लास
विश्व में पाया विविधाभास।" —'पन्त'

जुलाई '३८

साहित्य और सौन्दर्य

१

"Beauty is Truth, Truth Beauty
That is all ye know, and all ye need to know
—Keats

* * * *

"If you get simple beauty, and not else,
You get about the best thing God invents."
—Browning

"अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों का आधान।"
—पन्त

सुस्पष्ट शब्दों में साहित्य (कला) की आत्मा, साहित्य (कला) का प्राण सौन्दर्य्य ही है। निश्चय ही इस सौन्दर्य्य में प्रकृति के अहैतुक सौन्दर्य्य से एक विशेषता रहती है। वह यह कि इस सौन्दर्य्य का निर्माण भले-बुरे, उपादेय-अनुपादेय के विवेक के साथ-साथ होता है। इसमें निर्माता के सौन्दर्य्य-ज्ञान, सौन्दर्य्यानुभूति का तत्त्व भी मिश्रित रहता है। इसलिए इसे प्राकृतिक सौन्दर्य्य का 'फोटोग्राफ' नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य्यमात्र नहीं, केवल अनिन्द्य सौन्दर्य्य ही कला-वस्तु का विषय है।

सौन्दर्य्य की ओर आकर्षण प्राणी का सहज धर्म है। सौन्दर्य्य की इसी अनन्त पिपासा, अनादि वासना के कारण

प्राणि-श्रेष्ठ मानव स्वभावतः कला-प्रिय है। वह सौन्दर्य्य को सत्य और सत्य को सौन्दर्य्य कह कर ही नहीं सन्तुष्ट हो जाता, किन्तु यहाँ तक बलपूर्वक, विश्वासपूर्वक कह डालता है कि इस से अधिक जानने की जरूरत नहीं, यही सर्व्वोच्च ज्ञान है। किन्तु 'सर्व्वोच्च ज्ञान' की विशदता के लिए एक कलाकार को सुन्दर या असुन्दर का भी विवेचन करना पड़ता है; अपनी अनुभूति द्वारा ग्राह्य और त्याज्य अंश का—सत्य-असत्य का भी निर्णय करना पड़ता है। इसलिए सङ्क्षेप में यही कहा जा सकता है कि जो सत्य लोक-मङ्गल-कारि-रूप से अनुभूत होता है, लोक की सौन्दर्य्योन्मुख प्रवृत्ति देखते हुए उसे ही सर्वाङ्ग-सुन्दर,—अधिक से अधिक आकर्षक बना देना कलाकारमात्र का कार्य्य (कला) है। दूसरे शब्दों में, लोक-मङ्गल-कारी किन्तु आपाततः नीरस एवं अप्रिय प्रतीत होनेवाले सत्य को भी सरस तथा सर्वप्रिय बना देना ही वास्तविक कला-कृति है। कला के उद्देश्य में ऐसी पवित्र भावना अत्यन्त आवश्यक है।

सौन्दर्य्य ईश्वर की उच्चतम विभूति, बल्कि निज का रूपाङ्कन है। वैसे उसका कोई निश्चित सङ्कुचित स्थान नहीं, वह प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है, जर्रे-जर्रे में बिखरा हुआ। लहराती हुई नील-नीलम अनन्त जल-राशि और सूखे हुए उजाड़-सपाट मरु-मैदान, दोनों ही सौन्दर्य्य-सृष्टि हैं। पतझर के मर्मर और मधुमास की बाँसुरी, दोनों ही में सुन्दर सङ्गीत है।

कहावत है कि भाग्यहीन को रत्नाकर में भी घोंघे ही

मिलते हैं। सहस्ररश्मि के प्रकाश में भी उलूक नहीं देख सकता। ईश्वर की इस विमल विभूति—सौन्दर्य्य को भी हर आदमी नहीं देख पाता। इस अक्षमता में किसी दूसरे का दोष भी नहीं रहता।

सौन्दर्य्य स्वच्छ हृदय की एक पवित्र-उदात्त भावना है। अस्वच्छता, अपवित्रता ही असौन्दर्य की आविष्कर्त्री है। जहां कहीं भी मलिनता, गन्दगी या पाप है, वहां सौन्दर्य्य टिक नहीं सकता। रंगीन शीशे की खिड़की के भीतर से झाँकने पर बाहर रंगीनी ही रंगीनी मालूम पड़ती है, पवित्रता भी आत्मा की एक ऐसी ही दिव्य ज्योति है, जिसके भीतर से 'झाँकने पर सब ओर सौन्दर्य्य ही का भान होता है। इसीलिए कहा है कि जिन आँखों में 'वह रूप' बसा हो, उनसे और कुछ नहीं देखा जा सकता, क्योंकि तब निखिल विश्व में उस रूप के अलावा कुछ और दिखता ही नहीं।

पर प्यासे आदमी को प्यास बुझाने भर की फिकर रहती है, जल में शीतलता या स्वच्छता खोजने की नहीं। भोगी विलासी भी काम-पथ का प्यासा पथिक है, उसे तृप्ति के लिए वासना का स्वर्ण-कलस चाहिए, मिट्टी के सत्य-तत्व से निर्मित पवित्र तथा सुन्दर मङ्गल-घट नहीं। तुलसीदास को 'सियाराम मय सब जग'' जान पड़ता था; हत्यारे मैकवेथ की आँखों में बैंको (Banquo) का भूत बसा हुआ था। युधिष्ठिर को कोई पापी नहीं मालूम पड़ता था, पर दुर्योधन की दृष्टि से सत्य-धर्म की

सृष्टि गायब हो चुकी थी। जिन आँखों में धूल, गन्दगी भरी होगी, उनसे या तो कुछ नहीं दिखेगा या मलिनता ही मलिनता दीख पड़ेगी। कहना न होगा, सौन्दर्य्य को जी भर (पूर्णरूप से) देख सकने के लिए निष्कलुष दृष्टि ही की आवश्यकता है। यह तो सीधी सी बात है कि गन्दी आँखों से [अच्छाई] सौन्दर्य्य नहीं देखा जा सकता। सौन्दर्य्य-दर्शन की भी साधना होती है। शङ्कराचार्य्य ने सौन्दर्य्य-दर्शन के इस तत्त्व को कितनी सरस रीति से समझाया है—

'घृत-क्षीर-द्राक्षा-मधु-मधुरिमा कैरपि पदै
र्विशिष्यानाख्येयो भवति रसना-मात्र-विषयः
तथा ते सौन्दर्य्यं परम-शिव-दृङ्-मात्र-विषयः
कथंकारं ब्रूमः सकल-निगमागोचर-गुणे।'

कहते हैं कि-'दूध-घी अंगूर-शहद किसी के भी माधुर्य्य (मिठास) को साफ-साफ बतला सकनेवाले शब्दों की एकदम ही कमी है। उसे तो बस चख कर मन ही मन जाना जा सकता है।—'ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावे'। ठीक उसी प्रकार आपके सौन्दर्य्य को भी केवल परम शिव ही देख सकते हैं, ऐ आगम-निगमों से भी अपने गुणों को छुपा रखनेवाली मा! मैं उसका कैसे बखान करूं?'

सौन्दर्य्य-दर्शन की सारी फिलॉसफी इसी—'परम-शिव-दृङ्-मात्र-विषयः' में समाप्त हो जाती है। जिसकी दृष्टि 'शिव' नहीं है, वह किसी भी प्रकार सौन्दर्य्य-दर्शन नहीं कर सकता।

२

व्रज के अधिकांश कवियों की दृष्टि वासना-कलुषित थी। उन्हों ने वाष्प-मलिन मुकुर में उज्ज्वल कृष्ण की कृष्ण ही मूर्त्ति देखी। 'धर्मा-विरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' कृष्ण की निजी उक्ति है। उनके काम-रूप से हमें घृणा नहीं होती, होती है धर्म-विरुद्ध काम-रूप से। यों धर्म की ऊटपटांग व्याख्या कर मुग्ध धार्मिक जनता को चाहे कोई बरगला ले, पर उस डँड़-बैठक से शरीर के साथ-साथ बुद्धि की स्थूलता में भी निरन्तर वृद्धि होते रहने का भय रहेगा। व्रज-रज-रसिक चतुर आलोचकों की चुप्पी ने व्रज-वनिताओं को साहित्य-वन में अभिसार करने का मानो चिर-आमन्त्रण दे रक्खा है।

मीरा ने जब प्रियतम के चारु चरण देखे तो वह उसे 'त्रिविध-ज्वाला-हरण' दिखे, जब कि व्रज की रजभरी दृष्टिवाले बहुतेरे चितेरों को वह 'मदन-ज्वाला-करन' जान पड़े हैं। सौन्दर्य्य की ऐसी सृष्टि दूषित ही नहीं, पतित समझी जानी चाहिए।

इस विशाल विश्व में पूर्णब्रह्म का अस्तित्व भी निरुद्देश्य नहीं है। प्रकृति की महान् से तुच्छ तक सारी वस्तुओं का कुछ न कुछ मतलब, कुछ न कुछ प्रयोजन है ही। फिर 'कला कला के लिए' कह कोई उसे निरुद्देश्य या अनावश्यक कैसे सिद्ध कर सकता है? क्योंकि 'कला कला के लिए' के भी कुछ मानी हैं। कलाकार जिस मौलिक सौन्दर्य्य की सृष्टि के लिए निरन्तर

साधना करता रहता है, वह किसी और वाह्य प्रयोजन से अनृण या तुलनीय नहीं हो सकती। वहाँ आत्म-तृप्ति के अतिरिक्त लाभान्तर की कोई आशा नहीं। वह केवल कला के लिए ही कला की आराधना करता है। मगर यदि उसकी सृष्टि 'कामकला' के कुछ गुप्त-प्रच्छन्न रूपों को, बारीकियों के भीतर से विकसित करने वाली हो, तो समाज को पीछे ढकेल कर आगे बढ़ती हुई ऐसी निस्सार कला को कूड़े की टोकरी में जगह देते कृपणता करना अन्याय होगा।

२

हाँ तो, सौन्दर्य्य का सम्यक् निरीक्षण और सम्यक् परीक्षण करने के लिए पवित्र मानस और निष्कलुष दृष्टि की जरूरत है, जो केवल साधना ही से साध्य है। वैदिक काल के तपस्वी ऋषियों ने, ब्राह्म-मुहूर्त्त में जगकर जब प्राची की ओर अपनी पावन दृष्टि फेरी, तो मनभावन उषा का सौन्दर्य्य दीख पड़ा। वह उषा की सौन्दर्य्य-सृष्टि साहित्य में अकेली है। सौन्दर्य्य के सर्व-श्रेष्ठ कवि कालिदास ने बहुत वर्षों की साधना के अन्त में सौन्दर्य्य की एक सृष्टि की—'शकुन्तला'। स्वयं उन्हों ने उसे 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' कह कर साहित्य को भेंट किया। साहित्य-गगन को जब तक ऐसे-ऐसे दिव्य सौन्दर्य्य की किरणें नहीं घेर लेतीं, उसे (साहित्य को) सत्य, शिव या सुन्दर कहना अत्युक्तिमात्र होगा। तुलसी और रवीन्द्रनाथ के द्वारा भारतीय साहित्य की परम्परा अभीतक अक्षुण्ण रही। आधुनिक हिन्दी में अभी भाव से अधिक अभाव है। फिर भी निराला, प्रसाद, पन्त एवं महादेवी के प्रयत्न प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय हैं।

जुलाई '३८

सहित्य और धर्म

मैं यहाँ ऐसे बेरहमों की बात बता रहा हूँ, साहित्य और धर्म का सान्निध्य-सम्बन्ध देख कर जो विना बूझे-समझे झटपट बगल से छुरी निकालने लग जाते हैं, और (अपने खयाल से) जब तक उस सम्बन्ध-सूत्र को वह काट नहीं लेते, साँस लेने तक की कसम खा जाते हैं ! ऐसे लोगों को मुँह की नहीं खानी पड़ती हो, ऐसी बात नहीं, लेकिन उन्हें तो अपनी आदत न छोड़ने की आदत पड़ जाती है, वह करें भी तो क्या करें ?

कहते हैं, धर्म और ईश्वर की हस्ती मिटाए बगैर 'आत्मोन्नति' नहीं की जा सकती, इसलिए विश्व-मानव-हृदय के प्रतिनिधि-स्वरूप साहित्य की चहारदीवारी से उन्हें (धर्म और ईश्वर को) निकाल देना निहायत जरूरी है, पर यह बात तो समझ में आती ही नहीं कि जिसमें ईश्वर या धर्म की कतई जरूरत नहीं समझी जाती, आखिर वह आत्मोन्नति ही कैसी होगी ? स्वयं 'आत्मोन्नति' शब्द ही अपने ऐसे अनर्थकारी अर्थों से बगावत किए हुए है । रस्किन ने लिखा है—

He only is advancing in life, whose heart is getting softer, whose blood warmer, whose brain quicker, whose spirit is entering into living peace. कत्लेआम जारी रख कर, जबर्दस्ती दूसरों के हकों को हड़प कर आसमान तक ऊँचा आलीशान मकान

बनवाना और लचकदार गलीचे पर पान की जुगाली करते बैठे रहना, आत्मोन्नति का अर्थ तब तक नहीं हो सकता, जब तक साहित्य के स्वर्ग या मर्त्य-लोक से बाल्मीकि, व्यास, रस्किन-टालस्टाय, रामकृष्ण-विवेकानन्द, ह्यूगो-रवीन्द्र आदि महामानवों के अमर नाम हमेशा के लिए मिट नहीं जाते ! और चूँकि वह मिटने के नहीं, आत्मोन्नति का भी ऐसा ऊलजलूल मतलब नहीं हो सकता ।

हम ईश्वर को साहित्य के सुन्दर मन्दिर में प्रतिष्ठित न करें, धर्म को हृदय के उच्च आसन पर आसीन न करें, तो करें क्या ? साहित्य के स्वर्णिम द्वार पर पहुँच कर 'अब्रह्मण्यम्, अब्रह्मण्यम्' के नारे लगाएँ ? या विश्वामित्र की भाँति एक नये तामस स्वर्ग का निर्माण कर डालें—त्रिशङ्कु को आसमान में औंधे मुँह लटकाने के लिए ? पर याद रहे, इस पशु-बल (क्रोध) को सत्य के सामने झुकना पड़ेगा ! शान्ति की पावन नीरवता में सारा का सारा बड़बड़ाना-गड़गड़ाना बन्द हो जायगा। धर्म और ईश्वर का बागी कोई भी (वह चाहे साहित्यिक हो या राजनैतिक) स्वर्ग (उसे नरक कहना ही अधिक सत्य होगा) कभी टिक नहीं सकता ।

ज्ञानचक्षु त्रिकालदर्शी महर्षियों के चिरन्तन चिन्तन ने ईश्वर और धर्म को भलीभाँति देखा-परखा और दुनिया को दिखलाया है, वह कोई भूलभूलैयाँ नहीं, साक्षात् सत्य, शिव और सुन्दर है । धर्म हमारे जीवन को पवित्र, स्वस्थ, संयमी

(शिव तथा सुन्दर) बनाकर ईश्वर (सत्य) की ओर अग्रसर कर देता है। धर्म बन्धन का नहीं, मुक्ति का पथ है। हम ईश्वर ही को सत्य, ज्ञान और मुक्ति के नाम से पुकार रहे हैं। धर्म की मजबूत बुनियाद पर जीवन का गगनचुम्बी प्रासाद खड़ा रह सकता है। चूँकि मजबूत है, इसीलिए कमज़ोरियों के शिकारों को 'धर्म' कर्कश, कठोर जान पड़ता है।

धर्म से हमारी स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होती, नियन्त्रित हो जाती है उच्छृङ्खलता, जिसे नष्ट किए बिना हम अपने लक्ष्य तक पहुँच ही नहीं सकते। लेकिन हमें आजादी का दीवाना बनना ज्यादा भाता है, इसलिए दीवानी उच्छृङ्खलता भी हमें अपनी ही मालूम पड़ती है। दीवानापन के सबब उच्छृङ्खलता और स्वतन्त्रता में कुछ फर्क ही नहीं दीखता, यही गुनाह है। जीवन में रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्वगुण को विकसित करने के लिए धर्म की आवश्यकता है। रजस् और तमस्—काम-क्रोध, मोह-मद आदि को तिरोहित कर सत्व-देवत्व, त्याग, अनुराग, उदारता, सत्य आदि की प्रतिष्ठा के लिए साहित्य में धर्म की आवश्यकता है।

धर्म मानो आदर्श गुरु है, हम सब उसके शिष्य। अच्छे काम करते समय वह हमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं देता किन्तु अज्ञानवश जब हम पथ-भ्रष्ट होने लगते हैं, वह हमें रोकता है, अङ्कुश बन कर मना करता है। कितना अच्छा है वह! इस प्रकार यदि हम विनयी हैं, तो सदैव निरङ्कुश है

हमारा हाथ पकड़ने वाला कोई भी नहीं है—

"इह विरचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्य्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरङ्कुशः
विनयरुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरङ्कुशाः"

किन्तु यदि हम उच्छृङ्खल बनने, गड्ढे में गिरने को तैयार हैं तो भी धर्म के अलावा हमें और कौन बचा सकता है? और चाहे जो कुछ हो, धर्म हमें पतित नहीं होने दे सकता। इसे जब साहित्य के भीतर प्रतिष्ठित किया जायगा, तो वह साहित्य भी हमें हमेशा उन्नत ही बनावेगा। इसीलिए साहित्य में धर्म की प्रतिष्ठा अवश्य होनी चाहिए। हम वैसा साहित्य पढ़ कर क्या करेंगे, जिससे सुप्त-लुप्त वासनाएँ जागरित हो जाती हैं, हमें कु-प्रवृत्तियों की ओर जोरदार प्रेरणाएँ मिलती हैं?

"Life of my life, I shall ever try to keep my body pure, knowing that thy living touch is upon all my limbs.

* * * *

And it shall be my endeavour to reveal thee in my actions, knowing it is thy power gives me strength to act."

मेरे जीवनधन! मैं हमेशा कोशिश करूँगा कि मेरा शरीर परम पवित्र रहे। क्योंकि मैं जानता हूँ, मेरी समग्र जड़ इन्द्रियों को आपका ही चेतन-स्पर्श प्राप्त है। (फिर जिसे स्वयं आप छूते हैं, उसे मैं गंदा कैसे रहने दूँगा?) और यह मेरी चिर चेष्टाएँ होंगी कि मैं अपनी अखिल-निखिल क्रियाओं के द्वारा

आपको ही प्रकट करता रहूँ, क्योंकि ऐसा करने में मुझे आपकी ओर से अतुल बल प्राप्त होगा। (अर्थात् मेरे कृत्य इतने संयत तथा पवित्र होंगे कि उनके भीतर से आप ही देवत्व प्रकट होता रहेगा।)

यह है साहित्य में धर्म की प्रतिष्ठा। ऐसा साहित्य पढ़ कर एक बार ही हृदय द्रुत हो जाता है, ऐसी दिव्य शान्ति प्राप्त होती है, जिसमें सारी क्लान्ति-श्रान्तियाँ विलीन हो जाती हैं।

२

तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि साहित्य-जगत में केवल धार्मिकता की दुन्दुभि बजाई जाय, कभी किसी भी प्रकार की क्रान्तियाँ हों ही नहीं। क्रान्तियाँ अवश्य हों, पर उनका उद्देश्य विश्व के तत्कालीन वातावरण के अनुरूप शान्ति-सन्देश सुनाना हो, केवल आँधी, तूफान, बवंडर का आवाहन कर प्रशान्त तृण-तरु-गुल्मों को झकझोर देना, अस्तव्यस्त, छिन्न-भिन्न, नष्ट-भ्रष्ट कर देना नहीं! महारुद्र से ताण्डव के लिए जरूर अनुनय-विनय हो, पर केवल इसीलिए नहीं कि—

'घहरें प्रलय-पयोद गगन में
अन्ध धूम हो व्याप्त भुवन में
बरसे आग, बहे झंझानिल
मचे त्राहि जग के आँगन में
फटे अतल पाताल, धँसे जग,

उछल-उछल कूदें भूधर
नाचो हे नाचो नटवर !

बल्कि इसलिए भी कि—

रच दो फिर से इसे विधाता
तुम शिव, सत्य और सुन्दर !'

कहने का तात्पर्य यह कि जो भी सत्य, शिव, सुन्दर, शान्त, पवित्र होगा वह धर्म से, ईश्वर से शून्य रह ही नहीं सकता। इस प्रकार हम देखेंगे कि सम्पूर्ण क्रान्तियों के भीतर से एक ही सत्य पुकार रहा है, नैतिकता को तरह देने के लिए कोई तैयार नहीं है। क्रान्ति का सत्य स्वरूप यही है।

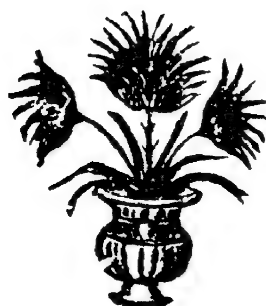
इसलिए कुछ बाजारू कलाकार, जो आज मौसम के समय मंडियों में गाजर-मूली का ढेर लगाने में खून-पसीना एक कर रहे हैं, ऋतुपरिवर्त्तन होते ही गायब हो जायँगे। यह ठीक है कि "जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी कीजे" की नीति आज उनके लिए सफल सिद्ध हो रही है, और वही कला-जगत् के सर्वेसर्वा माने जा रहे हैं। फिर यह युग भी विज्ञापन का युग है—बाजार की ऊँची-ऊँची दीवारों पर उनके नामों के बड़े-बड़े साइनबोर्ड और पैम्फलेट लटकाए गए हैं, सब ओर उन्हीं की धूम है। पर फिर भी सत्य की विजय ध्रुव है, यह—'वोटिंग' द्वारा प्राप्त सफलता कदापि स्थायी नहीं हो सकती।

इस धमाचौकड़ी से, जितनी भी खराबियाँ हो सकती थीं, हो रही हैं, और सब से बुरी बात तो यह हो रही है कि बृहन्नला बनने के भय से अर्जुन भी उर्वशी के सौन्दर्य पर

रीझने लगे हैं। पाँचवे सवार को घुड़दौड़ में आगे जाते देख चार बेचारे खुद दुलकी दौड़ने लगे हैं। घुन और गेहूँ का यह साथ-साथ पीसा जाना ही बड़ा बुरा है।

साहित्य में धर्म अनादि काल से रहा है और वह अनन्त काल तक रहेगा भी। विश्व का इतिहास इसका साक्षी है। बाल्मीकि और व्यास ही नहीं, सूर-कबीर-तुलसी—रवीन्द्रनाथ तक भारत में महाकवियों की जो परम्परा चली आई है, साहित्य में धर्म को संस्थापित करती हुई सुप्रतिष्ठित हुई है। हम बार-बार 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' को याद करते हैं, कहते हैं 'स्वयम्भू' कवि है, फलतः 'कवि' भी तो 'स्वयम्भू' ही है। हम यह भी कहा करते हैं कि 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे', तो फिर इसमें आश्चर्य्य ही क्या है कि कवि भी साहित्य में धर्म की संस्थापना के लिए ही पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता है। हम साहित्य और धर्म के ऐसे सहज सम्बन्ध को पृथक् करने की कैसे सोच लेते हैं?

जुलाई '३८



साहित्य और राजनीति

इधर साहित्य और राजनीति को एकाकार करने के लिए आमतौर से जो शोरगुल, चीख-पुकार, हाय-तोबा मचाया जा रहा है, गज-गामी साहित्यिक उसे 'भूकें श्वान हजार' समझ कर, मन्द-मन्थर गति से, चुपचाप अनन्त की ओर बढ़ते जाना पसन्द करते हैं। यदि कोई अल्हड़-अक्खड़ आलोचक दहाड़ कर उनके गन्तव्य स्थान के बारे में कुछ सवाल पेश कर डालता है—तो खुदा बचाए—उसकी खैर नहीं, क्योंकि चिग्घाड़ने वाले झुंड-के-झुंड, गिनती में कम थोड़े हैं? फिर राजनीतिज्ञों को जब 'साहित्य' शब्द के धातु-प्रत्यय तक का ज्ञान नहीं, तब विहारी और पद्माकर की पतली-पतली पोथियाँ बगल में दाब कर 'रस-कलस', 'उद्धव-शतक' वगैरह-वगैरह जैसा विशद सरस साहित्य पैदा करनेवाले प्रथम श्रेणी के साहित्यिक उनकी आवाज की कुछ भी परवा करना चाहेंगे? इसलिए अपने अस्तित्व का सुबूत जुगो रखने के लिए जिसे राजनीति का रोना रोते रहना पसन्द हो, उसे साहित्यारण्य से बढ़िया जगह ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगी।

यह 'साहित्यारण्य' शब्द घटाकाश, मठाकाश की तरह केवल (दार्शनिक ?) शब्द मात्र नहीं है, इसमें प्रभावशाली भाव है जो निहायत सीधा-सादा, चिकना-चुपड़ा है। मैं लक्ष्यहीन खुदाई साहित्य को, जो रोज-रोज ढाक के पौदों की तरह बगैर

सिंचाई-सफाई के बढ़ता,—घना होता जाता हो; अरण्य कहना समुचित समझता हूँ। राजनीतिक उपयोगितावाद की चोखी कैंची से काट-छाँट कर जबतक उसे बाकायदा बाग नहीं बना दिया जाता, उसमें बेमौके झाड़-झंखाड़, तीतर-बटेर की कमी हो कैसे सकती है ? कुछ प्रकृतिप्रिय चक्षुःश्रवा लोग तो तीतर की 'किरकोंकों' सुनते रहना इसलिए पसन्द करते हैं कि कभी-कभी बहार के वक्त कोयल की कूक और सावनी समाँ के समय पपीहे की पुकार भी सुनाई पड़ जाती है, आखिर जंगल ही तो ठहरा, कभी बन्दरों के साथ हिरनों का, और तीतरों के साथ मोरों का मिलना गैरमुमकिन तो कहा नहीं जा सकता। पर, इस तरह कम्बल के खयाल से भालू के फन्दे में फँसना कहाँ तक ठीक हो सकता है, वही जानें। बेवजह रजनी की अलकों और सजनी की पलकों के बीच बिचकते हुए त्रिशंकु साहित्य को महज झाड़ों का जंगल कहना ही ठीक होगा। यों दामन थाम लेने वाले खारों को गुलों से बेहतर बतलाने वालों को जतलाया जा सकता है कि राजनीति को पचा लेने की ताकत साहित्य के चौबे लोगों में होनी ही चाहिए, तभी उसके उदार उदर में विशाल विश्व का विलोकन किया जा सकेगा, पर पिंजड़े में पली तूती की टें-टें जैसी यह ऐसी आवाज बाज-बाज दफा मुँह के सींकचों के पार भी नहीं पहुँच पाती ! इसकी वजह यह है कि साहित्य की मथुरा में कुछ दुमंजली तोंद वाले चौबे ही चौबे तो हैं नहीं, जिनका हाल मुफ्त का माल लूट-खसोट कर

खाना और दाँत निपोर कर पचा डालना होता है, बल्कि सबसे कम नम्बर इन्हीं का होगा। साहित्य के सृजन और पालन का सारा भार सिद्ध-साधकों, निश्छल तपस्वियों पर रहता है और आज भी ऐसे लोगों की एकदम कमी नहीं है। इन्हें ही नाहक कतर-व्योंत पसन्द नहीं। यही वन को सपाट मैदान बना देने में आना कानी करते हैं। इन्हें विश्वास है कि तपःप्रभाव से ये वन को तपोवन बना डालेंगे, मैदान को फिर पार्क के रूप में परिवर्त्तित करने में व्यर्थ ही खून-पसीना एक करना पड़ेगा। और यह तो स्पष्ट ही है कि उजाड़ मैदान में खजाना नहीं जमा किया जा सकेगा, उसकी रखवाली नहीं की जा सकेगी। राजनीति की खूनी जमीनमें साहित्य की तपःसाधना नहीं हो सकेगी।

यह दूसरी बात है कि शंख के समय बाँसुरी नहीं बजाई जाय; बिगुल के वक्त पियानो को पटक कर चल दिया जाय; आज के अशान्त वातावरण में सूर और मीरा के पद नहीं गाये जायँ, और कविता को तलाक देकर राजनीति को वरण कर लिया जाय! पर, खुदा के वास्ते नवसिखुओं को बरगलाने की बेरहमी भी नहीं की जाय; रंगीन कागज की कतरनों को पारिजात की पंखुड़ियाँ कहने की बेइंसाफी भी न हो, भोंपू आवाज को संगीत का सरस पंचम स्वर भी नहीं करार दिया जाय और "जय निशान, जय जय किसान" को सत्साहित्य का सेहरा भी नहीं पिन्हाया जाय—यह अर्ज, इतना उज्र तो किया जा सकता है मेहरबान आसमान के आगे!

२

आज दिन साहित्य और राजनीति के युगल पुलिनों के बीच से यही भाव-धारा प्रवाहित हो रही है। अवश्य इसमें दोनों पुलिनों को डुबोकर एकरसता स्थापित करने की स्वाभाविक शक्ति नहीं जान पड़ती, यानी—इसमें अभी कभी उमड़ कर बाढ़ नहीं आई। राजनीति लोक-जीवन से सटकर अपनी अच्छाई-सच्चाई की डींग हांकती है; साहित्य लोक और जीवन से ऊपर उठकर अपनी उदात्त उच्चता के आभास-स्वरूप अरूप आकाश में सोने-चाँदी की स्निग्ध-प्रकाश रम्य-रेखाएँ अंकित कर देता है। दोनों में थोड़ा-बहुत नहीं, बाकायदा, बाहिसाब, आसमान और जमीन का फर्क दीख रहा है। 'सान्ध्य-गीत' और 'रोटी का राग' में सामंजस्य की एकदम गुंजाइश नहीं।

तो क्या साहित्य की सीता को राजनीति की अशोक-वाटिका में पहुँचा देना रावण का कुकृत्य होगा? यह भी कि त्रिजटा और सरमा की सुव्यवस्था के अलावा वहाँ पवन-पुत्र प्रवेश कर युग के अभिनव निर्माण का काम अविराम जारी रखने का श्रीगणेश करेंगे—कोरी मृगतृष्णा कही जायगी? फिर अभी से कैकेयी और मन्थरा की जोड़ी अगर थोड़ी भी मदद न देगी तो राम का अभिराम चरित्र-चित्र किस पार्श्व-भूमि की बदौलत सजीव जान पड़ेगा? पवित्र रामायण की रचना किस आदर्श पर होगी? और निःस्व विश्व को रत्नगर्भ रामायण से वंचित रखना क्या पाप सचित करना नहीं कहा जायगा?

हमें साहित्य के भीतर से विश्व-शांति का सन्देश सुनाना है; विश्व-बन्धुत्व की भावना जागरित करनी है; विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ाना है,—इस तरह राजनीति को तरह देने से कैसे काम चलेगा? आज के समाज को राजनीति अपनी विपुल-विशाल भुजाओं में बाँधे हुए है; आज का लोक-जीवन राजनीति के आलोक में अँगड़ाइयाँ ले रहा है, तो साहित्य राजनीति के साथ साथ समाज और जीवन की कटु उपेक्षा कर कबतक आसमान में सुफेद-रंगीन बादल बना उमड़ता-घुमड़ता चलेगा? हम साहित्य को सरस स्वर्ग से घसीट कर समाज या राजनीति के बराबर सूखी मिट्टी पर आसन देना नहीं चाह रहे, पर क्या समाज या राजनीति उस दूर-देश-वासी आत्मीय की आस तक तज दे? क्या अपनी आन्तरिक दुर्दशा दिखलाने के लिए उसे आमन्त्रण न दे, ऐसा कैसे होगा? फिर समाज या राजनीति के प्रति इतनी घृणा भी क्यों कर? क्या साहित्य इसीलिए ऊँचा है कि उसके मुकावले समाज या राजनीति निम्न स्तर पर है? और साहित्य का सिर ऊँचा रखने के लिए उसे हमेशा नीचे रहना ही चाहिए? यदि यही बात सच हो, तो भी बुनियाद की मजबूती के लिए; पनपने, फैलने और लहलहाने के लिए साहित्य को समाज और राजनीति के साथ समझौता करना ही होगा, अन्यथा अमरबेल की भाँति बगैर बुनियाद का साहित्य केवल कुछ कँटीले झाड़ों, बेलों-बबूलों पर फैला-उलझा अपने आप अपने निकम्मेपन का इजहार जाहिर करता रहेगा।

जीवन-समुद्र के अजस्र मन्थन के पश्चात् निकली हुई मंगलमयी श्री का ही नाम तो साहित्य है। समाज की विविध वर्णमयी सत्य छवि का अपने स्वच्छ आदर्श हृदय-पटल पर अंकन कर लेनेवाला ही तो साहित्य है। फिर साहित्य के सुन्दर वातायन से यदि जीवन की बाँकी झाँकी न मिली तो उसे (साहित्य को) लौह-कपाट कहना अधिक उपयुक्त होगा। यही हाल राजनीति का है। इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं कि आजतक राजनीति ने किस तरह साहित्य का साथ दिया। मेरा यह मतलब हर्गिज नहीं कि साहित्य दिलचस्प होने के सबब राजनीतिक मत-मतान्तरों के प्रकाश-प्रचार का माध्यम है, या जो राष्ट्र आज अपने सिद्धान्तों के प्रसारार्थ साहित्य प्रकाशित कर रहा है, वही उचित पथ पर पाँव रक्खे हुए है, पर पिछले सब समय के साहित्य पर, राजनीति की कैसी साफ छाप पड़ी हुई है, इसकी तलाश जरूर करनी चाहिए। इसलिए जीवन और समाज से साक्षात् (भौतिक) सम्बन्ध स्थापित करनेवाली राजनीति और मानसिक (आध्यात्मिक) सहज सम्बन्ध रखने वाले साहित्य में विरोध से अधिक स्वाभाविक एकता ही दृष्टिगत होती है। दूसरे शब्दों में जीवन, समाज या राजनीति को पूरी तरह अपनाने, पचाने पर ही साहित्य के शरीर तथा आत्मा को पर्याप्त प्रौढ़ि, तथा सुन्दर स्वस्थता प्राप्त होती है। हिन्दी के वर्तमान साहित्य के अन्तराल में अन्तर्हित दयनीय दुर्बलता की यही असहयोगिता (परिपाक का अभाव) रहस्यमय हेतु है।

स्वर्ग में सुरभित सुख-शय्या पर सोए हुए साहित्यिकों से, नितान्त अशान्त वर्तमान विषाक्त वातावरण से विकल-व्याकुल त्रस्त-ध्वस्त, क्षुद्र-दरिद्र समाज, आज जैसे साश्रु, सांजलि यही निवेदन कर रहा है—

"बड़ो दुःख, बड़ो व्यथा, सम्मुखेते कष्टेर संसार
वड़ोइ दरिद्र, शून्य, वड़ो क्षुद्र, वद्ध अन्धकार।
अन्न चाइ, प्राण चाइ, आलो चाइ, चाइ मुक्त वायु,
चाइ बल, चाइ स्वास्थ्य, आनन्द-उज्ज्वल परमायु,
साहस-विस्तृत वक्षपट। ए दैन्य-माझारे, कवि,
एकवार निये एसो स्वर्ग हते विश्वासेर छवि।"

बड़ा कष्ट है, बड़ी बेचैनी है, जहाँ कहीं भी नजर जाती है—संसार में सब ओर दुख ही दुख दीख पड़ता है। सब ओर दरिद्रता, सूनापन, ओछापन और अँधेरा ही भरा हुआ है। भाई, मुझे अन्न चाहिए, प्राण चाहिए, प्रकाश चाहिए, उन्मुक्त, स्वच्छ वातावरण चाहिए, बल, स्वास्थ्य, खुशियों से भरी हुई लम्बी उम्र चाहिए, और चाहिए हिम्मत से भरी उभरी चौड़ी छाती। मेरे कवि! स्वर्ग से विश्वास की छवि लेकर एकवार दुनिया की इस ऐसी गरीबी के बीच उतर आओ।

जुलाई '३८



कवि : उसकी कला

भौंरा फूल के चारों ओर तभी तक चक्कर काटता, गुंजार करता रहता है, जबतक उसे मकरन्द नहीं मिलता। मकरन्द की गन्ध मिलते ही वह सीधे फूल के दल में पैठता और चुपचाप मधुपान करने में तन्मय हो जाता है। काव्य का स्वरूप-निरूपण, तारतम्य-व्यवस्थापन, वर्गीकरण आदि समस्त प्रक्रियाएँ उसके आन्तर रस-सुख की प्राप्ति से पहले की अवस्थाएँ हैं। काव्य-सुधा का स्वाद मिलते ही गर्जन-तर्जन, नियम-अनुशासन, भेद-भाव सब की सुध जाती रहती है। रसास्वाद ही काव्य का सच्चा दर्शन है।

दूसरे शब्दों में—काव्यामृतपान के समय न तो उद्भट-मम्मट के काव्य-लक्षणों का अनुसन्धान होता है और न मैथ्यू आर्नल्ड या कार्लाइल के। 'लक्ष्य'-प्राप्ति के पश्चात् 'लक्षण'-गवेषणा की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसलिए जो कोई काव्य की उँचाई-निचाई की आलोचना में ही व्यस्त रह जाता और उसकी सहज रस-श्री की तरफ तनिक ताकता भी नहीं, कहना चाहिए, वह देव को नहीं, पाषाण-प्रतिमा की पूजा करता है।

काव्य की आलोचना, उसके सम्मिलित सौन्दर्य्य को रेखाओं में विभाजित करना, उसके अलङ्कार और ध्वनि का छोटा-मोटा 'कैटलाग' तैयार कर लेना नहीं। खुशबू और

खूबसूरती की खान—गुलाब का अन्तर्दर्शन, उसकी पंखड़ियों को तोड़-मरोड़ कर 'वैज्ञानिक' परीक्षण कभी भी नहीं हो सकता।

गुलाब में खुशबू और केवड़े में भी खुशबू; गुलाब में काँटे और केवड़े में भी काँटे; ऐसे सादृश्य, और, गुलाब में रङ्गीनी और केवड़े में सादगी; गुलाब में आह्लादकता और केवड़े में मादकता; ऐसे वैसादृश्य का प्रदर्शन कर दोनों के लिए की जानेवाली 'पहली' और 'दूसरी' कक्षा की विवेचना, 'तीसरी' कक्षा की विवेचना है।

खिला गुलाब देख दिल का खिल उठना ही उसका सच्चा दर्शन है। केवड़े की खुशबू से मस्ती में भर कर सिहर उठना ही उसकी खुशबू मिलने का सबसे बड़ा सुबूत है। उसकी रूप-रेखा, आकार-प्रकार की वृथा-विपुल वर्णना में बहुत देर तक बड़बड़ाते रहना नहीं।

लेकिन एक बात है। 'अपने ही दरवाजे' पर पहुँचने के लिए यात्री को हर दरवाजा खटखटाना पड़ता है। अन्ततः अपने ही अन्तःप्रदेश में प्रवेश प्राप्त करने के लिए दुनिया भर की खाक छाननी पड़ती है—

"The traveller has to knock at every alien door to come to his own, and one has to wander through all the outer worlds to reach the innermost shrine at the end."

जिसका लक्ष्य महज तैरना सीखना होता है, उसे भी कई-कई रोज तक पानी पर जैसे-तैसे लेट कर सिर्फ हाथ-पैर

पटकना पड़ता है। और यही कारण है कि काव्य में रसानुभूति के चरम साध्य होने पर भी, उस काष्ठा पर पहुँचने के लिए सभी वाह्य प्रक्रियाओं से क्रमशः परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक सा हो जाता है।

अगर ऐसा न होता तो विश्व के सम्पूर्ण शास्त्र निष्फल हो जाते। जिसे केवल 'सत्य' का ज्ञान अभीष्ट होता, वह क्यों शङ्कर और रामानुज, प्लेटो और कैंट के चक्कर में पड़ने जाता? जिसे सिर्फ रसानुभूति से मतलब होता वह क्योंकर कुछ काल के लिए अपने को 'ध्वन्यालोक' और 'सौन्दर्य शास्त्र' के हाथों सौंपता?

लेकिन, पहली सीढ़ी पर पैर रक्खे विना आखिरी सीढ़ी पर नहीं पहुँचा जा सकता, इसलिए इच्छा न रहने पर भी पहली सीढ़ी पर लड़खड़ाते पैर को दाबना ही पड़ता है। और हमारे तमाम रीति-शास्त्र, अलङ्कार-शास्त्र यहीं चरितार्थ होते हैं। कहने का तात्पर्य्य यह कि काव्य-बोध से हमें रस-बोध, सौन्दर्यानुभूति ही समझनी चाहिए, किन्तु 'इसीलिए वाह्य विवेचन को बाद देकर नहीं चला जा सकता।

ऐसा कहते समय मैं वाह्य-विवेचन और आन्तर अनुभूति के नित्य सम्बन्ध की ओर संकेत नहीं कर रहा। हालाँकि 'बाहर' और 'भीतर' शब्द परस्पर सापेक्ष हैं। 'बाहर' कहने से 'भीतर' ही से पृथग्भाव की ध्वनि होती है और 'भीतर' भी 'बाहर' ही से बाहर होने की बात बतलाता है। संक्षेप में

बाह्य शब्द स्थूल का बोध कराता है और आभ्यन्तर शब्द सूक्ष्म का। बाह्य शब्द जड़ अंश की ओर संकेत करता है और आभ्यन्तर शब्द चेतन अंश की ओर। और यह स्थूल या सूक्ष्म शब्द परस्परापेक्षी होने पर भी बहुत बड़े विभेद को व्यक्त करता है जैसे तम और प्रकाश।

किन्तु काव्य के विषय में स्थूल तथा सूक्ष्म का क्रमिक ज्ञान आवश्यक नहीं कहा जा सकता। बल्कि स्थूल से दूरस्थित काव्य ही काव्य है। मेरा मतलब, Art के पीछे पागल न होकर सहज सहज पग रख कर कवि के हृदय कण्ठ से निकला हुआ साफ स्वर ही अधिक सुन्दर काव्य है। अधिक सुन्दर इसलिए कि उसमें अनुप्रास के लिए प्रयास नहीं रहता, वह अनायास अपने उतार-चढ़ाव को पहचानता हुआ चलता है; उसमें सङ्गीत-शास्त्र का निर्वाह नहीं, कोयल और बुलबुल के मधुर सुर का प्राकृतिक प्रवाह होता है; उसमें राजोद्यान की काट-छाँट, सफाई-सिचाई नहीं, पावस-रस-सिक्त कानन की कमनीयता रहती है।

"तोमरा ये वल श्याम मधुपुरे याइवेन,
कोन पथे वन्धु पलाइवे,
ए वुक चिरिया यवे, वाहिर करिया दिव,
तवे त श्याम मधुपुरे यावे!"

"तुम जो कहती हो कि 'श्याम मथुरा जायँगे, श्याम मथुरा जायँगे' सो मेरी तो समझ में नहीं आता। आखिर वह किस रास्ते से निकलेंगे? जब मैं अपना कलेजा चीर कर

उन्हें बाहर निकालूँगी, तभी तो वह मथुरा जा सकेंगे !"

'चण्डिदास' की यह 'पुरवैया' सी कविता किस तरह जिस्म और जान को छूती है, सिहरा देती है, बतलाने की बात नहीं। इस सादगी पर हजार बार रङ्गीनी न्योछावर है। इसे ही मैं स्थूल से दूरस्थित काव्य कह रहा हूँ। यहाँ शरीर है ही नहीं, जिसके सुडौलपन या खूबसूरती की जाँच-पड़ताल की जाय। यहाँ तो केवल प्राण है; केवल पुलक है। जैसे अशरीर समीर हमें छू लेती हो, हम उसे नयनों से नहीं निहार सकते !

"Fair Daffodils, we weep to see
You haste away so soon;
As yet the early-rising sun
Has not attained his noon.
Stay, stay,
Until the hasting day
Has run
But to the even-song;
And, having pray'd together, we
Will go with you along."

"प्रिय 'डेफोडिल' ! हमारी आँखें यह देखते हुए बार-बार भर-भर आती हैं कि तुमने इतनी जल्दी कर दी। अरे, अभी तो सुबह का निकला सूरज दुपहर तक भी नहीं पहुँच पाया है ! ठहरो, ठहरो ! इस बेतहास उड़े जाते हुए दिन को कम-से-कम सान्ध्य-सङ्गीत समाप्त कर लेने दो

और फिर ? फिर तो सान्ध्य-स्तुति के पूर्ण होते ही हम तुम्हारे ही साथ चले चलेंगे !"

यहाँ Simile और Metaphor किस प्रकार 'उद्गार' के गले का हार हो रहे हैं, अलङ्कार की दुनिया के उस पार पहुँचे कविवर 'हेरिक' से कोई पूछ देखे।

यों तो मानसिक स्फूर्त्ति रहने पर काव्य-शरीर स्वयं स्वस्थ मालूम पड़ता है, परन्तु प्राणों की पहचान पा लेने के बाद तो पञ्चतत्त्वों पर आखें टिकतीं ही नहीं। लेकिन राज-कवि भी कवि ही होता है। उसके काव्य में जो बारीकी रहती है, सौन्दर्य्य की एक-एक रेखा के अङ्कन में जो सावधानता रहती है, उसकी भी कम प्रशंसा नहीं की जा सकती। क्योंकि उसमें कम आकर्षण नहीं रहता; मनःप्रसाद के कम साधन नहीं रहते। आखिर ऐसा रह भी कैसे सकता, जबकि उसके निर्माता का ध्यान सबसे अधिक इसी अभाव के अपसारण में लगा रहता है।

तो स्थूल रूप से हम काव्य को दो भागों में बाँट सकते हैं। एक वह जिससे दिल की कली खिल उठती है; दूसरा वह जो बेसुध बना देता है। एक को सुनकर मुँह से बरबस 'वाह' निकल पड़ता है; दूसरा सुनने के बाद ओष्ठ-स्फुरण स्थिर हो जाता है, कुछ कहकर अपना आह्लाद प्रकट करने की शक्ति नहीं रह जाती। पहला राजकवि का काव्य है; दूसरा कवि का। पहले को हम राजसदन की सुषमा कह सकते हैं तो दूसरे को

तपोवन-आश्रम की श्री। पहले को सुरम्य सरोवर का सलिल कहा जा सकता है तो दूसरे को झरने का बहता पानी।

पहले में कल्पना का चमत्कार रहता है; दूसरे में अनुभूति की विभूति। पहले में कारीगरी रहती है, दूसरे में रस। निश्चय ही जिसे हम विश्वकवि कहते हैं, उसके काव्य में प्रायः दोनों 'उपकरणों' का सम सन्तुलन हुआ करता है। उस अपार पारावार में तो जाने कितने झरने, कितनी सरिताएँ स्वयं सम्मिलित हो जाया करती हैं। जैसे कालिदास सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के विकसित शतदल पर अपनी स्वर्ण वर्ण किरणें छिटकाए हुए हैं, तुलसीदास व्रजभाषा के अशेष साहित्य पर अपना आसन जमाए हुए हैं, शेक्सपियर और रवीन्द्रनाथ क्रमशः अंग्रेजी और बंगला के अखिल-निखिल साहित्य को घे कर बैठे हुए हैं। यहाँ मैं महाकवियों का प्रसङ्ग तो उठा ह नहीं रहा, क्योंकि वे साहित्य में अत्यन्त विरल हैं। रवीन्द्र नाथ के कथनानुसार, जिसे मैं भी निश्चित रूप से मानता हूँ, अबतक महाकवि चार ही हुए है—बाल्मीकि, व्यास, होमर और दान्ते। यों, तुलसीदास को भी पाँचवाँ स्थान दिया जा सकता है, किन्तु उसी प्रकार, जिस प्रकार अवतार को साक्षात ब्रह्म कहा जाता है।

विश्व-साहित्य के इतिहास में महाकवि (वाल्मीकि-व्यास-जैसे) ही नहीं, विश्वकवि भी (कालिदास-रवीन्द्रनाथ-जैसे) बहुत कम हैं, तभी उनकी विशेष महत्ता है, शाश्वत सत्ता है। ह

'सूक्ष्म' हैं, इसलिए 'स्थूल' विभाग के अन्तर्गत उन्हें नहीं लिया। किन्तु, जिन्हें केवल कवि कहा है, वह मेरे विचार से मीरा, चण्डिदास, कबीरदास-जैसे होते हैं। उनमें कला की चारुता नहीं, सहज उद्गारों का आवेग होता है। और जो 'राजकवि' कहलाने के योग्य हैं, उनमें केशव-बिहारी, माघ-श्रीहर्ष-जैसों की गणना होनी चाहिए। क्योंकि उनमें 'सहज' नामक कोई गुण-विशेष प्रायः नहीं रहता, हाँ 'निर्माण' में वे अपना सानी नहीं रखते।

"अमिय-हलाहल-मद-भरे श्वेत-श्याम-रतनार,
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जिहि चितवत इकबार।
नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल,
अली कली ही ते बिंध्यौ, आगे कौन हवाल!"

उच्च कोटि का निर्माण है। इसमें उतनी मार्मिकता नहीं, जितनी चारुता है, चमत्कार है। विश्व के साहित्य में इसी कोटि के कवियों की सङ्ख्या सर्वाधिक है। ऐसे ही काव्य के रस-स्तर तक पहुँचने के लिए वाह्य-विवेक आवश्यक-सा होता है।

कल्पना (सौन्दर्य्य) और अनुभूति (रस) को जहाँ मैंने काव्य का 'उपकरण' कहा है, वहाँ मेरा अभिप्राय भी समझ लेना होगा। 'उपकरण' शब्द जरा मोटा मालूम पड़ता है—ऐसा, जैसे कल्पना या अनुभूति कोई श्रम-प्राप्य वाह्य वस्तु हो, जिसे कहीं से उठा लाने से झटपट विश्वकवि बन जाने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। वह उतनी सस्ती चीज नहीं। वह सबको नहीं मिल सकती, नहीं मिलती।

इसीलिए 'कवि' होना स्व-साध्य नहीं है। मिहनत-मजूरी का जोर वहाँ कामयाब नहीं होता। यानी हर व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। हो सकता तो संसार में कवि की कोई कीमत ही नहीं रह जाती। और यदि ऐसा होता तो शायद कोष में भी कवि शब्द को स्थान नहीं मिलता।

मैं कहता हूँ कि कल्पना या अनुभूति की साधना नहीं होती। वह पूर्व-जन्म के तप का इस जन्म में प्राप्त वर है। वह रक्त और मांस में मिलकर प्राकृतिक रूप से आई हुई शक्ति है। मनुष्य परिश्रम से सम्भवतः दार्शनिक, वैज्ञानिक हो सकता है, पर कवि कदापि नहीं। नियमित व्यायाम के द्वारा स्वास्थ्य-सौन्दर्य—शरीर का सुडौलपन प्राप्त किया जा सकता है, पर रूप नहीं, लावण्य नहीं। व्यापार से 'दौलत' बढ़ सकती है, पर 'श्री' नहीं। मैं तो कहता हूँ कि लगातार पुजने-पुजते पत्थर चाहे देवता हो जाय, पर मरते-मरते भी मनुष्य अपनी तरफ से कवि नहीं हो सकता।

जैसे लोक-मङ्गल की कामना से ईश्वर मनुष्य बन जाता है, मनुष्य बनकर मनुष्यता के उखड़ते हुए पाँव को, मलिन होते हुए आदर्श को फिर से जमाता, चमचम चमका देता है, उसी प्रकार कवि का भी अवतार होता है। अवतार का अर्थ है—नीचे उतरना, विश्व-कल्याण की कमनीय कामना से सब में मिलकर, सबको आगे ले चलने के लिए अपने महत्व का परित्याग कर देना। विश्व की रूक्षता को दूर करने, असार कहे जाने

वाले संसार में रस-सौन्दर्य्य का सार दिखला कर मानव-जीवन के दुर्वह भार को हल्का करने, सात्विक प्रवृत्तियों की सुकुमार श्री-सुषमा के सहज प्रचार-प्रसार द्वारा उद्दाम-उच्छृङ्खल, क्रूर-कुत्सित पाशविक मनोभावों के आवेग को श्लथ-शिथिल कर मानव के उच्च आदर्श को श्लाघ्य, एवं सर्वाङ्ग-सुन्दर, जीवन के ढीले-ढाले ढाँचे को कलापूर्ण एवं स्पृहणीय बनाने, मिट्टी में रूह फूँकने—जान डालने के लिए कवि का अवतार होता है।

गीता के तृतीय अध्याय में कर्मयोग तथा संन्यासयोग के विश्लेषण-प्रसङ्ग में' भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मयोग पर जो जोर दिया है, उन्होंने यह जो कहा है कि किसी भी प्रकार की कामना के न रहने पर भी, जो मैं सावधान होकर कर्म करता रहता हूँ, उसका एक ही कारण है, एक ही फल है कि यदि मैं वैसा न करूँ तो यह सारी दुनिया ही भ्रष्ट हो जाय।—

'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म चेदहम्'। इससे भगवान् का यह आशय सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि वह दुनिया को नष्ट-भ्रष्ट नहीं होने देना चाहते। वह नहीं चाहते कि उन्हें ज्ञान-स्वरूप समझ कर सब लोग सीधे से संन्यास का सहारा ले लें, और व्यावहारिक विश्व को मृत्पिण्ड कह कर ठुकरा दें।

यहाँ एक और दार्शनिक विषय अप्रासङ्गिक न होगा। उनकी इस उक्ति से यह भी तात्पर्य्य निकलता है कि जबतक लकड़ी है तभी तक आग है, नहीं तो खाक की खाक। अर्थात् आग को कायम रखने के लिए इंधन को जलाते रहना होगा।

ईश्वर का अस्तित्व बनाए रखने के लिए विश्व को बनाए रखना होगा। अर्थात् ईश्वर विश्व-स्वरूप ही है, विश्व को ठुकरा कर उसे किसी दूसरे स्थान में नहीं प्राप्त किया जा सकता। विश्व को हृदयङ्गम करने से ही ईश्वर हृदयङ्गम हो जाता है। जब विश्व और स्वयं एकाकार हो जाय, विश्व के अणु-अणु को अपने से अभिन्न, अपने में डूबा हुआ देखने लग जाय, तब ईश्वर-प्राप्ति शेष नहीं रह जाती। निष्काम-कर्म-योग विश्व और ईश्वर को एकाकार कर के ही रहता है।

(इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः)

और जो ज्ञान-प्राप्ति के प्रथम ही विश्व का अपमान करते हैं, जो समझते हैं कि संन्यासाश्रम विश्व से बाहर कहीं है और इसीलिए कर्म के फल का त्याग न कर कर्म ही का त्याग करने के लिए संन्यासी होने का आडम्बर रचते हैं, वह 'अहम्' की अनुभूति नहीं, 'अहम्' की पूजा करते हैं। जिसका फल अशान्ति है, नरक है। क्योंकि ज्ञान साधना नहीं, साध्य है; पूजा नहीं, अनुभूति है। हाँ, ज्ञान के पश्चात् जो संसार छूटता है, वह ठीक है क्योंकि उसे छोड़ना नहीं पड़ता। उसमें हठ नहीं रहता, अभिमान नहीं रहता। जैसे प्रकाश के अनन्तर अन्धकार नहीं रह सकता, उसी प्रकार ज्ञान के पश्चात् संसार भी स्वयं दूर हट जाता है। कर्म और संन्यास का सूक्ष्म ऐक्य यहीं पर है, केवल उक्ति भेद है। यह एक दार्श-

निक सत्य है कि अन्धकार का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, किन्तु प्रकाश का अभाव ही अन्धकार कहलाता है। इसीलिए प्रकाश के आगमन के अनन्तर अन्धकार का अस्तित्व मेटने के लिए पृथक् प्रयत्न आवश्यक नहीं होता। यदि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो उसे मेटने के पृथक् प्रयत्न की अवश्य आवश्यकता होती, क्योंकि आम का पौदा रोपने से नीम का पेड़ सूखता हुआ कहीं नहीं देखा जाता! फलतः यह मानना ही पड़ता है कि ज्ञानोदय के अनन्तर संसार नहीं रह जाता। संसार नहीं रह जाता, अर्थात् सांसारिकता नहीं रह जाती, द्वैत-भाव—अपने-पराए का भाव, अपने से पृथक् विश्व को समझने का अनुदार, संकुचित भाव मिट जाता है। अर्थात् उदार ज्ञान विशाल विश्व को घेर कर एकाकार हो जाता है, अब इसे चाहे ज्ञानकार कहें, चाहे विश्वाकार। क्योंकि यहां ज्ञान और विश्व एक ही आधार, एक ही आदर्श, एक ही प्रकार और एक ही अर्थ में हैं। विश्व का अर्थ ही 'सम्पूर्ण' है, भूमा है, और ज्ञान तो भूमा है ही। अस्तु।

इससे मालूम पड़ता है कि भगवान् स्वयं ही सत्य और सौन्दर्य्य के बीच मङ्गलमय सामञ्जस्य की इच्छा रखते हैं; ज्ञान और विश्व-प्रकृति के बीच एक समझौता चाहते हैं। और उनकी ऐसी इच्छा की पूर्त्ति कवि द्वारा अधिक प्राञ्जल रूप से होती है। जान पड़ता है, सत्य और सौन्दर्य्य में सहज सामञ्जस्य की शाश्वत प्रतिष्ठा कर सकने के कारण ही

ईश्वर को कवि-संज्ञा मिली है।

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्,
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

विश्व-जीवन के कर्म-कोलाहल में पड़ कर जब हृदय हार जाता है, सारा संसार नीरस निष्प्रीति प्रतीत होने लगता है, और पद-गति शिथिल से शिथिलतर होती हुई रुक जाती है, उस समय कवि की वाणी उसमें उसी प्रकार तेजी और ताजगी भर देती है, जिस प्रकार थके-माँदे राहगिर के दिल में मन्द-सुगन्ध समीर की ताल-ताल पर थिरकती हुई कोयल की कोमल कुहुक। और फिर वह नई चेतना पाकर, नए उत्साह-उल्लास से, नई गति से आगे बढने लगता है। जैसे नैश विश्राम के पश्चात् नव प्रभात का प्रारम्भ होता है।

लोग कहते हैं कि कवि की दुनिया अनोखी होती है, एकदम नई। मैं कहता हूँ, नहीं, वह इसी पुरानी-पहचानी दुनिया को नई बना देता है, जैसे वसन्त ऋतु पेड़ की पुरानी डाल को हरियाली डाल कर नई बना देता है। हाँ, वह इसी वृद्ध विश्व को नवीन रूप प्रदान करता है।

ऐसा नवीन कि—

'जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।'

और यदि उसकी दुनिया को खामख्वाह खयाली कहा ही जाय तो वह भी एक तरह से दुरुस्त ही है। क्योंकि सब से बड़ा

सच यही है कि दुनिया एक खयाल है। यानी विश्व अपने अन्तर ही के अन्तराल में है, उसे खयाल ही जिलाए हुए है। इसीलिए दिल में अच्छे खयालात रहने पर दुनिया भी अच्छी लगती है और बुरे विचारों के आते ही वह बिलकुल वीरान, बेकार बन जाती है। मतलब यह कि दुनिया को खयाल के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए, यों खास तौर से कवि की दुनिया के खयाली होने में तो कुछ भी अनोखापन नहीं मालूम पड़ता। किन्तु इतना जरूर है कि कवि की भावनाओं के केवल सत्, चित्, आनन्दमय, या सत्य शिव, सुन्दर होने के कारण उसकी दुनिया भी इस दुनिया की अपेक्षा कुछ अधिक सत्य, सुन्दर एवं आनन्दमय होती है। इसीलिए इस दुनिया से ऊबने-झुँझलानेवाले भी उस दुनिया में आकर आनन्दमग्न हो जाते हैं। अर्थात् यदि कवि की दुनिया खास तौर से खयाली है तो इसी अर्थ में कि वह इस दुनिया से बहुत ज्यादा बढ़-चढ़ कर है; उसका इसकी अपेक्षा अधिक भरोसा एवं विश्वास करना चाहिए।

ईश्वर का अवतार पशु-प्रकृति के विकास या कीड़ों-मकोड़ों के पथ-प्रदर्शनार्थ नहीं होता, 'उसी प्रकार कवि का अवतार भी विशेष-रूप से मानव जाति के कल्याण के लिए ही होता है। जगत् की जड़ता से ऊबकर मानव उसे मरु न बना दे इसलिए बराबर उसकी पगडण्डी को सौन्दर्य्य-रेखाङ्कित, रस-सिक्त करने में कवि की दृष्टि लगी रहती है, हृदय खुला रहता है। तभी मैंने

कहा कि वह इसी दुनिया को नित नई बना कर पेश करता है। ज्यादा जान-पहचान हो जाने से जो उसके प्रति एक अवज्ञा का भाव बढ़ने लगता है, उसे ही वह आत्म-कला से मेट देता है। फिर जिस प्रकार एकरसता से ऊब उठना स्वाभाविक है उसी प्रकार सौन्दर्य्य के प्रति आकर्षण भी स्वाभाविक है। लिहाजा रोज-रोज नए-नए सौन्दर्य्य की उद्भावना ही कवि की कला है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि तब तो कवि मिथ्या को रोचक बनाकर प्रस्तुत करनेवाला है। जो जगत सचमुच ही नीरस, निःसार है, उसमें सौन्दर्य्य की उद्भावना करना जादूगरी है, वञ्चना है। किन्तु ऐसा कहते समय यह नहीं भूल जाना चाहिए कि संसार को निःसार एवं असत्य बतलाने वाले वेदान्ती भी इसे व्यवहार दशा में असत्य नहीं मानते। और यह 'व्यवहार दशा' है क्या बला? यही न कि प्यास लगने पर 'मिथ्या' माने जानेवाले पानी की उपेक्षा नहीं की जा सकती, समाधि-शान्ति की कामना से भी हिमालय के लिए प्रस्थान करते समय 'मिथ्या' कही जानेवाली 'जमीन' को पैर के नीचे से हटा कर जाया नहीं जा सकता। तो दूसरे शब्दों में 'व्यवहार दशा' का सुस्पष्ट अर्थ अत्यावश्यक अवस्था हुआ। अर्थात् यह सारा ज्ञान, विज्ञान, सत्य-तथ्य "झुठाई" को तरह देकर नहीं चल सकता। अर्थात् सत्य ही की तरह मिथ्या भी अत्यन्त आवश्यक है।

उपरोक्त उद्धरण में भगवान जो 'कर्म' की दुहाई देते दीख

पड़ते हैं, वह भी भगवान् का विश्व के प्रति कोई विशेष पक्षपात नहीं है। उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि विश्व-मानव 'संन्यास' के लिए विकल-बेकल है और भगवान उसे दुनिया पर दया करने के लिए दुनियावी बनने की सीख दे रहे हैं। नहीं, जब जलस्रोत पत्थर की छाती छेद कर बह चलता है तो उसे कोई नहीं रोक सकता। जब सचमुच ही कोई कर्म का वज्रकपाट तोड़ कर उन्मुक्ति के आँगन में आ जायगा तो उसे भगवान भी नहीं रोक सकेंगे, वह रोका जा सकता ही नहीं। तो फिर उस उक्ति का साफ मतलब यही है कि मानव-प्रवृत्ति जो स्वार्थ-मग्न है, कर्मक्रान्त है, वह उसी पर पालिस चढ़ा रहे हैं, 'कलर' कर रहे हैं। वह कह रहे हैं कि यह रास्ता गलत नहीं है, बल्कि ज्यादा सीधा है, (ज्यादा सीधा इसलिए कि कर्म मानव-प्रकृति के अंदर दाखिल है।—'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।) मगर हाँ, इस पर ऐसा चलना चाहिए कि थकावट न आ जाय, दिल हार न मान बैठे। और इससे बचने का सीधा तरीका यही है कि स्वार्थ-भावना से, 'अपने' लिए नहीं चला जाय। क्योंकि किसी समय स्वार्थ पर तनिक धक्का पहुँचते ही चलना बंद होने का खौफ रहेगा। और यह शाश्वत प्रकृति है कि चलने वाले को ठेस-ठोकर सब सहना पड़ता है। अर्थात् कर्म जरूर किया जाय मगर कर्म के लिए नहीं, ईश्वर के लिए, कर्त्तव्य समझ कर। इससे कर्म तो होता जायगा, किंतु कुकर्म करने का डर न

रहेगा ; क्योंकि जहाँ सूरज रहता है वहाँ अँधेरा नहीं रहता, जहाँ ईश्वर रहते हैं वहाँ पाप नहीं रहता।

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर"

इस प्रकार वह कर्म कर्म न रहकर 'कर्मयोग' हो जायगा, 'कर्म-साधना' बन जायगा। वैसा कर्मयोगी 'कर्म' कहकर 'कुकर्म' को गले नहीं लगाता फिरेगा, वह बराबर कोशिश करता रहेगा कि उसका शरीर अपवित्र न हो जाय, वह शरीर जिसे ईश्वर का चेतन-स्पर्श प्राप्त है, जिसमें ईश्वर का श्रीनिवास है, कभी कुत्सित न हो उठे।

"I shall ever try to keep my body pure, knowing that thy living touch is upon all my limbs.

वह कहता है—"तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान"। और यदि भगवान का यही तात्पर्य है तो कहना चाहिए, वह कवि का काम कर रहे हैं। वह मानव के कर्म-घर्म-तप्त ललाट से पसीने की बूँदें पोंछ रहे हैं, उसे सहला-दुलराकर जीवन-पथ पर आगे बढ़ा रहे हैं।

जीवन की इच्छा स्वाभाविक है, आत्म-हत्या अस्वाभाविक। प्रवृत्ति की ओर उन्मुखता प्राकृतिक है, निवृत्ति की ओर कृत्रिम। युग-युग पर्य्यन्त कठोर तपश्चर्य्यानिष्ठ ऋषि-महर्षियों का मेनका-उर्वशी की एक चितवन पर योग-भ्रष्ट हो जाना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अर्थात् सृष्टि-स्थिति एकान्त स्वाभाविक है, इसमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश की कृपा-करुणा अत्यन्त आवश्यक

नहीं है। हाँ, सृष्टि से पार जाने—शाश्वत शान्ति की प्राप्ति के लिए कदाचित् उनकी करुणा अनिवार्य्य हो।

मैं लिख आया हूँ कि क्षुधा-ज्वाला से आकुल होकर मनुष्य मिट्टी भी खा सकता है, प्यास से परेशान होने पर ऊँट का पेट चीरकर उसके भीतर का पानी भी पी सकता है, किन्तु यह क्षुधा-तृषा की 'सुन्दर' शान्ति नहीं हुई। इसी प्रकार अ-स्वाभाविक होने पर भी आत्महत्या की इच्छा असम्भव नहीं है. और जब-तब "To be or not to be" की सीख न पाने वाले मनुष्य भी अपने बोझिल जीवन से ऊब-खीझकर अपनी ही हिंस्र पशुता पर आप बलि हो जाते हैं। और अप्राकृतिक होने पर भी निकम्मापन, गृह-कलह आदि कभी-कभी मनुष्य के विश्व-वैराग्य का कारण बन जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार आत्म-हत्या सम्पूर्ण त्यागमयी होने पर भी कायरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसी प्रकारगृह-कलह-जन्य संन्यास को कर्म-क्षेत्र से भाग निकलने के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता। और अधिकांश कायर और डरपोक ही इन दोनों पथों के पथिक होते दीख पड़ते हैं। हाँ,

"सूर श्याम प्रभु तुम्हरे दरस को लैहौं मैं करवट कासी!"
"जानकी-जीवन की बलि जैहौं!"
"दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन!"
"मरन रे तुहुँ मम श्याम-समान,
ताप-विमोचन करुण कोर तव मृत्यु अमृत करे दान।"

को कोई कायरपन या निकम्मापन कहने का दुःसाहस नहीं

करेगा। यही हुआ कुत्सित को सुन्दर कर देना। जो आत्महत्या स्वार्थ के लिए—अपने लिए होने पर पाप है, वही परमेश्वर के लिए, परार्थ होने पर परम पुण्य हो जाती है।

ऐसी दशा में यदि भोजन करना ही है तो क्यों न उसे सुस्वादु बना लिया जाय? यदि जीना ही है तो क्यों मरण-पर्य्यन्त मुहर्रमी सूरत बनाकर रहा जाय? यदि मिथ्या मान लेने पर भी संसार को पकड़े ही रहना पड़ता है तो क्यों उसे मिट्टी का ढेर कहकर ठुकराया जाय? उसमें सोने की खान भी तो है—एक दृष्टि उस पर भी डालते चलने से क्या हानि है? यदि 'झूठे' फूल चुनने ही पड़ते हैं तो क्यों मरघट पर के निर्गन्ध किंशुक-कुसुमों की ओर ही टकटकी लगाई जाय, जब कि पथ के दोनों किनारों पर जुही और चमेली, गुलाब और नर्गिस फूल-फूलकर झूम रहे हों?

कवि यही सब दिखलाता-सिखलाता है। कवि का सबसे बड़ा काम 'सत्य' को सुन्दर बना देना है। ऊपर उद्धृत पद्यों में परार्थ-भावना से आत्महत्या-जैसा भयानक पाप भी जैसे पुण्य हो गया है, मृत्यु भी सुन्दर हो गई है। जो मृत्यु को भी जीवन बना डालता, आत्महत्या को भी पुण्य बना सकता है, उसी भाव को मैं 'सौन्दर्य्य' कह रहा हूँ, उसी का अभिव्यञ्जन कवि का अपना कर्म है।

जनवरी '३६

आलोचना का आदर्श

किसी कृति के गुण-दोष का निष्पक्ष विश्लेषण ही आदर्श आलोचना नहीं है। गुण-दोष की समष्टि प्रत्येक कृति की प्रकृति के अंदर दाखिल है। अर्थात् मानव गुण-दोष से परे नहीं और फलतः उसकी कृति में उसके गुण-दोषमय व्यक्तित्व का प्रतिबिंब अवश्य रहेगा। ऐसी दशा में केवल गुण-दोष का क्षीर-नीर न्याय से पृथक्करण कदापि आदर्श आलोचना नहीं हो सकता। स्थूल रूप से आलोचक की तुलना हंस से हो सकती है, पर आदर्श आलोचक की नहीं, और वह होनी चाहिए भी नहीं।

एक तो क्षीर-नीर की तरह सत्य-असत्य की, उचित-अनुचित की, गुण-दोष की रूप-सीमा निर्द्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि क्षीर एक के मत से क्षीर और दूसरे के मत से नीर नहीं हो सकता, किन्तु एक की दृष्टि में उचित जँचनेवाली वस्तु दूसरे की दृष्टि से अनुचित हो सकती है, होती है। एक आलोचक अपनी बुद्धि से जिसे गुण करार देता है, दूसरा उसे अपने विवेक से दोष कहते तनिक भी नहीं हिचकता, क्योंकि दूध-पानीवाले स्थूल विश्लेषण से यहाँ काम नहीं चलता।

इस विश्व में कोई भी विशेष नियम दूध और पानी की भाँति किसी विचार को त्रिकाल में अबाधित, निश्चित, निर्णीत करने में समर्थ नहीं हो सका। अतः प्रत्येक समीक्षक को किसी

तथ्य के निर्णय-काल में अपना बुद्धिस्वातन्त्र्य दिखलाना ही पड़ता है। ऐसी दशा में 'सर्वतोभावेन क्या ठीक है ?' इस शंका का समाधान करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। और जब ऐसा है तभी आलोचना का विशेष महत्व भी है। अन्यथा आलोचक क्षीर-नीर की भाँति सिद्ध गुण-दोष का विभाजन कर झटपट छुट्टी पा जाता। लेकिन आलोचक का कार्य इतना सरल नहीं है।

दूसरे, दूध और पानी को अलग-अलग कर दिखला देने-वाले राजहंस की तरह आलोचक की भी कोई एक निश्चित जाति, निर्णीत श्रेणी नहीं हो सकती। मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि जैसे एक के बाद शत-सहस्र राजहंस भी क्षीर को क्षीर और नीर को नीर ही कहेंगे, ठीक उसी प्रकार किसी एक ही आलोचक की आलोचना को सर्वथा समुचित मान लेने के लिए दूसरा आलोचक बाध्य नहीं किया जा सकता। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि किसी भी आलोचक से क्षीर-नीर के समान गुण-दोष के निश्चित विश्लेषण की आशा करना नितान्त निष्फल होगा।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि कोई भी आँख-वाला आदमी दिन को दिन और रात को रात ही कहेगा, फलतः दोष को गुण और सत्य को मिथ्या कहना प्रलाप होगा। किन्तु इसी स्थल पर यह भी भलीभाँति समझ लेना होगा कि दिन और रात की तरह, सत्य और असत्य, गुण और दोष का

स्थूल विभाग नहीं होता, दिन और रात ही की तरह इनका विषय पूर्व-निश्चित, चिर-निर्द्धारित नहीं है, अर्थात् नहीं हो सकता। और जो दिन-रात की तरह गुण-दोष की स्थूलतामात्र के विभाजक हैं—जैसे 'सत्य बोलना चाहिए', 'लालच बुरी बला है' जैसे सामान्य विचारों के विरुद्ध भरसक कोई कुछ नहीं कहता—उनकी ऐसी गोलमटोल आलोचना को भी आलोचना की संज्ञा देने की उदारता की जा सकती है, पर उसे आदर्श आलोचना कभी नहीं कहा जा सकता।

काव्य की आलोचना के लिए जैसे अलंकार-शास्त्र के कुछ चिर-निर्द्धारित नियम हैं, केवल उन्हीं से मिला-जुलाकर जहाँ किसी कृति के गुण-दोष का आकलन होगा, उसे ही मैं स्थूल आलोचना कहता हूँ, वही मेरे विचार से तीसरी श्रेणी की आलोचना है; क्योंकि वहाँ आलोचक की निजी मधुर मौलिकता, उसके स्वतन्त्र सहृदय व्यक्तित्व के दर्शन नहीं होते; क्योंकि वहाँ शुष्क मस्तिष्क ही काम करता है, आर्द्र हृदय नहीं; यद्यपि आलोचना के क्षेत्र में व्यक्ति को ही प्रधानता होती है; शास्त्र की समतल भूमि को स्वयं ही सहृदयता से उर्वर बनाना पड़ता है। और सच तो यह कि तथाकथित अलंकारशास्त्र की लीक पीटनेवाली आलोचना कृति के अत्यन्त स्थूल स्थल पर जमी रह जाती है। वह विघटित करने की जितनी आदी होती है, उतनी सघटित करने की नहीं। इतना ही नहीं, वह जीवन की अपेक्षा शरीर के अंग-प्रत्यंग के सूक्ष्म निरीक्षण में ही अधिक व्यस्त

रहती है। आरम्भ से अवसान तक, अणु-परमाणुओं को मिला-कर, समष्टिगत सौन्दर्य्य पर सहृदय दृष्टि डालते वह नहीं देखी गई। और मैं पहले कह चुका हूँ, निर्दोष निर्माण असम्भव है। अतः अवश्यम्भावी दोष-गुणों के विश्लेषण में सम्पूर्ण शक्ति को क्षीण कर देने का उसे अनायास अवसर प्राप्त हो जाता है, इससे एक कदम आगे बढ़कर कृतिकार के साथ सहानुभूतिशील वह बने तो कब बने ? फिर भी जिस एक अंग की पूर्ति वह कर पाती है, उसकी एकान्ततः उपेक्षा-अवहेलना आलोचना के वर्तमान विकसित युग में भी अवांछनीय है। जिस प्रकार ब्रज-भाषा का, असंयत शृङ्गार का साहित्य, इस समय किसी के लिए आदर्श न हो सकने, अनुकरणीय न हो सकने पर भी साहित्य की व्यापक भूमि से, सहृदयता के सुरम्य प्रदेश से निष्कासित नहीं हो सकता। अस्तु

ऐसी दशा में कृतिगत सम्पूर्ण समुचित निर्णय का गुरुभार किसी भी एक आलोचक के ऊपर विश्वासपूर्वक नहीं लादा जा सकता। तभी मैंने कहा कि आलोचक हंस नहीं है, क्षीर-नीर की तरह सत्य-असत्य पर दिया हुआ उसका निर्णय ही अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता।

यहाँ कहा जा सकता है कि किसी एक मर्यादा को मान-कर न चलने से तो कभी भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। सचमुच ही ऐसा होने का खतरा है, यदि पाठक को अपने दिल और दिमाग का आसरा एकदम ही छूटा रहेगा;

किन्तु कृति की सर्वांगीण समीक्षा के लिए आलोचक को तो निर्मर्याद, उच्छृङ्खल होना ही पड़ेगा। इसीलिए 'रसज्ञ' आलोचक ने 'रीति' को काव्य की आत्मा नहीं माना। 'ध्वनि-मर्मज्ञ' ने 'अलंकारों' के आगे अपना मस्तक नहीं झुकाया; अर्थात् किसी पूर्व-निगड़ित शृङ्खला को तोड़कर ही नवीन आलोचक को आगे बढ़ना पड़ता है। उसे रोक रखने से कृतिगत नव-नव-सौन्दर्य्य के उन्मेष की सम्भावना जाती रहेगी। जो हठ से केवल प्राची नता-प्रिय हैं, उन्हें प्रसन्न करने के लिए, कम से कम मौलि आलोचक को तो आत्महत्या नहीं करनी चाहिए।

फिर आलोचना का आदर्श क्या हो सकता है ?—मै कहूँगा, आलोचक के चतुरस्र सौन्दर्य्य के अन्वेषण तथा रस-बोध का आकुल आवेग; कृतिकार के साथ सहानुभूतिमूलक आत्मीयता से उत्पन्न रसमय विवेक-प्रवाह। सहानुभूति से मेरा तात्पर्य्य त्रुटियों को घोल-घालकर पी जाने से नहीं, कृतिकार के हृदय के साथ एकतान होकर, उसी के इङ्गित-चेष्टितों को हृदयंगम करने के लालसामय प्रयास से है। अर्थात् आलोचक को मूल लेखक के साथ एकप्राण होकर देखना होगा कि उसने किस प्रकार किसी सौन्दर्य्य को सजीव करने का प्रयत्न किया और उसमें वह कितनी दूर तक सफल हो सका। क्योंकि आलोचना वीणा या ध्रुपद का पद नहीं, तारों की झंकार और गायक के सुरों से सामंजस्य स्थापित करनेवाला संगीत है; क्योंकि आलोचना कोकिला या रसाल की डाल नहीं, किन्तु स्वर और

सौरभ को मिश्रित कर मुसकिराने वाली वसंत-श्री है।

मैं इसे एक उदाहरण के द्वारा सुस्पष्ट करने की चेष्टा करूँगा। दुष्यंत-शकुंतला के प्रथम उच्छ्वसित प्रणय-मिलन के पश्चात् कालिदास ने जो दुर्वासा के शाप की कल्पना की है, उस पर कवींद्र रवींद्र कहते हैं—

"जिस प्रेम में कोई बंधन नहीं, कोई नियम नहीं, जो प्रेम अकस्मात् नर-नारी को मोहित करके संयम-दुर्ग के भग्न-प्राचीर के ऊपर अपनी जय-पताका को गाड़ता है, उस प्रेम की शक्ति को कालिदास ने स्वीकार किया है, किन्तु उसके हाथ आत्म-समर्पण नहीं कर दिया। उन्होंने दिखलाया है कि जो असंयत प्रेम-सभोग हमलोगों को अपने अधिकार से प्रमत्त या कर्तव्य-च्युत कर देता है वह स्वामि-शाप से खंडित, ऋषि-शाप से प्रतिहत और दैवरोष से भस्म हो जाता है। शकुन्तला को आतिथ्य धर्म का खयाल नहीं रहा, वह दुष्यन्त के ही ध्यान में मग्न रही। उस समय शकुन्तला के प्रेम का मंगल-भाव मिट गया। जो उन्मत्त प्रेम अपने प्रेम-पात्र को छोड़ कर और किसी को कुछ भी परवाह नहीं करता, उसके विरुद्ध सारा संसार हो जाता है। इसी से वह प्रेम थोड़े ही दिनों में दुर्भर हो जाता है। वह सबसे विरुद्ध होकर अपना अस्तित्व बनाए रखने में असमर्थ हो उठता है।"

इन उदात्त विचारों के बारे में शायद ही किसी समझदार पाठक के हृदय में द्विधा हो। जान पड़ता है, जैसे कालिदास

के पहलू में पैठ कर उन्हीं के असली अभिप्राय को रवींद्रनाथ समझा रहे हैं, जैसे स्वयं कालिदास भी दुर्वासा के शाप का इससे अच्छी सार्थकता नहीं सिद्ध कर सकते।

किंतु एक दूसरे गहरे आलोचक (डी० एल० राय) की दृष्टि में दुर्वासा-शाप की कल्पना थोथी है, लचर है, ओछी है। इतना ही नहीं, रवींद्रनाथ की उपर्युक्त 'आध्यात्मिक' व्याख्या भी कालिदास की खुशामद है, चापलूसी है, उसका वास्तविक मूल्य कुछ भी नहीं। वे कहते हैं—

"शकुंतला अपने पति के ध्यान में मग्न थी। पति ही ज्ञान, पति ही ध्यान और पति ही सर्वस्व, यही क्या आदर्श सती पतिव्रता का लक्षण नहीं है? जो परम धर्म माना गया है, उसी का पालन करने के कारण ऐसा कठोर शाप?

"शकुंतला कुछ आठों पहर दुष्यंत के ध्यान में नहीं डूबी रहती थी। वह खाती-पीती थी, बातचीत करती थी, उठती-बैठती और घूमती-फिरती थी। हो सकता है कि एक दिन सन्नाटे में, सबेरे के सुहावने समय में, निर्जन स्थान में, शांत तपोवन के बीच, कुटीर-प्रांगण में बैठकर, शून्य दृष्टि से दूर आकाश या स्तब्ध प्रकृति को देखती हुई नवोढ़ा विरहिणी शकुंतला पति के बारे में सोच रही हो,—सोचते-सोचते उसकी आँखों के आगे से सारा जगत् लुप्त हो गया हो। नव-विवाहिता प्रथम-विरहिणियों का ऐसा हाल हुआ ही करता है। यह पाप या

करुण शाप के योग्य काम नहीं है। उस समय वह असीम अनुकम्पा की पात्री थी, क्रोध की नहीं।

"इसमें संदेह नहीं कि कालिदास की यह अभिशाप की कल्पना अत्यंत अनिपुण हुई है।"

अपने-अपने स्थान पर दोनों ही आलोचक "परम तथ्य" का प्रतिपादन करते नजर आते हैं। मगर दृष्टिकोण में कैसा आकाश-पाताल का अंतर! एक ही दृष्टि में जो कालिदास की सर्वश्रेष्ठ निपुणता है, वही दूसरे की दृष्टि में एकदम छिछोरापन है। तीसरी श्रेणी के नाटक के उपयुक्त अयुक्तियुक्त कल्पना है। क्यों न हो, आलोचना के लिए कोई खास सिद्धांत, कोई खास दृष्टिकोण तो नियत है नहीं! आलोचक अपने मस्तिष्क पर भरोसा रखकर, अपना दिल पिघला कर मूल लेखक के दिल और दिमाग को टटोल रहा है, छू रहा है और तदनुकूल उपपत्तियाँ अपने आप निर्मित होती जा रही हैं। मैं इसे ही आदर्श आलोचना कहता हूँ।

यहाँ जो परम से भी बढ़कर चरम तथ्य के निर्णय के लिए साहस करेगा, वह भी होगा प्रौढ पाठक का रसप्रवण उदार हृदय ही, भाव-ग्रहण-पटु स्वतंत्र मस्तिष्क ही। दोनों के तारतम्य का, दो विभिन्न दृष्टिकोणों के सामंजस्य का, ठीक-गलत का निबटारा वही अपने आप करेगा। जिसके पास ऐसा हृदय या मस्तिष्क नहीं, वह या तो कालिदास के, नहीं

नहीं, अखिल काव्य-कला-तत्त्व के अध्ययन का अधिकारी नहीं हो सकता, अथवा उसे 'रीति-स्कूल' की, प्रत्येक पंक्ति पर तैयार की हुई गुण-दोष-अलंकार की सूचीवाली 'संस्कृत-समीक्षा' से संतोष करना पड़ेगा।

लेकिन ऐसा कहने का मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि आदर्श आलोचक का कार्य सरल-हृदय पाठक को केवल संशय के गहरे गर्त में डाल देना है। नहीं, उसका तो सबसे बड़ा कार्य उसे निःसंशय करना ही है। किन्तु 'वेदाज्ञा' की भाँति नीरस अनुशासन द्वारा नहीं, अपनी सहृदयता के प्रभाव से, अपनी असंदिग्ध विदग्ध उपपत्तियों के प्रवाह से। उसके पढ़ते समय यदि पाठक का हृदय आर्द्र हो कर उसके साथ बह न गया, जैसा कि वह आलोच्य विषय के साथ स्वयं अपने आप को बहा देता है; यदि उसकी अहृदयंगम युक्तियों ने पाठक को रुक-रुक कर उचित-अनुचित का 'व्यर्थ' विवेचन करने के लिए अवसर दिया; यदि उस समय उसने अपने ही विवेचन को पाठक से परम तथ्य नहीं मनवा लिया; अपनी ही सहृदयता के अजस्र रस-स्रोत से पाठक के हृदय का कोना-कोना भर न दिया तो उसे आदर्श आलोचक की उच्च आख्या प्रदान करने की कोई आवश्यकता नहीं। जो भाषा के बहाव से जड़ भाव को, उपमाओं और रूपकों से अपनी स्वय की संशयावस्था को छिपाने में व्यस्त है, उसी कृत्रिम आलोचक की वाचलता से सावधान-सतर्क रहना पड़ता है। जो शास्त्रीय सिद्धांतों का बोझ पाठक

के सिर पर लादता है, बात-बात में जिसे ऋषियों और आचार्यों के नामों की दुहाई देनी पड़ती है, जिसे अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहना रहता, उसी शिशु आलोचक की उक्ति-युक्तियों पर दृष्टि डालनी पड़ती है ! किन्तु जो आत्म-प्रकाश में निःसंशय है, अपने तर्कों में सुस्पष्ट और उज्ज्वल है, अपनी भावना-धारा में आप बह गया है, उस आदर्श आलोचक के सरस भाव-सागर में डूबे-उतराए बिना भावुक पाठक रह कैसे सकता है ?

यह ठीक है कि उसके निजी विचारों को चिरकाल तक उसी के मँजे गले से अलापते रहने के लिए वह अपने नवीनता-प्रिय पाठक को वाध्य नहीं करता। यथासमय पाठक स्वतंत्रता से अन्यान्य आलोचकों के उच्च-तुच्छ विवेचनों के साथ उसके विचारों एवं उद्‌गारों के उच्चावच की परीक्षा कर सकता है। सच तो यह कि आदर्श आलोचक पाठक को अपने विचारों का भारवाही बना ही नहीं सकता। उसका काम तो पाठक को एक 'आलोचक की सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण दृष्टि' प्रदान करना ही है। वह अपने पाठक को भी स्वतंत्र आलोचक बना देना चाहता है, तभी तो वह तुलनात्मक आलोचना के समय उसके विचार--व्यक्तित्व का विवेचन कर सकेगा।

तो, आदर्श आलोचना में यही देखा जायगा कि आलोच्य विषय के साथ स्वयं तन्मय होकर वह कहाँ तक पाठक के संशय-संदेह, जिज्ञासा-कुतूहल को शांत कर सकती है; उसे परितृप्त तथा तन्मय कर सकती है; अपने में घुला-मिला ले

सकती है। उसे परमार्थ सत्य प्रदान करने का दंभ तो करना ही नहीं चाहिए। उसका काम पाठक के किसी 'भाव-विशेष, सौंदर्य-विशेष की अनुभूति के अयोग्य, अलस-निमीलित हृदय, स्वप्निल-तंद्रिल सहृदयता तथा सहानुभूति को आवश्यकतानुसार उन्मिषित, विकसित कर देना ही है। कृतिकार के कलातत्व को उसने जैसा समझा उसे पाठक के हृदय में स्वच्छतया अंकित कर देना, कलाकार ने जो कल्पना की, पाठक को उसकी अनुभूति करा देना, यही आदर्श आलोचना है।

वस्तुतः रामचंद्र शुक्ल की आलोचनाएँ चरम सत्य का फैसला नहीं देतीं। ऐसा करना उनकी शक्ति-सामर्थ्य से बाहर की बात है। सचमुच ही 'सूर-सूर तुलसी शशी' अनुप्रास के लोभ से नहीं कहा गया, जैसा कि 'तुलसी' की आलोचना करते समय उन्होंने लिखा है। किन्तु अपनी अबाध गति आलोचना के क्लाइमेक्स पर पहुँचकर जहाँ उन्होंने वैसा लिखा है, वहाँ कोई भी सहृदय पाठक उनके कथन में संशयालु नहीं हो सकेगा। यही नहीं, उन्होंने तुलसीदास के जिन सामाजिक, धार्मिक व्यापक दृष्टिकोणों का वहाँ उल्लेख किया है, उनकी जैसी दिव्य भावनाधारा का परिचय दिया है, वह सब भी तो तुलसीदास का न होकर उन्हीं का है, किन्तु उसके अध्ययन-काल में हमें जो तुलसीदास के हृदय में हृदय मिला देने जैसा सुख-सन्तोष प्राप्त होने लगता है, यही आदर्श आलोचना है।'

आलोचक की सबसे बड़ी सफलता यही तो है कि वह

भ्रम से भी पाठक को यह सोचने का अवसर न दे कि वे विचार निश्चितरूप से मूल कृतिकार के नहीं, किन्तु उसी आलोचक के हैं। और ऐसा तभी हो सकता है, जब वह आलोच्य-विषय के अन्तरंग में प्रविष्ट होकर, उसका मर्म मालूम करने के लिए अहर्निश साधना करता है, उससे एकतान होकर उसका अनाहत नाद सुन लेता है। और तब जो उसकी अनुभूतियों का सहज उद्‌गार होता है, वही आदर्श आलोचना है, वही आलोचना का आदर्श है।

नवम्बर '४०



हिन्दी काव्यालोचन का क्रमिक विकास

१

विश्व के सब से प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। उनका दूसरा नाम छन्द भी है। और वे छन्द-बन्ध की शोभा-सुषमा लिए हुए तो हैं ही।

ऋग्वेद में, जो वेदों में भी सब से प्राचीन है, उषास्तुति की ऋचाएँ उच्च कोटि की कविताएँ हैं। इससे सिद्ध होता है कि गद्य की अपेक्षा पद्य बहुत अधिक पुराना है; हमारा आदि या अनादि सत्यचिंतन पद्य के माध्यम से ही प्रकाशित हुआ है; हम आरंभ से ही कवि हैं।

इसके बाद लौकिक काव्य-निर्माताओं में सर्व-प्रथम महर्षि वाल्मीकि का नाम आता है। वे आदि कवि हैं, और उनका आद्य उद्गार—प्रथम शोक—भी श्लोक बनकर ही बाहर निकला है। इस प्रकार विश्व के सर्वाधिक प्राचीन साहित्य—वेदों को गोदियों खेलानेवाली संस्कृत-भारती जैसे पुकार-पुकारकर यह कह रही है कि हमारे यहाँ, गणित-आयुर्वेद, अर्थशास्त्र-राजनीति जैसे शुष्क विषय ही नहीं, कोष तक काव्यमय हैं, एक शब्द में—हम पहले कवि हैं, फिर और कुछ।

इस अखंड सत्य की पार्श्वभूमि में जो एक तात्कालिक असाधारण कारण निहित है, उसे हम में से सभी जानते हैं, यहाँ उसका दुहराया जाना अधिक आवश्यक नहीं है। विशेष-

तथा तब, जब कि ऐतिहासिक या कपोलकल्पित अनेक हेतुओं के बावजूद भी आज तक भारत का काव्य-साहित्य ही सर्वाधिक संपन्न (rich) रहा है।

इस अवसर पर 'जावर्ट' की उस उक्ति का स्मरण हो आता है, जिसमें बताया गया है कि काव्य के द्वारा तुम 'सत्य' तक पहुँच सकते हो, क्योंकि 'सत्य' के द्वारा मैं काव्य तक पहुँचता हूँ। 'You arrive at truth through poetry; I arrive at poetry through truth.' 'बेली' ने भी कहा है, वे सभी कवि हैं, जो 'परमसत्य' को प्यार करते हैं; अपने भीतर उसका अनुभव करते हैं; और उसे सब पर प्रकाशित कर देने की, हृदयंगम करा देने की, क्षमता रखते हैं। 'Poets are all who love and feel great truths and tell them.'

कहने का तात्पर्य्य यह कि काव्य ही सत्य के अधिक समीप है। जान पड़ता है, मानवजाति के सर्वोत्कृष्ट आदर्श—सत्य को, सब से अधिक समीप से निरखने-परखने और सहृदय-हृदय-संवेद्य बना सकने की सामर्थ्य रखने के कारण ही, काव्य अनादि काल से सर्व-जन-सम्मानित होता आ रहा है।

किन्तु अतीत के दिव्य-मन्दिर की स्वर्णिम देहली पर मणिदीप के जलते रहने पर भी, हमारा वर्तमान युग-गेह नवाविष्कृत विद्युत्प्रकाश से ही प्रकाशित है। और ऐसी दशा में हम चारण-बन्दी के मन्द-मधुर सुर से भूत-गाथा का गान

निरर्थक समझकर, संक्षेप में यही कहकर आगे बढ़ते हैं कि वह छन्दसंगीत-संकुल आर्य साहित्य क्रमशः गद्यमय होता गया है। प्रशांत जीवन का स्वर्गीय संगीत विश्व-समाज के संघर्ष से दबकर ज्यों-ज्यों दम तोड़ता गया है, त्यों-त्यों विश्व साहित्य में गद्य का, नहीं-नहीं, मोल-तोल करनेवाली बाजारू जुबान का, क्रमशः प्रचार-प्रसार बढ़ता गया है।

और आज, गद्य 'काव्य' नहीं, काव्य 'गद्य' हो गया है। यों कहें, आज के गद्यमय गोधूलिकाल में, धूलि-धूसरित दिशाकाश के नीचे कवि मानों काव्य के पराजयजन्य भावी भयंकर विद्रोह के विशृंखल गीत रच रहा है!

हिन्दी में, चन्द बरदाई से लेकर भारतेंदु हरिश्चन्द्र तक अनेक घूर्णित-आवर्त-तरंग-भंगों के बीच से उखाड़-पछाड़ खाती हुई काव्य-धारा एक सीमा तक गद्य को अपना चुकी थी। अब हिन्दी का काव्य केवल पद्यात्मक न था, वह अपने अपर अंगों—नाटक, आख्यान, निबन्ध आदि—के साथ-साथ चलने लगा था। हम कहें, एक खास शैली के भीतर से, एक खास शैली की कविता की जो बाढ़ अविराम बही आ रही थी, वह गद्य को भी एक निश्चित प्रश्रय देनेवाले भारतेन्दु तक आती-आती लगभग सूख चुकी थी। यद्यपि अभी उसका अस्तित्व नहीं मिट गया था, स्वयं भारतेन्दु और उनके बाद भी सत्यनारायण कविरत्न, रत्नाकर, वियोगी हरि आदि उसी की टूटती हुई साँस की तरह अवसर-अवसर पर बाहर आए, लेकिन

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि गद्य के कन्धे से कन्धा भिड़ाए पद्य बहुत दूर तक चल ही नहीं सकता, अगर वह पद्य 'गीतगद्य' न होकर निश्चित रूप से पद्य हो,—कविता हो। यह हमारी कपोल कल्पना नहीं, अध्ययनशील व्यक्ति हिन्दी के वर्तमान साहित्य में भी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त कर सकते है।

तो, नीरस भाषा में हम इसे यों भी कह सकते हैं कि कालिदास आदि महाकवियों के महाप्रयाण के अनन्तर—काव्य-युग समाप्त हो जाने पर,—संस्कृत में, जिस प्रकार आलोचना का बाजार गर्म हुआ; अच्छी से अच्छी कविताओं में राशि-राशि दोष निकालने के लिए एँड़ी-चोटी का पसीना एक किया जाने लगा; आदर्श और सिद्धांत की बलि-वेदी पर मौलिकता का गला घोटा गया, और, फिर पंडितराज की फौलादी कसौटी पर कसी जाने के बाद तो संस्कृत-काव्य परंपरा ही न जाने कितने काल तक के लिए कालकवलित हो गई, ठीक उसी प्रकार तुलसी-सूर-कबीर-केशव-देव-बिहारी जैसे महाकवियों के मर चुकने के बाद, भारतेन्दु-युग में उनकी काव्यालोचनाओं का श्रीगणेश हुआ, और द्विवेदी-युग में उसी का बहुत विस्तार होता गया, उसके बाद छायावादी युग में, खड़ी बोली के 'क्लासिकल' कवि आलोचित हुए और आज प्रगतिशील युग में छायावादी कविताओं की अन्धाधुन्ध आलोचनाएँ जारी हैं। अर्थात् कविता के ह्रास के साथ-साथ आलोचना-साहित्य का क्रमिक विकास होता जा रहा है।

यह सब हम आलोचना-साहित्य की प्रशंसा में ही कह रहे हैं। सुना है, जब भक्त का सब कुछ हर लेते हैं, तभी भगवान प्रसन्न होते हैं। फिर, यदि भगवान की प्रसन्नता भक्त के लिए वन्दनीय है, तो निःसन्देह आलोचना का विकास भी साहित्य के लिए अभिनन्दनीय।

चतुर आलोचक इसी बात को यों कहते हैं कि जबतक प्रचुर परिमाण में काव्य निर्मित नहीं हो जाता, तबतक आलोचना हो भी तो काहे की हो! इसलिए, जिस प्रकार पहले भाषा बनती है, पीछे व्याकरण, उसी प्रकार पहले कवि होते हैं, पीछे आलोचक। ठीक ही है, शेक्सपियर-मिल्टन आदि न होते तो क्यों उन पर शत-शत समीक्षाएँ लिखी जातीं? कैसे अंग्रेजी का (पाश्चात्य) साहित्य आलोचनामय हो जाता? और, उन्नीसवीं शताब्दी के सभ्यता विनिमय (भावना-संक्रांति) काल से लेकर आज तक भारत के प्रत्येक साहित्य में उसी प्रकार की समीक्षाओं की कोशिशें चलती रहतीं?

यहाँ हमारा तात्पर्य अपरिवर्तनवादी, रूढ़िग्रस्त या संकुचित नहीं, विदेशी प्रवृत्तियों के स्वागत के विषय में हम अपने हृदय की संकीर्णता का वर्णन नहीं कर रहे, हम तो केवल वस्तु-स्थिति का पता बता रहे हैं कि कैसे यहाँ की काव्यालोचन-शैली रीति-स्कूल की रूढ़-रीतियों को दाएँ-बाएँ छोड़कर आज यहाँ तक आ पहुँची है, 'अप-टु-डेट' या 'माडर्न बन गई।

२

भारतेंदु ने आधुनिक हिंदी साहित्य की एक 'अष्ट-धातुमयी' प्रतिमा निर्मित की, और आचार्य द्विवेदी द्वारा उसकी प्राण-प्रतिष्ठा का समारोह-कार्य संपन्न हुआ। प्रतिमा-निर्माण के समय जितने 'मॉडिल्स' पेश किए गए थे, प्राण-प्रतिष्ठा-समारोह में उसी के अनुपात से 'मंत्र-स्वर' भी सुनाई पड़े। प्रत्येक प्रांत के अभिज्ञ प्रतिनिधि उस अनुष्ठान में आमंत्रित थे। अंततोगत्वा हिन्दी-साहित्य की 'सरस्वती' साकार ही नहीं, सजीव, सुगठिता-वयवा एवं सुन्दरी बनकर भक्त-जन को कृतार्थ कर चली।

किंतु हमें तो यहाँ 'मंत्र-स्वर' पर ही विचार करना है। क्योंकि सभी महर्षि एक-से सिद्धहस्त स्वर-साधक न थे। किसी को उदात्त स्वर पसंद था, किसी को अनुदात्त, शेष स्वरित को सँभालने में अस्त-व्यस्त थे। और, इसीलिए समारोह सभार के अनुसार प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पाई, मेरा अभिप्राय 'पंच-प्राण-प्रतिष्ठा' से है। तो भी उस समय की 'सरस्वती'-मूर्ति गनीमत थी।

उसके बाद, नव्य-भव्य सोपान से मंद-मंद अवतरण का आरंभ हुआ। हमें इसे विकास ही कहना चाहिए। 'सरस्वती' संयम-दुर्ग से घिरी रहने के कारण, युग की स्वतंत्रतोन्मुख आकुलता के आवेग से पीछे पड़ने लगी। और हिन्दी में नवीन 'इन्दु' का उदय हुआ। उसके पीछे कई-कई तारिकाएँ भी 'नई रोशनी' फैलाती आईं। और चूंकि नवीनता नित्य-नित्य प्रगतिशील है, आज सब ओर नया ही नया आलोक

फैला हुआ है।

'सरस्वती' से ही नियमित रूप से आलोचना को एक सुदृढ़ स्तंभ मिला। आचार्य द्विवेदी, पंडित पद्मसिंह शर्मा आदि आदिम आधार बने। श्रेणी-विभाग के हिसाब से, आधुनिक हिंदी में आलोचना की तीन क्रमिक विकासशील श्रेणियाँ अबतक सामने आ चुकी हैं। पहली श्रेणी को हम 'क्लासिकल' कह सकते हैं, दूसरी को 'रोमांटिक' और तीसरी को 'प्रोग्रेसिव' या प्रगतिशील। यह क्रम-विभाग भी काव्य के परिवर्तनशील स्वरूप को लक्ष्य कर ही किया गया है।

पहली श्रेणी के आलोचकों में आचार्य द्विवेदी, पंडित पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र, लाला भगवान दीन, मिश्रबंधु, श्यामसुन्दर दास और रामचद्र शुक्ल विशेष उल्लेख्य हैं। यों तो द्विवेदीजी पथ-प्रदर्शकमात्र रहे। लाला भगवान दीन एक प्रामाणिक टीकाकार; ब्रज-हिंदी के 'मल्लिनाथ'। रामनरेश त्रिपाठी और मिश्रबंधु एक प्रकार से हिंदी के विकासोन्मुख साहित्य-संगीत के केवल स्वर-लिपिकार। श्यामसुन्दर दास पश्चिमी साहित्यिक सम्मान्य सिद्धान्तों की हिंदी में प्रतिध्वनि करने वाले, परिचायक। पद्मसिंह शर्मा और कृष्णबिहारी मिश्र हिंदी में तुलनात्मक आलोचना के प्रथम लेखक। किंतु सब मिलाकर, पद्मसिंह शर्मा की भाषा-प्रधान आलोचन-शैली क्रमशः भावोन्मुख होती हुई रामचंद्र शुक्ल के समीप आकर पूर्ण प्रौढ़ एवं पुष्ट हो गई है। वस्तुतः रामचंद्र शुक्ल ही उस श्रेणी के सर्वश्रेष्ठ

आलोचक हैं। आपकी तुलसी-जायसी आदि पर की हुई गंभीर आलोचनाएँ किसी भी साहित्य का मुख उज्ज्वल करनेवाली आलोचनाओं के आगे उन्नत-मस्तक एवं तेजस्वी सिद्ध होंगी। इस प्रकार ब्रज-भाषा के मरे हुए कवियों के अमर साहित्य की प्रामाणिक आलोचनाएँ खड़ी बोली के प्रथम सुव्यवस्थित काल—द्विवेदी-युग में हुईं। यहाँ हम अपने जिस दृष्टिकोण की बार-बार याद दिला रहे हैं, तदनुसार विचार करने पर ज्ञात होगा कि द्विवेदी-युग के जीवित आलोचक अपने ही समय की, नई (शैली) कविताओं की आलोचना में निर्जीव सिद्ध हुए। मेरा इशारा पंत-प्रसाद-निराला और महादेवी की सुन्दर रचनाओं की ओर है, जिन्हें रोमांटिक या छायावादी काव्य कहा जाता है। फिर 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' इस उक्ति पर भी वे कायम नहीं रह सके, क्योंकि वे कटु-कुत्सित शब्दों की कंटकित मालाएँ पहिनाकर अक्सर उनका स्वागत करते रहे, केवल प्रशंसा करने से ही उन्हें परहेज रहा।

गुप्त और हरिऔध तो खड़ी बोली के पौराणिक कवि हैं। उनकी नवीनता रीति-स्कूल के आलोचकों के लिए प्राचीन ही थी, वहाँ तक वे दौड़ लगा लेते थे। किंतु उनकी विस्तृत आलोचनाएँ भी सुस्पष्ट रूप में छायावादी युग में ही हुईं, उन पर कई-कई पुस्तकें लिखी गईं।

छायावादी कविताएँ प्राचीन-दृष्टि में कुछ जँचती न थीं, उनकी अछूती सुन्दरता को वह छू नहीं पाती थी। आज

'सिंह' कवि का 'हुआँ-हुआँ' मुख-पृष्ठ पर सतरंगी स्याहियों से छापा जाता है, मगर उस समय 'निराला' की 'जुही की कली', 'शेफाली' 'सरस्वती'-पूजा की 'साजी' मे नहीं सजाई जाती थी, मंदिर का कूड़ा फेंकनेवाली टोकरी में पड़ी रहती थी। ऐसा था वह सांप्रदायिक युग। मंदिर के फाटक पर ही मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा रहता था—"मत्सेवकेतराणां (नव-पथ-पथिकानाम्) प्रवेशो निषिद्धः। हाँ, तो प्राचीनों ने उन्हें फिर से 'खद्योत' होने का अमिट अभिशाप देकर गुप्त और हरिऔध को मानों 'वाल्मीकि' और व्यास; तुलसी और सूर;—अर्थात् 'सूर' और 'शशी' होने का वर दिया। किंतु समय से बढ़कर निष्पक्ष आलोचक और कोई नहीं। कविता के सौभाग्य मे 'वाल्मीकि' और 'व्यास' 'त्रयी' के आगे मंद पड़ गए। इस युग का काव्य-प्रतिनिधित्व पंत-प्रसाद-निराला के हाथों रहा।

शुक्लजी ने एक वृहत् ग्रंथ लिखकर छायावादी कविताओं का परिहास करना चाहा, किंतु उसका निबंधात्मक उत्तर 'प्रसाद' जी ने दे दिया। यह एक कटु सत्य है कि इस युग पर शुक्लजी की आलोचनाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। 'पल्लव' की भूमिका में पंतजी ने नवीन आलोचकों को आमंत्रित किया। निरालाजी ने तो अपनी (काव्य) धारा के द्वारा साफ-साफ कहला दिया—

बहने दो, रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की, किसे देख झुकती है?

जिस प्रकार 'पल्लव' की छाया पर उस समय के अनेक छायावादी कवि चल निकले, उसी प्रकार 'पल्लव' की भूमिका ने भी आगे चल कर सुन्दर हिंदी में मधुर विचार-उद्गार प्रकट करनेवाले एक हृदयपक्षीय व्यक्ति को व्यक्त किया। शांतिप्रिय द्विवेदी का काव्यलोचन बहुत कुछ वैसी ही भाव-भंगिमा की भूमि पर है।

निरालाजी के लेखों ने तात्कालिक काव्यालोचना को एक नई दिशा के दर्शन कराए। पंतजी के बारे में सबसे पहला लेख निरालाजी ने ही लिखा था। आपकी शैली काव्यमय एवं रोचक तो है ही, प्रौढ़ तथा परिष्कृत भी है। आपके काव्य संबंधी सिद्धांत भी अपने हैं। वे सर्वमान्य चाहे न भी हों, किंतु मौलिक तथा महत्वपूर्ण तो हैं ही। आपकी लिखी 'प्रबध-पद्म' और 'प्रबंध-प्रतिमा' निर्भीक काव्यालोचन के ज्वलंत उदाहरण हैं।

प्रसादजी के काव्यलोचन संबंधी निबंध शास्त्रीय बोझ से बोझिल हैं। उनकी भाषा नीरस तथा भाव दुरूह हैं। उनके संपूर्ण साहित्य में जो बौद्धिकता बोलती है, वह यहाँ उग्र रूप धारण कर बैठी है। हम कहते हैं, उनमें जितनी प्रौढ़ता है, उतनी स्वाभाविकता नहीं; जितनी विदग्धता है, उतना रस नहीं; जितनी चेतना है, उतना आनंद नहीं है।

श्यामसुंदर दास और शुक्लजी द्वारा रीति स्कूल के काव्यालोचन-लोक में जो पाश्चात्य आलोक आ पहुँचा था,

दूसरी श्रेणी के आलोचक वर्ग ने उसमें अन्य-अन्य रंगों की रंगीनी भरना शुरू कर दिया। इस श्रेणी के प्रमुख आलोचक समयानुसार प्रायः इस प्रकार हैं—पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, गुलाब राय, नंददुलारे वाजपेयी, इलाचंद्र जोशी, रामनाथ 'सुमन', शांतिप्रिय द्विवेदी और हजारी प्रसाद द्विवेदी।

बक्शीजी का 'विश्व-साहित्य' हिन्दी में अपने ढंग का अकेला ग्रंथ है। इधर 'जैनेंद्र के विचार' भी एक सुन्दर प्रकाशन हुआ है। किंतु आलोचनात्मक विकास की दृष्टि से इन दोनों में कोई तुलना नहीं।

गुलाबराय द्विवेदी-युग की साम्प्रदायिकता में पनप कर भी नवीनता को अपनाने मे शुक्लजी की भांति अनुदार नहीं रहे हैं। यह दूसरी बात है कि उनका कोई मौलिक सिद्धांत नहीं, आलोचना की शैली पर कोई अपनी खास छाप नहीं है, सब मिलाकर वह एक संपादकीय ढर्रे के चलते आलोचक हैं, किंतु हम उनकी प्रौढ़ सहृदयता के कायल हैं, जो हमारे विचार से आलोचक का आदर्श गुण है।

पंडित नंददुलारे वाजपेयी इस वर्ग के एक विशिष्ट विद्वान आलोचक हैं। छायावाद को, जिस समय, काव्य-प्रेत की छाया समझ कर लोग डरते थे, उसी समय स्व-संपादित 'भारत' की लेखमाला में उन्हों ने उस युग के प्रत्येक प्रमुख कवि की धारावाहक आलोचना की थी। पंत-प्रसाद-निराला के लिए 'त्रयी' या 'बृहत्त्रयी' शब्द का प्रयोग प्रथम-प्रथम उन्हीं ने किया

था। हम मानते हैं, ……… कविताओं पर शुक्लजी की तरह गुरु-गंभीर शैली में …… आलोचना लिख सकते हैं। यों तो, सूर-साहित्य के वे विशेषज्ञ हैं।

इलाचंद्र जोशी की आलोचनाएँ आरंभ ही से एक भ्रांत सिद्धांत पर चली हैं, और अब तो वह अत्यंत निकृष्ट शैली पर आ गई हैं, अभी-अभी पिछले दिनों 'विशाल भारत' में प्रकाशित 'छायावाद का नाश क्यों हुआ?' उसका एक प्रमाण है। हमने उसका उत्तर 'छायावाद चिरतन है' शीर्षक निबंध में अन्यत्र दिया है, यहां उस प्रसंग से रसभंग हो जाने का भय है।

रामनाथ 'सुमन'-लिखित 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना' इस युग की एक सुशृंखलित आलोचना-पुस्तिका है। हालां कि यह उर्दू-सस्कृति का तर्ज लिए हुए एक आलोचनात्मक 'दाद' है, किंतु तारतम्य में उद्धारों को सजा देने के कारण यह एक अच्छी चीज हो गई है।

हमारा खयाल है, छायावादी (पंत-प्रसाद-निराला-महादेवी) कविताओं का काल, नई हिंदी के काव्य-साहित्य का स्वर्णयुग था। किंतु उसी समय नहीं, आजतक भी उच्चकोटि की आलोचनाओं द्वारा उस युगकी विशेषताओं का स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है। इसका कारण और लोग चाहे जो बताएँ, हमारे पूर्वप्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार निश्चय ही यह है कि उसके निर्माण-काल में यह कार्य अत्यंत कठिन था, अब वर्तमान

अ..तशील युग में कदाचित् वह हो !

क्योंकि छायावादी भावनाएँ साधारण जनता के बोध-गम्य भावों से बहुत ऊँची रहकर आरंभ ही में प्रकट हुई थीं, फिर 'तुलसीदास' और 'कामायनी' तो जनता की मनःस्थिति को बहुत पीछे छोड़कर आगे निकली हुई वस्तु हैं। ऐसी दशा में जनता का साथ छूटता जाना स्वाभाविक ही था। इधर विश्व-प्रांगण में नित्य-नित्य बढ़ती हुई जड़वादिता के अनुकूल जनवाद की सीधी-सादी बातें भी जोर मारने लगीं; ज्यादा अच्छी लगने लगीं। और स्वाभिमानी छायावाद सामंतशाही मनोवृत्ति की तरह इने-गिने लोगों के बीच ही सम्मानित होता रह गया।

उसका सर्वांगीण अध्ययन जैसे व्यर्थ प्रतीत होने लगा। अत्यंत प्रयत्न पर भी उसे 'बढ़े चलो, बढ़े चलो, कामरेड्स, बढ़े चलो' के साथ 'क्विक मार्च' करना नहीं आ सकने के कारण लज्जित होना ही पड़ा। क्योंकि बाजारू आलोचक उसे झटपट नहीं समझ सकने के सबब, और प्रगतिशील श्रेणी में से अपना नाम कट जाने के खौफ से भी झुँझला कर जल्दी-जल्दी चलते बने।

क्योंकि पं० रामचंद्र शुक्ल की तरह स्थिर, गंभीर, धुरंधर आलोचक फिर नहीं आया। सुस्पष्ट शब्दों में, किसी भी एक आलोचक में छायावादी कविताओं की अखिल-निखिल विशेषताओं को अधिकारपूर्वक, सम्यक् रीति से, समझने-समझाने की योग्यता नहीं दीख पड़ी। संस्कृत-हिंदी-अंग्रेजी-बंगला की प्राचीन नवीन अशेष काव्य-धाराओं की सम्मिलित कल्लोलिनी के

अंतःस्तर से भरकर निकली छायावाद की संक्रांत सरणि की सुपरिष्कृत व्याख्या नहीं हुई। यद्यपि स्वयं छायावादी कवि भी उसे अत्यन्त आकस्मिक नहीं मानता। वह तो अतिशय विनम्र शब्दों में निवेदन करता है कि—

'विश्व की ही वाणी प्राचीन,
आज रानी बन गई नवीन।'

किंतु फिर भी इस युग में नाना मुनियों के नाना मत सुनने को मिले, जिनसे भविष्य के मार्मिक आलोचक को पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होगा। अस्तु।

शांतिप्रिय द्विवेदी की काव्यालोचन शैली सर्वाधिक मधुर, मनोहर एवं अपना अपनापन लिए हुए है। हम कहें, जिस प्रकार छायावादी कवियों ने छोटे-छोटे गीतिकाव्यों के माध्यम से अपने हृदय के उद्गार व्यक्त किए हैं, उसी प्रकार इन्हों ने भी छोटे-छोटे गीतिकाव्यात्मक निबंध (Lyrical criticism) लिखे हैं। इन निबंधों की संगीतझंकृत भाषा जैसे तरल तरंग है और उसके भीतर भावुक आलोचक का अमल अंतरंग। इनकी 'साहित्यिकी', 'संचारिणी' 'कवि और काव्य' आदि पुस्तकें अपनी शैली की सहज सरसता से ओतप्रोत हैं। हिंदी के नवीन काव्यों पर इनसे अधिक आत्मीयता एवं ममता से और किसी ने नहीं लिखा है।

किंतु इनकी आलोचनाएँ विवेचनात्मक कम और उद्गारात्मक अधिक हैं। उनसे मानस को सुस्वादु रस मिलता है, मगर

मस्तिष्क को पुष्ट खाद्य पदार्थ नहीं। और हमारे विचार से आदर्श काव्यालोचन विवेक तथा सहृदयता, दोनों की संतुलित अपेक्षा करता है। एक बात और। हिंदी के अतिरिक्त अन्य किसी समृद्ध भाषा-साहित्य की विशेष निकटता नहीं प्राप्त होने के कारण जहाँ इनमें अपनेपन का वासंतिक विकास हुआ है, वहाँ तुलनात्मक समीक्षा के प्रचुर साधन न रहने, विश्व-साहित्य की विभिन्न-प्रवृत्तियों का सामीप्य प्राप्त न होने के कारण लेखनशैली में एकरसता या पुनरावृत्ति का दोष भी आ गया है। एक प्रकार में, इन्होंने, सब मिलाकर हिंदी-काव्य-परंपरा का गीतिमय भाषा में एक संक्षिप्त, सुन्दर इतिहास लिखा है, जो समसामयिक अन्य साहित्यिक इतिहासों के मुकाबले अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक है।

पंतजी आपके 'आदर्श' (कवि) हैं। 'पल्लव' से 'युगांत' तक जिस प्रकार गीति काव्य के भीतर से उनका विकास हुआ है, ठीक उसी प्रकार 'हमारे साहित्य निर्माता' से लेकर 'संचारिणी' तक काव्यालोचन के भीतर से आपका। और अब, जब पंतजी ने 'युग-वाणी'—'ग्राम्या' आदि 'युग-साहित्य' लिखना शुरू किया है, आप भी 'युग और साहित्य' लेकर आगे आ रहे हैं।

हम इनकी विशेष प्रशंसा इस लिए करते हैं कि इन्हों ने शुक्लजी, प्रसादजी और वाजपेयीजी की शुष्क, सघन शैली के द्वारा भयंकर एवं दुर्गम जान पड़नेवाले हिंदी काव्यालोचन पथ को प्रशस्त एवं आकर्षक बना दिया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृत और बंगला का गंभीर अध्ययन लेकर आए हुए इस युग के एक विद्वान्, सम्मानित आलोचक हैं। 'विशाल भारत' में आपकी जब-तब जो आलोचनाएँ निकली हैं, उनमें विदग्धता के अतिरिक्त एक सुलझाव का भाव भी पाया जाता है। आपकी शैली स्वच्छ एवं प्रांजल है। पद-पद पर आपके अध्ययन-मनन और अनुभूति की गंभीर अभिव्यक्ति होती रहती है। सूरदास पर आपकी अच्छी आलोचना प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' भी आपकी विकसित-लेखन-शैली का एक नमूना है। निश्चय ही आपके द्वारा भी छायावादी कविताओं को कोई अनालोकित आलोक नहीं प्राप्त हुआ, कम-से-कम हमें जिसकी अत्यधिक आशा थी, किंतु तथापि आपके द्वारा हिंदी को एक निष्पक्ष प्रामाणिक आलोचक मिला है, इसमें संदेह नहीं।

४

इस प्रकार द्विवेदी-युग से छायावादी युग तक जितने भी काव्य और काव्यालोचन के आदर्श आए, उनमें परस्पर विभेद, ऊँचाई-निचाई, चढ़ाव-उतार रहने पर भी एक भावना बराबर बनी रही, जिसे हम विशुद्ध साहित्यिक भावना कह सकते हैं। यहाँ तक अंग्रेजी-साहित्य या रवींद्रनाथ की अनुप्रेरणाओं का असर काव्यात्मक रूप में ही रहा। किन्तु इसके बाद साहित्य धीरे-धीरे राजनीति की पोशाक पहनने लगा। गाँधीवाद और

समाजवाद ने प्रगतिशील युग को जन्म दिया ।

हम मानते हैं कि कालिदास का काल काव्य-कला के उ शिखर पर पहुँच जाने के कारण अत्यंत स्पृहणीय था, किन्तु जि प्रकार आगे बढ़े जाते युग ने उसे हमेशा के लिए एकरू अचल, स्थिर नहीं रहने दिया, उसी प्रकार 'पल्लव' से 'याम तक नई हिन्दी की काव्य-कला के निखर उठने पर भी प्रगतिशी युग में उसकी अनावश्यकता की पुकार उचित ही हुई ।

'मेघदूत' और 'शकुन्तला' के बाद 'भारवि' का 'किर तार्जुनीय' या 'माघ' का 'शिशुपालवध' कितना भी नीरस क्य न लगे, लेकिन उसकी रचना कालिदास को पीछे छोड़कर आ बढ़े निपुण युग में ही हुई थी । शेक्सपियर और इब्सन साथ बर्नार्ड शॉ कितने भी हल्के क्यों न लगें, वह आगे ब हुए 'अप-टु-डेट' ही समझे जाते हैं । लेकिन हाय ! य उपमाएँ कितनी अयोग्य एवं भ्रांतिमूलक हुईं । यहाँ भार या शॉ कहाँ ? यहाँ तो सांध्यगीत' के बाद 'रोटी का राग अलापा जा रहा है । 'गुंजन' के साथ मोटर की 'पों-पो सुनने को लाचार किया जा रहा है ।

एक ओर 'पल्लव' का सुकुमार कवि 'कार्लमार्क्स' का अभि नन्दन-पत्र लिख रहा है, तो दूसरी ओर 'हुंकार' का राष्ट्रीय क 'द्वंद्वगीत' गाता और 'अरी ओ रसवती सुकुमार' पुकार रहा है कुछ अजीब उलटफेर, अन्धेर देखने में आ रहा है । विशुद्ध कविता के लिए यह आत्महत्या कर लेने की प्रेरणाएँ भरनेवाल

युग है। नहीं, साहित्य की सर्वांगीण क्रांति के भीतर से क्या काव्य, क्या काव्यालोचन सब में एक नवीन-जीवन-संचार करने को आकुल है यह विकल विश्व-युग। इस नव-जीवन-डाल पर पूर्व युग से ही धीरे-धीरे विकसित होनेवाले कुछ कवि इधर विशेष रूप से निखर उठे हैं। श्री सुमित्रानंदन पंत, नवीन, भगवतीचरण, बच्चन, अज्ञेय और दिनकर इस श्रेणी में उत्कृष्ट समझे जाते हैं। श्रीसुमित्रानंदन पंत तथा बच्चन का दृष्टि-क्षेत्र अन्य तीनों से विशाल है। उनका कवि तीक्ष्ण क्रांतदर्शी है; सुकुमार पारदर्शी है। यदि बच्चन इस युग से पहले आते, तो शायद पंत के बाद उन्हीं की गणना होती। यों अब भी नवयुवक समाज पर उनका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है।

किन्तु यह काल वस्तुतः गद्य का है। 'अज्ञेय' 'जैनेन्द्र' जैसे कलाकार ही प्रगतिशील युग की स्थायी देन हैं। पंत का गद्य-गीत भी काव्य-विकास के इतिहास का एक रोचक पृष्ठ होगा।

इस समय काव्यालोचन का भी अपना एक अलग ही रंग है; निराला ही ढाँचा है; जिसे हम सूखी 'भाखा' में बिल्कुल बाजारू कह सकते हैं। किन्तु उपर्युक्त कुछ कवियों की भाँति कुछ प्रामाणिक काव्यालोचक भी आगे आए हैं; जिन पर हमें भरोसा करना चाहिए।

प्रो० नगेन्द्र, सत्येन्द्र, प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रभाकर माचवे,

रामविलास शर्मा, और शिवदान सिंह चौहान इस वर्ग के विशिष्ट व्यक्ति हैं।

इनमें नगेन्द्र से प्रकाशचन्द्र तक की अनेकशः आलोचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं, और वे अभी नित्य-नित्य विकास ही पर हैं।

रामविलास शर्मा की शैली पाश्चात्य, परिमार्जित एवं प्रगतिशील है, दृष्टिकोण अत्यंत उग्र तथा प्रखर है। निरालाजी की निजी बौद्धिक साहसिकता का जैसे इन्हें नवीन प्रतिनिधित्व प्राप्त है। ये हिन्दी और राष्ट्रीयता के इतने कायल हैं कि इन्हें रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि से मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती अधिक भाती है; शरच्चंद्र से प्रेमचन्द ज्यादा जानदार जान पड़ते हैं। अभी-अभी 'हंस' में प्रकाशित इनका 'शरच्चन्द्र चटर्जी' कृष्णानन्द गुप्त के 'प्रसाद जी के दो नाटक' की भाँति मौलिक और मनोरंजक है। दृष्टिकोण की यह ऐसी एकांगिता हिन्दी के हित की उतनी घातक नहीं, जितनी घातक पिछले दिनों 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित किसी 'प्रोफेसर साहब' की लिखी हिन्दी-कविता की आलोचना या इलाचन्द्र जोशी की 'छायावाद का नाश क्यों हुआ ?' जैसी आलोचनाएँ हैं।

इस श्रेणी के भी आलोचक पिछले खेवे के साहित्य से प्रभावित हैं, केवल शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा का दृष्टिकोण खालिस समाजवादी है। किसी भी एक आदर्श पर कायम रहकर काव्य-भावना का प्रसार पाप नहीं

है। समाजवाद साहित्य से बाहर की वस्तु नहीं। वाद कोई हो, हमें तो साहित्य चाहिए। साहित्य की व्यापकता में सभी वाद विलीन हो जाते हैं। हम चिंतित वहीं होते हैं, जहाँ साहित्य की एक झंकार भी नहीं और वाद का डिंडिमनाद सुनाई पड़ता है।

विकास का अर्थ बहुत लोग विचित्र ही समझते हैं। कदाचित् उनके विचार से वेद से रामायण, तुलसीदास से सुमित्रानन्दन पंत अधिक विकसित हों। किन्तु हम विकास का तात्पर्य विस्तार, काल-क्रमानुसार बढ़ते-फैलते चले जाना मात्र मानते हैं। हमारे विचार से, वैदिक-काल से आज तक काव्य का क्रमशः ह्रास ही हुआ है। और भविष्य तो अत्यंत अन्धकारमय मालूम पड़ता है।

इसी प्रकार आलोचना का विकास भी ढालू भूमि पर ही हुआ है। जहाँ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के 'मम्मट भट्ट' या 'मैथ्यू आर्नल्ड' कहे जा सकते हैं, वहाँ अन्य आलोचक अभी सम्पूर्ण अर्थ में आलोचक की आख्या ग्रहण करने के भी अधिकारी नहीं प्रतीत होते। आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली अधिकांश आलोचनाएँ महज खिलवाड़ रहती हैं। प्रशंसा-विनिमय के द्वारा, जिनके पास पत्र-पत्रिकाओं का सहयोग-साधन प्राप्त है, अपने को कुछ अनधिकारी व्यक्तियों ने बहुत ऊँचा उठा लिया है, जिसके फलस्वरूप वह अपने अन्य श्रेष्ठ साहित्यिकों को गतिहीन तथा मृत तक कहने का

दुःसाहस कर बैठते हैं। हिन्दी में कुछ ऐसे हवाई साहित्यिक उच्च पद पर प्रतिष्ठत हैं, जिनके जीवन से यदि प्रोपेगैंडावाला अंश निकाल लिया जाय तो अपने साहित्य के बल पर वे वास्तविक श्रेष्ठ साहित्यिकों के व्यंग्यचित्र बन जायँ! दुःख है कि 'छायावाद' से चिढ़नेवालों ने 'प्रकाशवाद' को प्रश्रय न देकर 'प्रचारवाद' को बढ़ावा दिया है। जब कोई प्रचारवादी साहित्यिक किसी पत्रिका के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित अपनी कविता की आप आलोचना करता हुआ कहता है कि अहा! मैं पिछले खेवे के कवियों से कितना आगे आ गया, तो हमें रवीन्द्रनाथ की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—"कत बड़ो आमि, कहे नकल हीराटि! ताई तो सन्देह करि नह ठिक खाँटि!"

एक व्याधि और आ गई है। सर्वतोमुखी प्रतिभा के प्रदर्शनार्थ, योग्य-अयोग्य सब के सब विकल-बेकल हैं। इसीलिए किसी भी एक सुनिश्चित दिशा में समुचित सफलता नहीं मिल रही। हमने देखा, शुक्लजी जैसा धुरन्धर आलोचक रोमैंटिक कवियों को 'एप्रिशिएट' नहीं कर सका; फिर जिनका अध्ययन-मनन अपेक्षाकृत अपर्याप्त है, जब वह साहित्य की सभी शाखा-प्रशाखाओं पर खिलने के लिए मुरझाते जाते हैं, तो हमें आँसुओं से धुली हँसी आ जाती है।

यदि एक आलोचक पूर्ण योग्यता के साथ किसी एक कवि की, किसी एक कविता की भी सर्वांगसुन्दर, मर्मस्पर्शिनी समीक्षा लिख सके तो वह अधिक आदरणीय एवं स्थायी हो!

आशा है, ढेरका ढेर कतवार पारकर जब भविष्य का आलोचक लेखनी उठाएगा, तो वह 'क्वांटिटी' की अपेक्षा 'क्वालिटी' का ही ज्यादा खयाल रखेगा।

क्योंकि आज का काव्य भी कदाचित् 'ग्राम्य गीत' के बाह्य स्तर तक उतर कर फिर किन्हीं नई स्थायी काव्योचित रूप-रेखाओं को ग्रहण करे। हमें तो विश्वास है, पतन के बाद उत्थान का अवसर आता ही है।

'If winter comes, can spring be far behind ?'

जनवरी '४१



हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय धारा

पहले पहल भारतेन्दु ने हिन्दी में राष्ट्रीयता की ओर संकेत किया, उनकी राष्ट्रीयता का आधार भारत के अतीत गौरव और वर्त्तमान पतन का ध्यान था। अतीत पर आसक्ति और वर्त्तमान से असंतोष, ये रोमाण्टिक कल्पना की देन हैं और इस प्रकार हिन्दी कविता में रोमाण्टिसिज्म के पहले बीज बोने का श्रेय भी भारतेन्दु को ही है। जो हिन्दी कविता उनके समय तक प्रायः परम्परागत भावों को ही लेकर बोल रही थी उसे उन्होंने जीवन की ओर उन्मुख किया। जीवन के आध्यात्मिक विस्मय और भौतिक विलास के शाश्वत स्वर से पूर्ण सरस्वती को उन्हों ने जीवन की सामयिक दशाओं पर रोने के लिए विवश किया और हिन्दी काव्य में एक वैविध्य और जोड़ दिया। भारतीय परम्परा के अनुसार अबतक जीवन का वह रूप प्रधान था जो जन्म-जन्मांतर तक समव्यापी रहता है। एक विधाता कवि ने उसके क्षणिक अथवा समकालीन रूप को चित्रित किया,—यह भले ही कहा जाय कि वह रूप केवल नया प्रयासमात्र था, सजीव और सफल चित्रण नहीं। लेकिन हम देखते हैं कि भारतेन्दु के बाद की धारा की सबसे बड़ी विशेषता साहित्य में समकालीनता का समावेश है। 'भारत दुर्दशा' के साथ हिन्दी में जो नई दिशा प्रकट हुई वह जीवन-दर्शन का प्रतीक थी। अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी में उन भावों का प्रवेश होने लगा जिन्हें संकीर्ण

अर्थ में हम वस्तुवाद कह कर पुकारते हैं। जीवन के अत्यन्त निकट आने के प्रयास में काव्य ने व्रजभाषा के पुराने पट को जारी रखने के आग्रह का विरोध किया और भाषा के उस रूप को अपनाया जो समकालीन जीवन को वाणी थी। खड़ी बोली की विजय हिन्दी साहित्य में वस्तुवाद अथवा जीवन के सामीप्य की प्रतिष्ठा का स्पष्ट संकेत था। द्विवेदी-युगीन खड़ी बोली की कविताएँ रूक्ष और नीरस हुईं, उनमें भारतेन्दु-युगीन रस का स्पष्ट अभाव था लेकिन उनके भीतर जीवन का वह अभिनव स्वर सन्धान था जिसे हिन्दी कविता ने भारतेन्दु से प्राप्त किया था। राष्ट्रियता की दृष्टि से भारतेन्दु का ही विकसित रूप 'भारत भारती' में प्रकट हुआ। लेकिन तब तक भारत-भारती के कवि की दृष्टि उस सीमा से आगे नहीं जा सकी जहां तक भारतेन्दु ने बहुत पहले देख लिया था।

"आवहु सब मिलि के रोवहु भारत भाई
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

की अपेक्षा

"जो कोकिला नन्दन विपिन में प्रेम से गाती रही
दावाग्नि दग्धारण्य में रोने चली है अब वही।"

में विदग्धता की मात्रा अधिक भले ही हो, दृष्टि का अधिक विस्तार नहीं है। दोनों के भीतर का सत्य एक ही सीमा के अन्तर्गत है. भारत का अतीत उज्ज्वल था; वर्त्तमान दयनीय है। राष्ट्रियता की आधारभूत भावना घृणा है और इस दृष्टि से भारतेन्दु का राग अधिक प्रबल था। स्पष्ट ही—

'सचमुच ब्रिटिश सरकार ने हमको बहुत कुछ है दिया' की अपेक्षा

"अंगरेज राज सुख साज सज्यो अति भारी
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।"

में राष्ट्रियता का रूप अधिक प्रखर और उसकी भाषा अधिक उग्र है। भारत-दुर्दशा की इस पंक्ति में अंग्रेजी शासन पर एक अभियोग है जो राष्ट्रियता के अर्थ-पक्ष की दलील है। भारत-भारती में इस indictment का सर्वथा अभाव है।

इसी समय के आस-पास श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, हरिऔध और सनही जी आए। हरिऔध और उपाध्याय जी पण्डित कवि थे और इनकी कविताएँ पाठ-कवित्त के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण के रूप में सामने आईं। अपने समकालीन कवियों के प्रभाववश इन्हों ने जीवन के समकालीन रूप को जब तब छुआ तो सही लेकिन प्रधानतः ये वे ही बातें कहते रहे जिन्हें ग्रन्थों में पढ़ चुके थे। श्रीधर पाठक सत्कवि के रूपमें इनलोगों से पहले आये थे। उन्हों ने हिमालय और काश्मीर सुषमा को चित्रित किया, देशभक्तिपूर्ण गीत भी लिखे औरअन्तमें खड़ीबोली को अपनाया भी। सनेही जी का स्वर भी देश-भक्ति से ओत-प्रोत रहा और जीवन की समकालीनता उनकी रचनाओं में प्रधान रही। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि इन कवियों के समय में राष्ट्रियता का कंकाल तैयार हो चुका था और वह स्पष्ट (राष्ट्रियता) रूप से हिन्दी कविता का अंग बनने जा रही थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतेन्दु की भारत-दुर्दशा में हम रोमाण्टिक कल्पना का एक हल्का सा स्पर्श पाते हैं। रोमाण्टिक भाव जीवन के विद्रोह का नाम है और वह पहले वर्त्तमान के प्रति असंतोष के रूप में प्रकट होता है। दलित जातियों में जब यह भावना आती है तब वह पीछे की ओर भी देखती है और अतीत को वर्त्तमान की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल समझती है। भारत-दुर्दशा में इन दोनों गुणों का प्रतिबिम्ब है और उसके बाद के कवियों में तो प्रायः ये ही गुण प्रधान रहे।

लेकिन रोमाण्टिक कल्पना का एक दूसरा रूप भी है। कल्पना-प्रधान, भावुक और सुकुमार दृश्यों में वह स्वप्नशीलता और सैद्धान्तिक उग्रता को प्रेरित करती है। जो युग अपनी वर्त्तमान अवस्थाओं से संतुष्ट नहीं रहता और उनमें परिवर्त्तन लाना चाहता है, उसके कवियों में व्यंग्य की शक्ति अधिक होती है—वह व्यंग जो परम्परा को तोड़ना चाहता है। परिवर्त्तन अथवा क्रान्ति का पहला कदम विध्वंस और अराजकता का प्रयास होता है। विगत महायुद्ध के आस-पास भारतीय जीवन में जो घटनाएँ घटित हुई थीं वह रोमाण्टिक भावों के कर्म-पक्ष की देन थीं। साहित्य के अन्दर काम करने वाले लोग—गुप्त जी, सनेही जी और रामचरित उपाध्याय आदि इस कर्म-पक्ष के अधिक समीप थे, इसीलिए उनमें वह रस नहीं रहा जो रोमाण्टिक युग की कविताओं में होना चाहिए था। दरअसल

यह युग अभी प्रारम्भ भी नहीं हो पाया था, बल्कि हिन्दी में घुसने के लिए अपना प्रवेश-मार्ग तैयार कर रहा था।

युद्ध के समाप्त होते-होते निराला, प्रसाद और पन्त का उदय हुआ जो हिन्दी के रोमाण्टिक काव्य के मुख्याधिष्ठाता माने जाते हैं। साहित्य की धारा को एक स्थान पर विभाजित करना कठिन है इसलिए यह कहा नहीं जा सकता कि यह नया आन्दोलन पहले पहल किस कवि की वाणी पर चढ़ कर आया था। व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से युगों का विभाजन किया जाना ही अधिक न्याय-संगत है। दरअसल काव्य के वर्गीकरण का लक्ष्य समय नहीं, बल्कि भावनाओं का वर्गीकरण है। इस दृष्टि से गुप्त जी उस युग के नेता हैं जो निराला जी के आगमन से पहले ही बीत चुका है। यों उस युग में लक्ष्मण सिंह "मयंक" जैसे कवि हो चुके थे और स्वयं निराला जी ने भी "जुही की कली" की रचना आज से लगभग ३० वर्ष पहले ही की थी।

इन कवियों के आगमन के साथ रोमाण्टिक कल्पना ने अपने पूर्ण रूप का प्रसार किया। जीवन की रुक्षता सिद्ध हो गई और यह स्पष्ट हो गया कि नये कवि देश के वर्त्तमान जीवन से असंतुष्ट थे। काव्यात्मा के जाग्रत तेज ने छन्दों के बन्धन तोड़ डाले। रोमाण्टिक धारा के अधिक से अधिक गुणों का प्रतिनिधित्व करनेवाले कवि ने उद्बोधन की ऋचा पढ़ी—

"जागो फिर एक बार
सत-श्री-अकाल

भाल-अनल धक-धक कर जला
भस्म होगया था काल।
तीनों गुण, तापत्रय
अभय हो गए थे तुम मृत्युञ्जय
व्योमकेश के समान,
अमृत—सन्तान!
तीव्र भेद कर सप्तावरण मरण-लोक
शोकहारी, पहुँचे थे वहाँ, जहाँ आसन है सहस्रार,
जागो फिर एक बार।"

रोमाण्टिक शैली के इन तीन नेताओं की अपनी-अपनी अलग विशेषताएँ थी। तीनों के तीनों जीवन की वर्त्तमान हीनता से असंतुष्ट और क्षुब्ध थे। वे कुछ नए तत्व खोज रहे थे; किसी नई दुनिया की तलाश में थे। इनमें से प्रसाद जी पर रोमाण्टिक प्राथमिकता ने सब से अधिक प्रभाव डाला और अन्त तक उनकी आँखें अतीत पर लगी हुई रहीं। बौद्ध सभ्यता के विश्लेषण से आरम्भ करके उन्होंने कामायनी लिखने पर तृप्ति की अन्तिम साँस ली। स्मरण रहे कि यहाँ मैं व्यक्तित्व के मुख्य गुणों का विश्लेषण कर रहा हूँ जिनका ज्ञान हिन्दी काव्य की वस्तुवाद की धारा को समझने में सहायक होगा, कवियों की कलामयता का नहीं। पन्त जी पर रोमाण्टिक पलायनवाद का सब से जबरदस्त आक्रमण हुआ। नई दुनिया की तलाश में घूमते-घूमते वह स्वप्न के संसार में जा फँसे—पृथ्वी का कुत्सित रूप पहले से ही नापसन्द था अब जो स्वप्न ने उन्हें रुक्षता से मुक्ति दी तो वे कल्पना की रंगीनियों से खेलने

लगे। कल्पना और स्वप्न की रंगीनियों से खेलने का थोड़ा बहुत लोभ इस काल के सभी कवियों में मिलता है और यह कवि के लिए बिलकुल त्याज्य वस्तु भी नहीं है क्योंकि सत्य और स्वप्न के दो पंख तो प्रत्येक कवि के लिए आवश्यक हैं ही। कल्पना का जाल सर्वत्र फैल रहा था लेकिन उस पूरे ताने-बाने का सूत्र पन्त जी के हाथ में था। भावुकता, कोमलता, छुई-मुईपन और हल्की कल्पना का प्रसार जो इस काल के प्रत्येक कवि में थोड़ी बहुत मात्रा में मिलते हैं, पन्त जी में संघीभूत हो गए। ऐसा दीखा कि पन्त जी पृथ्वी के प्रति अपने सारे कर्त्तव्यों से मुक्त हैं। चूंकि उन्हें रूखी दुनिया नापसन्द थी इसलिए उन्होंने अपना यह अधिकार समझा कि अपनी पसन्द की दुनिया का निर्माण कर लें। स्वप्न के स्वर में संगीत भर कर उन्होंने संसार को लुभा लिया और स्वप्न-देश का सन्देश समझ कर दुनिया उनकी ओर बढ़े वेग से झुकी। पराजित जाति अपने दुःख को भूलना चाहती थी। पन्त जी के पास बैठने से उसका जी बहल जाता था। फूलों के हास और तुहिन वन के उल्लास की बात बड़ी ही मीठी थी। इसके सिवा यह नया संगीत जीवन के सत्य की टीका भी स्वप्न के शब्दों में कर रहा था। "शान्ति और सुख को उस पार" कह लोगों को समझा रहा था कि यह संसार निःसार है, इसमें सुख नहीं है, फूलों से खेलो, आँख मूंदने पर जो दुनिया देखने में आती है उसमें चल कर रहो। मरने के बाद तो उस पार का शाश्वत सुख

मिलेगा ही। 'जौक' का यह शेर कतई भुला दिया गया था कि—

"अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जाएँगे
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे ?"

जीवन की पराजय से ऊबे हुए लोगों को और चाहिए ही क्या? मादकता की आवश्यकता थी, वह प्रचुर मात्रा में दी जारही थी। अंग्रेजी से लेकर बंगला तक जहाँ कहीं से भी मादकता लाई जा सकती थी, लाई जा रही थी। आध्यात्मिक दृष्टि से पन्त जी की कविताएँ असहयोग आन्दोलन की विफलता की प्रतिक्रिया का भी परिणाम थीं।

लेकिन रोमाण्टिक जागरण यहीं तक संतुष्ट नहीं था। उसका बल और तेज हिन्दी में प्रकट नहीं हो सका, यह बात नहीं है। पन्त और प्रसाद के साथ एक तीसरा स्वर भी था जो अस्पष्ट होता हुआ भी निरन्तर गूँज रहा था। पता नहीं इस सत्य को स्वीकार करने की उदारता कितने लोगों में है, लेकिन मेरे मत से वह स्वर पं० सूर्य्यकान्त त्रिपाठी निराला का था। क्रान्तिकालीन भारत की आध्यात्मिक व्याख्या करने वाले देश के एकमात्र कवि निराला जी हैं जिनका स्वर भारतवर्ष के पौरुष का स्वर है; जिनमें छुईमुईपन नहीं, हल्की कल्पना नहीं, सिहरन और टीस नहीं, और न अलस, मदिर, मनोरञ्जन ही है। स्वत्वप्राप्ति के लिए अकुला कर उठने वाले भारत के कण्ठ का स्वर चाहे जहाँ सुनाई पड़े, उसकी जाग्रत आत्मा

का संगीत 'निराला' की कविताओं में है। प्रतीकरूप से रोमांचवाद की विद्रोहप्रियता के सारे लक्षण उनमें वर्त्तमान हैं। हिन्दी की रूढ़ि उन्हें सब से पहले अखरी, छन्दों का बन्धन उन्हें स्वीकार नहीं हुआ, साहित्य की प्राचीन शैली से वे सबसे अधिक दूर हैं और सबसे अचरज की बात तो यह है कि हिन्दू भारत के हृदय के अधिक से अधिक पास अगर कोई हिन्दी कवि आ सका है तो वे गुप्त जी और निराला जी हैं।

इन्हीं कवियों के साथ माखनलाल जी और नवीन जी भी आए जिन्होंने रोमाण्टिक धारा के राष्ट्रिय पक्ष को ग्रहण किया और जिस राष्ट्रियता के कंकाल की सृष्टि द्विवेदी युग मे हो चुकी थी उसमें रक्त और मांस भरने लगे। दोनों ही ने जीवन की मादकता को भी छुआ लेकिन व्यक्तित्व और काव्य संगीत की दृष्टि से वे केवल राष्ट्रिय रहे। माखनलाल जी की राष्ट्रियता भावुक पुरुष की राष्ट्रियता है। उनके गीतों में देश के लिऐ कुर्बानी की पुकार है, दर्द है।

"बिगुल बज गई, चला सब सैन्य, धरा भी होने लगी अधीर,
खाइयां, खोदीं रिपु ने हाय! पार हों कैसे सैनिक वीर?
"पूर दें इनको मेरे शूर शरीरों से" — "दे दिए शरीर?"
इधर यों सेनापति ने कहा, उधर दब गए सहस्रों वीर।
सफलता पाई अथवा नहीं उन्हें क्या ज्ञात दे चुके प्राण,
विश्व को चहिये उच्च विचार! नहीं, केवल अपना बलिदान।"

और राष्ट्रिय भावना उनकी आत्मा में ऐसी घुली मिली है कि वह भगवान की आराधना भी यह कह कर करते हैं—

"उठा दो वे चारो करकंज
देश को लो छिगुनी पर तान
और मैं करने को चल पड़ूँ
तुम्हारी युगल मूर्त्ति का ध्यान।"

इसी समय सुभद्रा कुमारी चौहान ने भी बड़ी ही मर्म-विदारक राष्ट्रिय कविताएँ लिखीं। जिनमें नारी हृदय की करुणा का वरुणालय ही जैसे लहरें लेने लगा है, राष्ट्र के काव्य-तट को छू-छू कर, धो-धो कर।—'जलियाँवाला बाग में वसन्त' शीर्षक कविता में उन्होंने वसन्त से कहा है :—

'परिमल हीन पराग दाग-सा बना पड़ा है,
हा ! यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है,
आओ, प्रिय ऋतुराज ! किन्तु धीरे से आना,
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना।
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खा कर,
कलियाँ उनके लिए चढ़ाना थोड़ी ला कर,
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं,
अपने प्रिय-परिवार-देश से भिन्न हुए हैं,
कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इसलिए चढ़ाना,
करने उनकी याद अश्रु के ओस बहाना,
तड़प-तड़प कर वृद्ध मरे हैं गोली खा कर-
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जाकर !'

एक दूसरी कविता 'राखी की चुनौती' में जैसे भारत भर के भाइयों की इकलौती बहन बन कर वह कहती हैं—

"मैं हूँ बहन किन्तु भाई नहीं है,
है राखी सजी पर कलाई नहीं है,

है भादों, घटा किन्तु छाई नहीं है,
नहीं है खुशी पर रुलाई नहीं है,
मेरा बन्धु—माँ की पुकारों को सुन कर
के तैयार हो जेलखाने गया है,
छीनी हुई माँ की स्वाधीनता को,
वह जालिम के घर में से लाने गया है।

* * * *

आते हो भाई ? पुनः पूछती हूँ,—
कि माता के बन्धन की है लाज तुमको ?
तो बन्दी बनो, देखो बन्धन है कैसा,
चुनौती यह राखी की है आज तुमको !

नवीन जाग्रत देश के क्रोध की वाणी हैं। गांधीवादी होने के कारण अपने ऊपर सयम रखते हैं किन्तु, अन्याय को देखकर तिलमिला उठते हैं। क्रान्ति के पहले कदम—विध्वंस—का राग उनमें अधिक प्रबल है। क्रोधी राष्ट्र का पहला नाद नवीन ने किया है, हिन्दी साहित्य में यह उनकी सब से बड़ी विशेषता है। एक दृष्टि में उन्होंने देश की आजादी के लिए किये जानेवाले हिंसक—अहिंसक सभी प्रयत्नों का विहंगावलोकन किया है और उस आदर्श में अपनी आस्था अटल रखी है जो गांधी जी की देन है।

गिरिगह्वर में, वन उपवन में, अथवा किसी शून्य प्रान्तर में
भटक रहे कुछ दीवाने हैं ले आशा प्रदीप निज कर में
भर इनके खप्पर को भर लोहू से नहीं, लपट से आ री
अरी धधक उठ धक् धक् कर तू महानाश की भट्ठी प्यारी।

नवीन जी ने आर्थिक वितरण की अनुचित पद्धति पर भी दृष्टि

फेंकी है और देश की गरीबी को देखकर ऐसा स्वर भी फूंका है जिससे यह मालूम हो कि वह वर्गयुद्ध चाहते हैं। अगर आज के प्रगतिवाद का आधार और कारण आर्थिक हो तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उसका पहला बीज हिन्दी में नवीन ने बोया।

"जूटेपत्ते" की Spirit भूल जाने की चीज नहीं है।

एकक्रिय होने पर भी 'भारतीय आत्मा' से जिस प्रकार नवीन विभिन्न हैं उसी प्रकार पन्त से निराला भी। निराला और पन्त जैसे समानान्तर रेखाएँ हैं जो पास-पास रहकर भी दूर-दूर हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि निराला जो भी रोमांचवादी हो कर ही आए, किन्तु उनकी जो अपनी विशेषताएँ हैं वह एकान्ततः अनन्त-अतीत-प्रेमी प्रसाद, अथवा केवल कलाकार पन्त से मेल नहीं खाती हैं, वह बिलकुल ही भिन्न अस्तित्व के कवि हैं, और उनका वास उस धरातल पर है जहां तक इनमें से किसी की पहुँच नहीं है। पन्त जी 'पल्लव' लिखें अथवा युगवाणी, किन्तु हमेशा उनकी रचना के पीछे एक कारीगर मौजूद मिलता है जो नगण्य पत्थरों को भी तराश कर और सुन्दर बना कर हीरों की पंक्ति में रखता जाता है। साहित्य को उन्हों ने कलाकार की तरह ग्रहण किया, युग-पुरुष अथवा कवि की तरह नहीं। इसके विपरीत निराला की रचना के पीछे हमेशा कोई महान व्यक्तित्व रहता है, जिसके पास कोई

बड़ा सन्देश है, जो कुछ देखने और कर गुजरने के लिए धरती पर आया हुआ है। कारीगरी की दृष्टि से निराला और पन्त दोनों ही समान हैं, किन्तु पन्त जहां भावों से खेलते हुए अबोध गायक बन कर आते हैं, वहां निराला का तेज सात्विक और गंभीर होता है, उनकी वाणी धुँधली होते हुए भी ऊँची और ठोस है। निराला की रचना आप कहीं से भी उठालें उसमें क्रीड़ा करनेवाले बालक की मनोवृत्ति नहीं मिलेगी।

वे किसान की नई बहू की आँखें

"नहीं जानतीं जो अपने को खिली हुई—
विश्व-विभव से मिली हुई,—
नहीं जानतीं सम्राज्ञी अपने को,—
नहीं कर सकीं सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नई बहू की आँखें—
ज्यों हरीतिमामें बैठे दो विहग बन्दकर पाँखें;
वे केवल निर्जन के दिशाकाश की,
प्रियतम के प्राणों के पास- हास की,
भीरु पकड़ जाने को हैं दुनियाँ के कर से—
बढ़े क्यों न वह पुलकित हो कैसे भी वर से।"

*   *   *

"वह तोड़ती पत्थर ;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़, वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार ;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,

गुरु हथौड़ा हाथ, करती बार-बार प्रहारः—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन, दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू, रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगीं छा गई, प्रायः हुई दुपहरः—
वह तोड़ती पत्थर,

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह, नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
'मैं तोड़ती पत्थर।'

ऐसी-ऐसी प्रगतिशील भावनाओं से भरी हुई अनेकानेक रचनाओं के बावजूद भी उन्हें केवल दार्शनिक कहना अपने अज्ञान का पुष्ट प्रमाण पेश करना है। जिसे लोग दर्शन का बोझीला सत्य समझते हैं, वह हृदय में हलचल मचा देनेवाली व्याकुलता का गम्भीर नाद है; जिसके भीतर से जीवन की सचाई झाँकती आती है।

'नवीन' जी प्रभृति के साथ ही, उन्हीं दिनों बाबू भगवती चरण वर्मा ने भी (जिनका यह प्रधान दृष्टिकोण कभी नहीं

रहा, किन्तु आजतक जिसे वह छोड़ भी नहीं सके) कुछ विद्रोही कविताएँ लिखी थीं। 'कानपुर मेमोरियल बेल पर' उनमें से एक प्रसिद्ध और सुन्दर कृति है। और,

"चर-चर मर-मर चूं चरर-मरर,
जा रही चली भैंसा-गाड़ी।"

तो उनकी आधुनिक कविताओं में कदाचित् सर्वाधिक ख्यात है।

'दिनकर' जी के आगमन ने हिन्दी की राष्ट्रिय-काव्य-धारा के इतिहास में एक सब से नवीन और प्रमुख परिच्छेद जोड़ दिया है। इधर प्रायः दस वर्षों में (१९३० से ४० तक) देश में जितनी राजनीतिक हलचलें हुई हैं, कवि ने उन सब को काव्य का ओजस्वी रूप दे दिया है। उनके काव्य के आईने में सम्पूर्ण वर्तमान युग ही प्रतिफलित हो गया है। उनके पूर्ववर्ती किसी भी कवि का प्रधान दृष्टिकोण उनकी तरह खालिस राजनीतिक नहीं रहा। कुछ ने रसना का स्वाद बदलने के लिए और कुछ ने केवल आवेशवश राष्ट्रिय या समाजवादी कविताएं लिखीं। किन्तु दिनकर का कवि सहज ही 'पौरुष का पुञ्जीभूत ज्वाल' है।

उनके काव्य का समग्र वातावरण देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने काव्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए ग्रहण किया है, ऐसा व्यक्तित्व, समष्टि से पृथक् जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। समाज से पृथक् वह अपने व्यक्तित्व

का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। अपने व्यक्तिगत सुख-दुख को वे सामाजिक सुख-दुख के सामने महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। उनकी दृष्टि में व्यक्ति की महत्ता समाज के लिए त्याग और बलिदान करने में ही है। सौन्दर्य्य-सृष्टि उनका ध्येय नहीं। सम्भवतः इसीलिए उसमें उन्हें प्रायः सफलता नहीं मिली।

"रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे
किरणों में उज्ज्वल गीत गुंथे हैं मेरे।"

कला की असुन्दर सृष्टि है। इस प्रकार घोड़ों के साथ गीतों को जोत कर काव्य-कला का रथ डगभर भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। पन्त जी यहीं सब से बड़े हैं। युगवाणी और ग्राम्या में भी उनका कला-पक्ष दुर्बल नहीं है। अस्तु!

दिनकर के हृदय में बसनेवाला मनुष्य कवि की अपेक्षा नेता के रूप में अधिक प्रसिद्ध होना चाहता है। उसके सामने जो आदर्श है, वह स्वयं एक ज्वलंत कविता है। उसके निकट से निकट तक पहुँचना कवि का परम-चरम ध्येय है।

विद्रोह कभी उसका साधन और कभी साध्य भी है। उसका विद्रोह सुप्त राष्ट्र के पौरुष का महोच्चार है। वह समाजवाद या राष्ट्रवाद से अधिक प्रगल्भ पौरुष को महत्त्व देता है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह समाजवादी है ही नहीं। क्योंकि वर्तमान की आलोचना तो वह समाज-वादी दृष्टि-कोण से ही करता रहा है। सामाजिक संघर्षों एवं असंगतियों पर उसकी तीक्ष्ण-दृष्टि है। कहने का तात्पर्य्य

यह कि 'रेणुका' से 'हुंकार' तक की कविताओं का अध्ययन करने के अनन्तर इसी निष्कर्ष पर पहुंचा सकता है कि पिछले दिनों भारतीय वातावरण में जितनी गर्मी जमा हो रही थी उसी का प्रचण्ड ताप दिनकर की कविताओं की किरण बन गया है। 'हुंकार' में वह ताप और भी पूरी मात्रा में है। लेकिन 'रेणुका' में भी 'कस्मै देवाय' 'हिमालय' 'ताण्डव' आदि कतिपय कविताओं में काफी उष्णता आई हुई जान पड़ती है। हाँ, 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' ने उनके भविष्य-निर्णय में आलोचकों को संशयालु बना दिया है। वे वर्तमान से विमुख होते दीख रहे हैं।

इधर बच्चन जी का स्वर बहुत बदला है। उनके काव्य में प्रगतिशीलता का रंग काफी गाढ़ा होता जा रहा है। वे बड़े ही भावुक एवं प्रतिभाशाली कवि हैं, किसी भी दिशा में अपने को मोड़ कर वह पूरी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। उनके कुछ प्रगतिशील गीत—"प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर" या—

"यह महान दृश्य है,
चल रहा मनुष्य है—
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ"

आदि महान हैं। मधुशाला के कवि का यह विकास सर्वथा अभिनन्दनीय है।

इनके अतिरिक्त श्री रामदयाल पाण्डेय, सुमन, अञ्चल,

सुधीन्द्र आदि भी इसी धारा के कवि हैं। इनका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

किन्तु श्री सुमित्रानन्द पन्त, जैसा कि शिवदान सिंह चौहान ने 'हंस' के एक लेख में लिखा था, ही इस समय इस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। भारतेन्दु की आरम्भ की हुई 'भारत दुर्दशा' 'ग्राम्या' में जैसे परिणति प्राप्त कर गई है। यह पन्त जी के लिए सौभाग्य का विषय है कि रोमैंटिक कविताओं की तरह प्रगतिशील कविताओं के भी आज वे एकमात्र प्रतिनिधि कवि हैं। एक ओर इलाचन्द्र जोशी प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया सिद्ध करने में मनोवैज्ञानिक तर्कों की कपालक्रिया कर रहे हैं, और दूसरी ओर 'एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए' के विप्लववादी कवि नवीन जी 'कला को सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक जागृति का शकटमात्र बनाने' में हिचकिचा रहे हैं। पर पता नहीं, नवीन जी को 'शकटवाहक' बनने के लिए प्रगतिवाद ने कब विवश किया! साथ ही

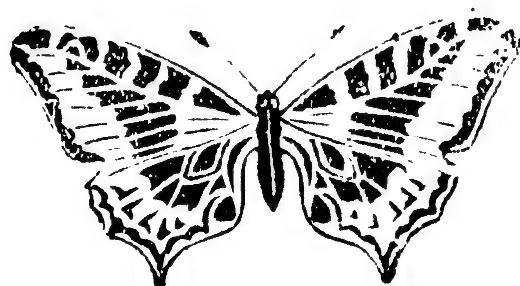
"दिशा के बन्ध से झंझा विकल है छूटने को,
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को,
धराधर को हिला गूँजा धरणि में राग कोई
तलातल से उभरती आ रही है आग कोई"

जैसी क्रान्तिकारिणी पंक्तियाँ लिखनेवाले प्रगतिशील कवि दिनकर जी जब यह कटु सत्य स्वयं स्वीकार कर चुके हैं कि 'केवल भाड़े पर लिखी हुई चीजें, रोटी का राग और साम्यवाद के गीत बिलकुल असत्य हैं, क्योंकि उनमें अनुभूति का दाह

नहीं है, क्योंकि वे समय की फरमाइश पर नाचने को आई हैं' तब अपनी ओर से उनके सिर में यह सेहरा बाँधना नाजायज मालूम पड़ता है। उन्हें 'रसवन्ती और द्वन्द्वगीत' जैसी अनुभूति दग्ध तथा त्रिकाल के इंगित पर नृत्य करने वाली असाम्यवादिनी रचनाएँ लिखने के लिए उन्मुक्त छोड़ देना ही उचित है। और, तब पन्त जी के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा नजर नहीं आता जो प्रगतिवाद की सुदृढ़ भावभूमि के उनसे सुन्दर काव्यात्मक चित्र आँक सके। इतना ही क्यों, वे जिस धारा का नेतृत्व कर रहे हैं, उसमें बहने वाले अन्य कवियों में भी दिनकर जी के समान उग्र, प्रखर आवेग चाहे न भी हो, किन्तु एक ऐसी दृढ़ता है, ऐसी निष्ठा है जिस पर बरबस विश्वास करना ही चाहिए:—

क्या हार में क्या जीत में
किञ्चित नहीं भयभीत मैं
संघर्ष-पथ पर जो मिले, यह भी सही, वह भी सही !

दिसम्बर '४?



मीरा और महादेवी

१

स्विटजरलैंड या कशमीर की उपमा समझदार लोग स्वर्ग-लोक से देते हैं। यह उनकी ज्यादती का नहीं, सुरुचि का परिचायक है।

आर्य-शिक्षा के अनुसार अमर-सौन्दर्य, अमर-कला की अपनी अमर-भूमि अमरावती है। मानव हृदय की अतृप्त-अपूर्ण, इच्छा-आकाङ्क्षाओं; वासना-स्वप्निल पलकों में प्रतिबिम्बित, बहुतेरी धुधली-रंगीन रेखाओं से निर्मित चित्र का नाम स्वर्ग है।

फिर जिस काश्मीर की छवि-छटा देख कर दिल में खुशी की लहरें लहराने लगती हैं, आँखें जुड़ा जाती हैं, प्राण-प्रदेश में एक अपरिचित सुर की बाँसुरी बज उठती है, वहाँ की रन्ध्र-हीन परिपूर्णता में, सहज शोभा-सुषमाओं में अपने को घुला-मिला देने, खो देने की बेकली बढ़ जाती है, उसे स्वर्ग न कह कर और क्या कहना उचित होता ?

स्वर्ग, यानी अशान्त, बहु-वासनाक्रान्त मानव हृदय की शाश्वत शान्ति एवं चिरतृप्ति की अमिट पिपासा, विकल लालसा। इसलिए काश्मीर को स्वर्ग कह कर जैसे हृदय की उच्चता का सब कुछ अर्पित कर दिया गया।

कालिदास ने मेघदूत में विशालापुरी का विशाल वर्णन एक

ही पंक्ति में किया है—

"शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्" लिख कर। कहा है,—विशालपुरी क्या है?—स्वर्गलोक का एक खूबसूरत हिस्सा, जिसे वहाँ के निवासी ('क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के नियमानुसार) स्वर्ग से अंतिम विदा के समय, अपने बचे-खुचे पुण्यों के बल से जैसे, पृथ्वी पर ले आये हैं।

बस, स्वर्ग कहने के बाद और कुछ कहने की जरूरत ही नहीं रह गयी।

ठीक उसी प्रकार, महादेवी की उच्च साधना का परिचय भी एक ही शब्द में दिया जा सकता है—उन्हें मीरा कहकर।

स्वर्ग से जितना कुछ सादृश्य स्विटजरलैंड या कशमीर का हो सकता है, उससे तनिक भी कम महादेवी का मीरा से नहीं हो सकता। हाँ, यह दूसरी बात है कि स्विटजरलैंड या कशमीर स्वर्ग नहीं, और इस दृष्टि से महादेवी भी मीरा नहीं हैं।

'स्वर्ग और स्विटजरलैंड' की तरह 'मीरा और महादेवी' में केवल अनुप्रास का सादृश्य नहीं है, यद्यपि वह (सादृश्य) साहित्यिक के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का नहीं, और अनुप्रास (अलङ्कार) भी काव्य का एक सुन्दर अंग ही है।

मीरा 'भक्ति-युग' की कृष्ण-प्राणा भक्त थीं, और महादेवी इस युग की उच्चकोटि की कलाकार। अत्यन्त साम्य ढूँढ़ने वालों को इस प्रकार से राशि-राशि वैधर्म्य प्राप्त हो सकते हैं। निश्चय ही उपमान और उपमेय की भाँति यह दोनों दो हैं

भी, किन्तु जैसे, जब किसी के मधुर मुखड़े को चाँद कहा जाता है तो यह समझ कर नहीं कि वह भी चाँद ही की तरह आसमान में अटका हुआ रहता, अथवा चक्कर काटता फिरता है, या उसे भी चाँद ही की तरह क्रमशः कृष्ण और शुक्ल पक्ष में घटते-बढ़ते रहना चाहिए—मैं भी यहाँ उसी नियम का आश्रय ग्रहण कर रहा हूँ।

मैं कहता हूँ, दोनों दो हैं, किन्तु विलग नहीं हैं; दोनों की अश्रुधार ने 'द्वैतभाव' की काई को धो-पोंछ कर साफ कर दिया है। और इसीलिए 'मीरा' के साथ ही 'महादेवी' का नाम अब अनायास आ जाता है।

२

मुसलमानी सल्तनत के समय हिन्दू जनता अपनी संस्कृति और धर्म को मटियामेट होते देख चीख रही थी, कराह रही थी। वह अपने उद्धार के लिए किसी भी दयालु धर्मात्मा के आगे घुटने टेक सकती थी। विदेशी क्रूर भावनाओं ने उसके हृदय के अत्यन्त ऋजु 'विश्व-बन्धुत्व' को कुचल दिया था, उसे निष्ठुर बनने के लिए विवश कर दिया था। वह खूनी तलवार में, मरने से पहले ब्रह्म का स्वप्न भी नहीं देख सकती थी। वैसी आर्त्त-कातर दशा में न तो उसे 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' सूझता था और न 'सोऽहम्', शिवोऽहम्'। उसे उस समय केवल किसी कृपालु के चरणों की शरण की आवश्यकता प्रतीत होती थी, वह उसी के लिए विकल-बेकल थी।

अगर कोई खूब नामवर, सीनियर डाक्टर बुरी तरह बीमार पड़ जाय, तो वह प्राणरक्षा के लिए जूनियरों के आगे गिड़गिड़ाये नहीं ?—तौहीनी 'फील' करता हुआ प्राण गँवा दे ? फिर हिन्दू तो मर्यादापुरुषोत्तम राम और गोवर्धनधारी कृष्ण की शरण में गये थे, आर्त्तभक्ति करने लगे थे, किसी कठमुल्ले या ढोंगी पुरोहित की नहीं !

सताये हुए आदमी को सर्वप्रथम किसी सामने खड़े, शक्तिशाली व्यक्ति की बलिष्ठ बाँहों की छाँह चाहिए, निरापद स्नेह प्राप्त होना चाहिए, किसी अदृश्य, अस्पृश्य (चाहे वह सर्वशक्तिशाली ही क्यों न हो) का रूखा-सूखा ज्ञानमात्र नहीं। ब्रह्म की निराकारता को सर चढ़ कर बोलने वाले श्यामसुन्दर के जादू के द्वारा खुली चुनौती दी जा चुकी थी। उद्धव निराकार भावना का प्रतीक (Symbol) बन कर मोहन की प्रेमिका गोपिकाओं द्वारा बुरी तरह बनाए गए। उस काल के प्रतिनिधि साहित्य ने अपना दृष्टिकोण सुस्पष्ट कर दिया—उद्धव को धता बताते हुए मुरली-मनोहर को अपना कर; कोरे ज्ञान को कोसते हुए निठुर प्रेम को कलेजे से लगा कर।

इस भावना के प्रचार-प्रसार में पूर्वोक्त मनोवैज्ञानिक कारण ही प्रधान था। भक्तोद्धारसमर्थ भगवान् की प्रेमी मूर्त्ति सताये हृदयों में घर कर गयी।

तुलसी-सूर आदि के उसी भक्ति-प्रेम के पावन वातावरण में दुःखिनी मीरा, उपेक्षिता राधा की भाँति अपने निठुर प्रेमी

प्रियतम को कुंज-वन-वीथियों में ढूँढ़ती हुई प्रकट हुई।

तन-मन-जीवन,—सम्पूर्ण सर्वस्व को श्रीकृष्णचन्द्र के 'त्रिविध-ज्वाला-हरण' चरणों पर न्योछावर कर वह प्रेमयोगिनी वियोगिनी की तरह गाती फिरी—

"एरी मैं तो दरद-दिवानी
मेरो दरद न जाने कोय!"

—इस प्रकार मीरा का उत्सर्ग किया हुआ जीवन ही साहित्य-संगीत-कला बन गया है, जब कि महादेवी ने कला ही को अपना जीवन बनाने की भरपूर चेष्टा की है।

विज्ञान के इस जड़-युग में, प्राच्य सभ्यता-संस्कृति की इस सर्वग्रास-वेला में, विदेशी शिक्षा-दीक्षाओं—कला की बहुवर्ण विकसित अभिनव रूप-रेखाओं; भगवान् बुद्ध एवं सूफी संतों की फिलॉसफी, शेली, रवीन्द्रनाथ—सबको हृदयंगम कर

"सर सरसे कहो जल्द चिराग आके बुझा दे,
तुरबत प' कई पर्दानशीं आये हुए हैं।"

के तर्जपर—

"करुणामयको भाता है तमके परदेसे आना,
ओ नभकी दीपावलियो! तुम छन भरको बुझ जाना।"

या 'पन्त' जीके—

"तप रे मधुर-मधुर मन"

के स्वरमें स्वर मिलाकर——

"मधुर-मधुर मेरे दीपक जल"!

—गानेवाली, नयी हिन्दी में 'आँसू' के मन्द-गति छन्द पर दुःखवाद की सफल रचनाओं को आरम्भ ही से लोकप्रिय

बनानेवाली, छायावादी कवयित्री, श्रीमती महादेवी, मीरा नहीं हो सकतीं,—यह ठीक है। किन्तु इसके साथ ही यह भी ठीक है कि इस युग के अनुरूप, यदि मीरा के केवल कवि-रूप की कल्पना की जाय, तो वह निःसन्देह महादेवी ही का कवि-रूप की होगा; सुभद्रा-तारा का नहीं, पन्त और प्रसाद का भी नहीं, जिनकी छाया के अनुसरण से वह छायावादी कहलायीं। केवल कवि-रूप की कल्पना इसलिए कि मीरा के निजी व्यक्तित्व से महादेवी की तुलना करना अत्युक्ति नहीं, प्रलाप होगा। हाँ, महादेवी की काव्य-वेदना मीरा की मम-वेदना प्राप्त करने की सर्वथा अधिकारिणी है।

इस तरह मैं देखता हूँ कि तुलना व्यक्तित्व के साथ व्यक्तित्व की नहीं, काव्य-वेदना के साथ व्यक्ति की वेदना की है। दूसरे शब्दों में,—महादेवी की काव्यवेदना से मूर्तिमती वेदना मीरा की तुलना करनी होगी। इसी व्यतिक्रम के कारण कुछ कट्टरतावादी (Orthodox) मीरा और महादेवी को पास-पास देखना ही नहीं चाहते, क्योंकि वह जबर्दस्ती महादेवी के समग्र जीवन को, उनके काव्यावेश के उदास अवसर मात्र को नहीं, मीरा की तरह देखने की दुरभिलाषा रखते हैं।

और दूसरी ओर महादेवी की साधना के साक्षी, 'कुछ निष्पक्ष आलोचकों को मीरा से भी बढ़कर महादेवी का पक्षपात है। किन्तु मैं कहता 'हूँ, कलाकार की जीवन-गति की विचित्रता के, अ-सर्वसाधारणता की 'सच्चाई' के वे सच्चे

समझदार नहीं हैं। नहीं तो सब ओर से सावधान महादेवी के कलापूर्ण जीवन से, पगली मीरा के बेसुधपन की 'अकल' अलौकिकता उनके आगे आप आलोकित हो उठती।

इसीलिए मैं जयदेव और चण्डिदास से बहुत अधिक साहित्य-सृजन करनेवाले कवीन्द्र रवीन्द्र को भी जयदेव या चण्डिदास कहने का दुःसाहस नहीं करता। मेरे विचार से चण्डिदास या जयदेव का 'सत्य' रवीन्द्रनाथ की किसी भी 'सुन्दर' या 'शिव' कल्पना में नहीं; और सत्यको प्यार करने की मेरी वैयक्तिक दुर्बलता है। अवश्य काव्य-कला की कसौटी पर चण्डिदास को हलका करार देना रवीन्द्रनाथ के जौहरी का इनाम पाने लायक काम होगा। अस्तु।

मीरा के काव्य के मुकाबले महादेवी महीयसी हैं। महादेवी के प्रत्येक पद में काव्य-कला खेल रही है, जब कि मीरा के पद कला से खेलते—दिल्लगी करते नजर आते हैं। इसका कारण यही है कि मीरा ने काव्यकला की तालीम नहीं पायी थी; कला-प्रदर्शन के लिए गीत नहीं गाये थे। प्रेम के भावावेश में जो कोयल की तरह कूक गयी तो उसमें प्रकृति-प्रदत्त पञ्चम सुर अपने आप आ गया। पर महादेवी का सधा हुआ स्वर कला के विशेषज्ञों के लिए और भी अधिक आकर्षक है, क्योंकि उसमें केवल कोयल का पंचम ही नहीं, षड्ज से निषाद तक सातों सुरों का यथाक्रम आरोह-अवरोह वर्तमान है। उनके काव्य को, केवल मीरा के नयनों में

बसनेवाले नन्दलाल जो 'साँवली सूरत, मोहिनी मूरत' का बल या संबल प्राप्त नहीं है; वहाँ आध्यात्मिक प्रियतम (परमात्मा का सगाकार या निराकार रूप) मात्र भी नहीं; किन्तु 'उसमें विविध साहित्य की राशि-राशि भाव-भंगियाँ (Expressions), अन्यान्य महाकवियों के प्रतिस्पर्द्धी शिल्प; रूप-रस-रंग का निर्माण; प्रच्य-प्रातीच्य की विकसित विभिन्न काव्य-कलाओं के भीतर से अपने महान् व्यक्तित्व की मौलिक रचना, आदि अनेक दर्शनीय तत्व हैं।

फिर भी, उस 'दरद-दिवानी' के लिए कवि की वाणी में यही कहना उचित होगा कि—

"बिन्दु में थी वह सिन्धु अनन्त,
एक सुर में समस्त संगीत,
एक कलिका में अखिल वसंत !"

या

A world in a grain of sand,
And a heaven in a wild flower,
Infinity in the palm of a hand,
And eternity in an hour.

३

महादेवी के स्वर में, यत्र-तत्र जो एक स्वर्गीय झङ्कार है, सादर स्वीकृत दुःख में जो आध्यात्मिक वेदना का आभास है, वही उन्हें मीरा तक पहुँचा देता है।

और मीरा के काव्य में प्रियतम से बिछड़ी हुई एक ग्राम्यवधू का जो स्वाभाविक उच्छ्वास है, मनोवेदना; या कुछ

सहज उपमा-रूपकों की भाषा में सत्य प्रणय-निवेदन है, उसे ही महादेवी की उत्कृष्ट काव्य-कला के समान माना जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, लौकिक महादेवी का आध्यात्मिक आरोह (चढ़ाव) और अलौकिक, आध्यात्मिक मीरा का (विरहिणी प्रेयसी जैसा मुग्ध-स्निग्ध प्रेम-विरह) पार्थिव स्तर पर अवरोह (उतार); महादेवी की दार्शनिक सतर्कता, संयम, और मीरा का मधुर प्रणयोन्माद; आश्रम की मृगी की भाँति सार्वत्रिक संशय-हीनता, वन्य-निर्झर की भाँति अमन्द स्वच्छन्द प्रवाह;--यही समान सन्तुलन का विषय है।

जब मैं महादेवी की रचनाएँ पढ़ता हूँ तो ऐसा अनुभव करता हूँ कि इस मिट्टी की दुनिया से दूर—बहुत ऊपर उड़कर, (Like a poet hidden in the light of thought, singing hymns unbidden) कोई विहग-बालिका अस्पष्ट स्वरों में कुछ गा रही है; धीरे-धीरे वह अपने स्वर-संगीत में इस प्रकार छिपती जा रही है कि मैं उसे प्रयत्न करने पर भी भर-नजर देख नहीं सकता।

पर जब मैं मीरा के पदों में लीन हो जाता हूँ तो मुझे ऐसा विदित होता है कि स्वर्ग की एक तरुण-करुण देवी, (वसने परिधूसरे वसाना, नियमक्षाम-मुखी धृतैकवेणिः) अपने प्रियतम के पदचिन्हों के पीछे-पीछे चलती हुई इस गोधूलि-लोक में उतर आयी है, उसके निठुर प्रियतम के पावन पद-चिह्न यहाँ की धूमिलता में तिरोहित हो गये हैं; और वह उसी की खोज में

दर-दर भटक रही है; लोग पगली समझकर उसे घेर चलते हैं, कुछ निष्कलुष आत्माएँ 'अकारण' ही अश्रु-स्नात हो उठी हैं, (अश्रु अकारणे करे बिसर्जन बालिका); मैं उन्हीं के पास-पास हूँ।

इसी 'चढ़ाव-उतार' के बीच का जो एक कल्पित स्थान हो सकता है, वहीं मैं दोनों को बहुत कुछ समान मानता हूँ। वहीं महादेवी कहती हैं—

"जो तुम आ जाते एक बार –
कितनी करुणा, कितने सँदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग;
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग-भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार ?"

वहीं मीरा गाती है—

"कोई कहियो रे पिय आवन की,
आवन की, मनभावन की।
ये दोउ नैन कह्यो नहीं मानैं
नदियाँ बहैं जैसे सावन की।
कहा करौं कछु बस नहिं मेरो
पाँख नहीं उड़ जावन की।"

वहीं महादेवी कूकती हैं—

"पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं!"

वहीं मीरा बिलखती है—

"सखी मेरी नींद नसानी हो!

पिय को पंथ निहारत सिगरी
रैन बिहानी हो !"

वहीं महादेवी विचारती हैं—

"तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या ?"

वहीं मीरा मुसकाती है—

"तुम बिच, हम बिच अंतर नाहीं
जैसे सूरज-घामा,
पल-पल तेरा रूप निहारूँ,
निरख-निरख सुख पाती !"

वहीं से महादेवी सोचती हैं—

"मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि, क्या प्रिय आनेवाले हैं"

वहीं से मीरा सुख-संतोष की साँस छोड़ती है—

"सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज
चढ़ि-चढ़ी महल जोऊँ मेरी सजनी, कब आवै महराज ।"

वहीं महादेवी अनुभव करती हैं—

"क्या पूजा क्या अर्चन रे
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !

वहीं मीरा थिरकती है—

"जहँ-जहँ पाँव धरूँ धरनी पर तहँ-तहँ निरत करूँ री !"

अथवा—

"बिन करताल पखावज बाजे अनहद की झनकार रे
बिनु सुर राग छतीसूँ गावै, रोम रोम रँग सार रे
उड़त गुलाल लाल भये बादर बरसत रंग अपार रे !"

उसी मिलन-पद से महादेवी का गीत शुरू होता है—

"प्रिय चिरन्तन है सजनि, छन-छन नवीन सुहागिनी मैं"

और वहीं बेसुध मीरा गुनगुनाती है—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ;
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई !"

पर जहाँ महादेवी केवल कलाकार हैं, वहाँ मीरा हृदय पर हाथ रखे, उनके कल्पना-मन्दिर के द्वार पर चुपचाप खड़ी है। हाँ, कभी-कभी होठों के बीच तर्जनी उँगली जरूर सीधी कर लेती है। पर कलाबाजी में क्या कम बेसुधपन रहता है?—महादेवी को द्वार की ओर दृष्टि डालने की सुध ही नहीं आती, वह खूब डूब कर सोचती रहती हैं—

"बन गया तम-सिन्धु का आलोक सतरंगी पुलिन सा,
रजभरे जगबाल से है अंक विद्युत का मलिन सा !"

*   *   *   *

"मेघ-रूँधा अजिर गीला टूटता सा इंदु-कंदुक,
रवि झुलसता लाल पीला यह खिलौने और यह उर,
प्रिय नयी असमानता है !"

उनकी ध्यानावस्था में तनिक भी भेद न देख धीरे से मीरा छेड़ती है—"विदुषी सखी, आँख मूंद कर तुमने यह सब क्या-क्या लिख डाला ?"

और महादेवी ससंभ्रम आँचल के छोर से ललाट पर झलमलाते स्वेद-बिन्दुओं को पोंछते-पोंछते हँस पड़ती है—"कुछ भी नहीं देवि, मुझे तो इसका एकदम ही पता नहीं रहता कि मैं कब क्या लिखती हूँ—

"मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती !"

तब मीरा उन्हें कुछ गाने के लिए कहती है, पगली की तरह हठ ठानती हुई; और महादेवी सकुचाती-सकुचाती सुन्दर स्वर से अलापती हैं–

"शून्य मन्दिर में बनूंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।"

मीरा मुग्ध हो जाती है, इस 'प्रतिमा' पर सौ-सौ जानों से न्योछावर। 'कुछ और, कुछ और' बच्ची की तरह मचलती है। महादेवी गाने लगती हैं–

"बिरह की घड़ियाँ हुईं अब मधुर मधु की यामिनी सी"

* * * *

"प्रिय जिसने दुख पाला हो!"
"वर दो, यह मेरा आँसू उसके उर की माला हो!"

* * * *

"तुम दुख बन इस पथ से आना
शूलों में नित मृदु पाटल सा
खिलने देना मेरा जीवन,
क्या हार बनेगा वह जिसने
सीखा न हृदय को बिंधवाना!"

अब बारी आयी मीरा की। महादेवी ने 'एकान्त-संगीत' के एक पद द्वारा, प्यार से, भक्ति से, जैसे आग्रह किया– 'मूल्य दे सुख के क्षणों का!' मीरा ने कहा–"अरी तुम बावली तो नहीं हो गईं? अपने मनमोहन गान की गुलाबी खुशबू फैला कर अब क्या सचमुच ही मेरे अप्रीतिकर ग्रामगीतों के काँटे कानों और प्राणों में चुभोना चाह रही हो?" कहा सही, पर मीरा किसी के प्रेमाग्रह को सहज ही टाल देने वाली न थी,

उसने चलते-चलते गा दिया—

"ऐसो पियै जान न दीजै हो
चलो री सखी, मिलि राखि कै नैना रस पीजै हो।
श्याम सलोनो साँवरो मुख देखे जीजै हो
जोइ-जोइ भेष सों हरि मिले, सोइ-सोइ कीजै हो।
मीरा के गिरिधर प्रभू बड़ भागन रीझै हो॥"

मीरा चली गई। उसका अन्तिम पद बाँसुरी के स्वर की तरह सुदूर प्रान्त तक गूँजता हुआ मालूम पड़ता था। महादेवी उदास, कल्पना-मन्दिर में सावधान होकर फिर लेखनी चलाने लगीं—

"बादलों की प्यालियाँ भर
चाँदनी के सार से,
तूलिका कर इन्द्रधनु
तुमने रँगा उर प्यार से!"

४

ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ महादेवी निरी बौद्धिक हैं। काव्य की रसाल डाल में झूला डाल कर उनकी कल्पनाएँ पैंगे भरती दीख पड़ती हैं और वह सावनी समा देखने में मस्त। वहाँ 'अध्यात्म' की कल्पना करना निठल्लूपन होगा। यों तो हिन्दी में जैसे लेखकों की बाढ़ उमड़ी हुई है, ऐसे दार्शनिक आलोचकों की भी कमी नहीं, जिन्हें निराला जी की 'होली' के ठेठ शृङ्गार में (प्रिय कर कठिन उरोज परस कस कसक मसक गई चोली) दर्शन के गूढ़ रहस्य (आवरण-भंग) का भान होता है। साथ ही जिन्हें—

"दूर गांव की कोई वामा
आए मन्द चरण अभिरामा
उतरे जल में अवसन श्यामा
अंकित उर-छवि सुन्दरतर हो !"

की निरावरण सुषमा को जघन्य अश्लील कह कर निराला जी की ओर बंक भृकुटि तानने की तकलीफ उठानी पड़ती है। मगर मालूम नहीं, वह मीरा के—

"पँचरँग चोला पहन सखी मैं झिरमिट खेलन जाती,
ओहि झिरमिट मां मिल्यो सांवरो, खोल मिली तन गाती।"

या जयदेव के—

"विगलितवसनं परिहृतरशनं
घटय जघनमपिधानम्।"

को क्या समझ कर मौन रह जाते हैं ?

कण-कण में 'उसका' चेतन-स्पर्श होने के कारण, जड़ प्रकृति में भी 'उसका' प्राणमय परस पाना; 'उसके' अस्तित्व के आभास का अनुभव करना, छायावादी युग की एक प्रमुख भावना-धारा रही है। महादेवी में ऐसे चित्रों की बहुलता है सही, पर उन्हें मैं अत्यन्त अद्भुत या अलौकिक नहीं मानता। इसी तरह उनके उद्गारों में भी जब मैं पढ़ता हूँ—

"मैंने देखा उसे नहीं
पद-ध्वनि है केवल पहचानो !"

तो मुझे तत्क्षण रवीन्द्रनाथ की ये पंक्तियां याद आ जाती हैं—

"I have not seen his face, nor I have

listened to his voice; only I have heard his gentle footsteps from (? on) the road before my house."

और तब यह प्रश्न स्वाभाविकतया ही उठ खड़ा होता है कि क्या महादेवी को स्वयं भी इसकी अनुभूति हुई है या उन्हों ने केवल उपरिलिखित भावना की आनुपूर्विक आवृत्ति द्वारा अपने काव्य के छायावादी औचित्य की रक्षा ही की है।

पन्त जी की अनेक पुनः पुनः प्रशंसित पंक्तियों के सम्बन्ध में भी मेरा ऐसा ही अनुदार विचार है। जैसे एक भावना—

"दूर—उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गयी नील झंकार,
छिपा छायावन में सुकुमार
स्वर्गक की परियों का संसार,
वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास
वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़-उड़कर पास।"

यह क्या—

"The sleep that flits on baby's eyes—does anybody know from where it comes? Yes, there is a rumour that it has its dwelling where, in the fairy village among shadows of the forest dimly lit with glow-worm, there hang too timid buds of enchantment, from there it comes to kiss baby's eyes."—

का अक्षरशः अनुवाद नहीं है ?

शब्द या भाव की सदृशता, मौलिकता, अमौलिकता आदि पर यहाँ मुझे कुछ भी लिखना नहीं है। क्योंकि महादेवी के ऐसे अनेक भाव हैं, जिनकी मौलिकता पर सहज ही संशय किया जा सकता है। सूर आदि भक्ति-युग के कवियों के साथ तुलना करने पर मीरा में भी यही बात हो सकती है। किन्तु मैं विश्वास करता हूँ, जिसमें जितना 'सत्य' होता है, वह उतना 'दीर्घायु' होता है। कारण, संसार में व्यक्ति नहीं अमर होता, 'सत्य' अमर रहता है।

और, विचार-सदृशता को तो ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त है कि किसी युग-विशेष की चिन्ता-धारा, इसी प्रकार, नाना-आश्रयों, विभिन्न उद्गम-क्षेत्रों के बीच से बहुमुखी होकर बहती ही है,– "Like many a voice of one delight."

५

महादेवी 'अरूप' की आराधिका हैं, मीरा 'रूप' की राधिका।

महादेवी कलाकार हैं, मीरा तदाकार (केवल विकल विह्वल भक्त।)

मीरा का काव्य निश्छल प्यार का सजल, सुमधुर उद्गार है; महादेवी के गान नीरस अध्यात्म-दर्शन के सरस सुन्दर चित्र हैं।

महादेवी ने 'सुन्दर' को 'सत्य'-रूप से चित्रित किया है, पर मीरा में 'सत्य' स्वयं 'सुन्दर' हो गया है।

महादेवी में शिल्प-निपुणता है; मीरा में ग्राम्य भोलापन।

महादेवी के आँसू जैसे संसार के दुखी नयनों को निहार कर ढुलक पड़े हैं; और मीरा की अश्रुधारा में मानो प्रेम का पारावार उमड़ पड़ा है।

महादेवी जैसे झुलसी हुई विश्व-वाटिका को अपने आँसुओं से सींचना चाहती हैं, पर मीरा केवल 'प्रेम'-लता को लहलही रखने के लिए रोती है। सब मिलाकर, महादेवी में गौरव का एक स्थिर, गम्भीर भाव है; और सिर से पैर तक मीरा सरल है, तरल है।

मीरा ने अनुभव किया था, देखा था, स्पर्श किया था। महादेवी ने अध्ययन, मनन, चिन्तन किया है।

मीरा 'कुछ हो गयी थी,' महादेवी आत्मनिर्माण कर रही हैं।

मीरा प्राणों में गा उठती है; महादेवी हृदय के तारों को छूकर झंकृत कर देती हैं।

महादेवी जैसे एक 'प्रश्न' हैं; प्रश्न और उत्तर से परे मीरा।

दोनों का पथ आध्यात्मिक, फलतः पवित्र है। सत्य और सुन्दर के साथ साथ कला को मंगलमय बनानेवाली यही पवित्रता है, जिसका अधिकांश उच्चकोटि के साहित्यिकों में भी अभाव रहता है।

दोनों में अनन्त-विरह की व्यापक प्रधानता है; ईश्वर-

विषयक वेदना की प्रमुखता। (तोमाय आमि पाइनि येन से कथा रय मने; येन भुले न याइ, वेदना पाइ, शयने स्वपने।) दोनों ही का लक्ष्य, जो एक दार्शनिक कलाकार का लक्ष्य हो सकता है,—ईश्वर की अनुभूति है; प्रिय की प्राप्ति है।

अरूप की आराधना महादेवी ने युग से प्रभावित होकर की, या मीरा के समान ही मानस के सहज उच्च स्तर से,—यह उनके गीतों की गङ्गा में गोते लगाने पर प्रत्येक मननशील सहृदय स्वयं समझ लेगा।

हाँ, अपनी उन्मुक्त भाषा में मैं इतना ही कहता हूँ कि महादेवी की अरूप आराधना मीरा का सत्य-रूप ग्रहण कर ही पूर्ण परिणत हो सकती है।

भक्ति-युग के भक्त-सप्तर्षियों के बीच जैसे मीरा अरुन्धती तारिका का स्थान सुशोभित कर रही है, ठीक उसी प्रकार दार्शनिक काव्य के छायावादी (आधुनिक) युग में, निराला, प्रसाद और पन्त के साथ महादेवी महीयसी हैं।

सितम्बर '३६



मुद्राराक्षस और जूलियस सिजर

१

शेक्सपियर के जूलियस सिजर नाटक के साथ विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक की तुलनात्मक समीक्षा करने का भाव मन में अनेकशः अनायास ही उत्पन्न होता है। मुझे इसमें कृत्रिमता या जबर्दस्ती बिलकुल नहीं मालूम पड़ती। दोनों नाटकों का बाहरी Resemblance और भीतरी Difference—वाह्य सादृश्य और आन्तरिक असादृश्य ही तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study) का रोचक विषय है।

आरम्भ में ब्रुटस (Brutus) के साथ कैसियस (Cassius) का राजनैतिक व्यवहार प्रायः उसी प्रकार का है, जैसा अन्त तक राक्षस के साथ चाणक्य का। ब्रुटस और राक्षस का Characteristic बहुत कुछ मिलता जुलता है, चाणक्य और कैसियस की चालबाजियों (Political tricks) में बहुत समानता है। इसके अतिरिक्त बाहर-भीतर की अनेक ऐसी घटनाएँ हैं, जिनमें सादृश्य ही सादृश्य है। और यह तो एक मोटी सी बात है कि दोनों राजनैतिक नाटक हैं, दोनों ही की पार्श्व-भूमि (Back ground) ऐतिहासिक है। एक में 'सिजरिज्म' पर तथा दूसरे में नन्दवंश पर पूर्णविजय प्राप्त करने की विद्रोह पूर्ण चेष्टाएँ ही दोनों के वर्ण्य विषय हैं।

इस प्रकार अधिक से अधिक समानता रहने पर भी दोनों के रसास्वाद में बहुत अन्तर है, जिसकी गभीर अनुभूति स्वयं की जा सकती है। मेरे कहने का यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि सुखान्त-दुःखान्त के गोलमटोल भेद के कारण ही दोनों के रसास्वाद में भिन्नता आ गई है। हालाँकि सुखान्त-दुःखान्त का भेद ऐसा-वैसा भेद नहीं है, और सच तो यह कि इसी स्थूलता में बहुत सी बारीकियाँ छिपी हुई हैं। अस्तु। दोनों की विषम समानता की ओर एक सूक्ष्म सङ्केत करने के लिए पहले मैं वाह्य सादृश्यों ही से शुरू करूँगा।

२

कुछ Commoners के प्रवेश के साथ 'जूलियस सिजर' का आरम्भ होता है, सूत्रधार और नटी के प्रवेश के साथ 'मुद्राराक्षस' का। प्रासङ्गिक वार्त्तालाप से सुस्पष्ट हो जाता है कि 'कॉमनर्स' उत्सव (सिजर की विजय यात्रा) में सम्मिलित होने के लिए बाहर निकले हैं। इधर नटी भी उत्सव (चन्द्र ग्रहण के अवसर पर भोज) की तैयारियों में लगी हुई है। सूत्रधार समझाता है कि—"उत्सव करो; पर सचमुच चन्द्रग्रहण का योग नहीं है।" बस इतने ही में 'चन्द्रग्रहण' का नाम सुन कर, और उसका अर्थ 'चन्द्रगुप्त का पकड़ा जाना' समझ कर, चाणक्य आपेसे बाहर होता हुआ बाहर आ जाता है—'आः, क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति वलात् ?' ,मेरे रहते किसकी हिम्मत है कि चन्द्रगुप्त का बाल भी बाँका

कर सके ?' ऐसी ही बात उधर होती है। फ्लेवियस (Flavious, Marullus) और मेरुलस नामक दो व्यक्ति आते हैं, पूछने पर कॉमनर्स में से एक उन्हें बतलाता है कि हम सब विजय-यात्रा (Triumph) में सिजर को देखने निकले हैं (Sir, we make holiday, to see Caesar and to rejoice in his triumph)। फिर क्या था ? सिजर का नाम सुनते ही वह फट पड़ते हैं. सर पर आसमान उठा लेते हैं।

दोनों नाटकों के इन आरम्भिक दृश्यों में कैसा सुन्दर सादृश्य है !

मुद्राराक्षस के प्रथम अङ्क में, राक्षस के परिवार के बार में, चाणक्य और चन्दनदास कुछ बातचीत कर रहे हैं। जूलियस सिजर के प्रथम अङ्क में भी ब्रुटस और कैसियस में उसी प्रकार राजनैतिक वार्त्तालाप चल रहा है। इतने में शोरगुल शुरू होता है। ब्रुटस पूछता है—What means this shouting ? I do fear the people chose Caesar for their king,—यह कैसा हो-हल्ला ? मुझे भय है कि रोम की जनता कहीं सिजर को अपना बादशाह तो नहीं बना रही ? बस, इतने ही से कैसियस अपना (ब्रुटस को अपने दल में मिला लेने का) काम बना लेता है। वह ब्रुटस के इस सरल उद्गार का बेजा फायदा उठानेके लिए मन ही मन सोचने लगता है—

Well, Brutus, thou art noble; yet, I see,
Thy honourable metal may be wrought

from that it is disposed: *ब्रुटस ! तुम अच्छे हो सही, पर देखता हूँ कि तुम्हारी आदरणीय सत्व प्रकृति पर पर्दा डालने में मैं सफल हो सकूँगा !*

उधर मुद्राराक्षस में भी ऐन बातचीत के मौके पर शोरगुल शुरू हो जाता है, चाणक्य इसका सबब चन्दनदास को समझाता है, पर चन्दनदास अपने पूर्व वाक्य पर सुदृढ़ रह कर चुपचाप कैद हो जाता है। बस चाणक्य भी कैसियस ही की भाँति मारे खुशी के बड़बड़ाने लगता है—अब क्या? अब तो राक्षस मेरी मुट्ठी में आ गया ! 'हन्त, लब्ध इदानीं राक्षसः ।'

इन घटनाओं में कितना अधिक साम्य है !

ब्रुटस को फाँसने के लिए कैसियस कई तरह के अक्षरों से चिट्ठियाँ लिख भिजवाता है, चाणक्य भी राक्षस को फाँसने के लिए शकटदास के द्वारा अद्भुत पत्र लिखवा कर भेजता है।

कैसियस से बातचीत होने के बाद से ब्रुटस रात-रात भर जगता है (I have been up this hour, awake all night) *उधर चाणक्य-नीति से निरन्तर चिन्तित रहता हुआ राक्षस भी करवटें बदल-बदल कर रात गुजारता है [कथमिदमिहेत्युन्निद्रस्य प्रयान्त्यनिशं निशाः)*

मुद्राराक्षस के तृतीय अङ्क में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के

बीच काफी बकझक हो जाती है, चन्द्रगुप्त चाणक्य को अपमानित करता है और चाणक्य चन्द्रगुप्त को ऊँची-ऊँची फटकारें बताता है, इस घटना का सादृश्य जूलियस सिजर के चतुर्थ अङ्क के उस दृश्य से है, जिसमें कैसियस और ब्रुटस बहुत बहकते-बहसते हैं, एक भी नौबत बाकी नहीं बचती।

पर जिस प्रकार मुद्राराक्षस में चाणक्य की इच्छा ही से तमाम बहस-मुबाहसे होने के सबब परिस्थिति जल्द ही साफ हो जाती है, उसी प्रकार जूलियस सिजर में भी परस्पर क्षमा-याचना करते हुए शीघ्र ही ब्रुटस और कैसियस हिल-मिल जाते हैं।

एक जगह (द्वितीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में) सिजर अपने पर गरूर करता हुआ कहता है—

Cowards die many times before their deaths
The valiant never taste of death but once
Of all the wonders that I yet have heard,
It seems to me most strange that men should fear;
Seeing that death, a necessary end,
Will come when it will come.

कायर मौत से पहले भी कई बार मर चुकते हैं, पर वीर दुबारा नहीं मरता। मुझे इससे बढ़कर अचरज की बात और कुछ नहीं मालूम पड़ती कि लोग मौत से डरते हैं, यह जानते हुए भी कि वह एक न एक रोज आएगी, और जरूर आएगी।

इधर चाणक्य भी अपनी प्रतिभा पर अद्वितीय अभिमान प्रकट करता है—

ये याताः किमपि प्रधार्य्य हृदये पूर्वं गता एव ते
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः
एका केवलमेव साधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्य्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ।

जो अपने मन में कुछ सोचते-विचारते चले गए, वह तो पहले गए ही, जो अब तक बचे-खुचे हैं, वह भी चाहें तो जाने को तैयार हो जायँ, केवल मेरी बुद्धि—जो साधन के समय शत-शत सेनाओं से बढ़कर बलवती, है जिसने नन्द वंश का विध्वंस कर अपने अपार कौशल का विस्तारपूर्ण परिचय दिया है, मेरे पास बनी रहे । मैं इससे अधिक की आवश्यकता नहीं समझता ।

यह बात सिजर की Caesar doth not wrong; Be not fond, to think that Caesar bears such rebel blood *या*

So in the world; it is furnished well with men,
And men are flesh and blood, and apprehensive;
Yet in the number I do know but one
That unassailable holds on his rank,
Unasked of motion: and that I am he,

जैसी गर्वमयी बोझीली बोलियों से भी कितनी मिलती-जुलती है ।

इस प्रकार की घटनाओं के साम्य से दोनों नाटक भरे पड़े हैं, जिनके अध्ययन से अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है ।

मैं लिख चुका हूँ कि कैसियस और चाणक्य के चित्र में

अत्यधिक समानता है। इन्हीं दोनों ने दोनों नाटकों को पूर्ण रूप से राजनैतिक बना दिया है। पर फिर भी दोनों ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए कोई भी धूर्त्तता या चुस्त चालाकी का काम नहीं किया है। हाँ आरम्भ में कैसियस के दिल में जरूर व्यक्तिगत ईर्ष्या का भाव था, पर वह उसी प्रकार चाणक्य के हृदय में भी था। एक को सिजर से डाह थी तो दूसरा नंदवंश पर डीठ गड़ाए था।

इतना ही नहीं, कैसियस अपने प्रिय टिटिनियस (Titinius) को शत्रुओं के फंदे में फँसा जान अपनी जान दे देता है, इधर राक्षस भी अपने प्रिय मित्र चन्दनदास को फाँसी के तख्ते पर झूलते हुए देख कर आत्म-समर्पण कर देता है। पर वस्तुतः न टिटिनियस मृत्यु-मुख में प्रविष्ट हुआ था और न सचमुच ही चन्दनदास को काल के गाल में समाना था।

—राक्षस के आत्म-समर्पण करते ही चण्डाल दौड़ कर चाणक्य को खुशखबरी सुनाता है कि—'हन्त गृहीतो राक्षसः! राक्षस कैद कर लिया गया।' इधर भी एक सैनिक, (Lucilius) ल्युसिलियस को ब्रुटस समझ कर कैद कर लेता और (Antony) ऐन्टनी को खुशखबरी सुनाने के लिए दौड़ पड़ता है कि—ब्रुटस पकड़ लिया गया, कैद कर लिया गया, महाराज! (Brutus is taken, Brutus is taken, my lord.)

ब्रुटस मृत्यु से पूर्व अपने रिपु (सिजर) की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता है।

—O Julius Caesar, thou art mighty yet !
ओ जूलियस सिजर, वस्तुतः तुम्हीं महान हो !

इधर राक्षस भी अपने परम शत्रु (चाणक्य) की भूरि-भूरि प्रशंसाएँ करता है—

"आकारः सर्वशास्त्राणां" सब शास्त्रों का खजाना चाणक्य ही है, जैसे सब रत्नों का खजाना समुद्र हैं। इसके, एक साथ ही इतने अधिक गुणों को देख कर ईर्ष्या होती है।— "सर्वथा स्थाने खलु यशस्वी चाणक्यः।" चाणक्य सचमुच यश का पात्र है।

अब नाटकों के अन्तिम पटाक्षेप का समय आ गया। महामात्य राक्षस के आत्म-समर्पण के पश्चात् चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों ही उसकी ज्वलन्त प्रतिभा तथा एकाग्र कार्य्य-निष्ठा की मुखर प्रशंसा करते हैं। चाणक्य कहता है—

"अये! अयमसावमात्यराक्षसः! येन महात्मना—
गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घैर्जागरहेतुभिः
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे।"

और चन्द्रगुप्त राक्षस की ओर परम स्निग्ध दृष्टि से देखता हुआ चाणक्य से निवेदन करता है कि—

"जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम्
गुरौ षाड्गुण्यचिन्तायामार्य्ये त्वयि च जाग्रति"

भला आप जैसे महामात्य तथा नीतिविशारद गुरुवर चाणक्य को प्राप्त कर संसार की कौन सी वस्तु मेरे लिए पाने को बाकी रह गई ?

इधर ब्रुटस के आत्म-समर्पण (मृत्यु) के अनन्तर Antony एन्टनी और ऑक्टेवियस Octavius भी दिल खोलकर उसकी तारीफें करते हैं। एन्टनी कहता है—

This was the noblest Roman of them all

* * * *

His life was gentle, and the elements
So mixed in him that Nature might stand up
And say to all the world—'This was a man'

यह रोम का सब से अधिक भद्र व्यक्ति था। पक्षपात तो इसमें लेश मात्र का नहीं था, बिलकुल तपाया हुआ खरा सोना था। इसके उज्ज्वल जीवन में अनेकशः ऐसे विभिन्न गुणों का सामञ्जस्य था, मानो स्वयं प्रकृति ही इसे सर्वश्रेष्ठ स्वरूप प्रदान कर संसार को दिखला रही थी कि—देखो, यह है मानव; ऐसे ही को मनुष्य कहा जाता है!

और ऑक्टेवियस भी उसी प्रकार कहता है—

According to his virtue let us use him,

हमारा कर्त्तव्य है, कि उसके (ब्रुटस के) गुणों के अनुकूल ही हम उसके साथ बरतें।

इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक दोनों नाटकों में पर्य्याप्त सादृश्य रहने पर भी जो आन्तरिक विसादृश्य है, अब संक्षेप में मैं उसी की समीक्षा करूँगा।

३

रस को समतल भूमि से अविराम बहती हुई मुद्राराक्षस

की भाव-धारा में हमें जो मन्द्र-सान्द्र कल-कल रव या मन्द-मन्थर यति-गति मालूम पड़ती है, जूलियस सिजर में उसका अभाव है। यहाँ तो आरम्भ से तीन अङ्कों तक भाव-नाट्य का जो तीक्ष्ण प्रखर प्रवाह है, वह बलात् हमें अपनी तरफ खींच लेता, तथा अकूल, अछोर की ओर बहा ले जाता है; हमें किनारा मिले, न मिले, उसे इसकी तनिक भी परवा नहीं रहती है। हम मानो मझधार में पड़ कर पुकारने लगते हैं—

"Help me, or I sink" बचाओ मुझे, नहीं तो अब डूबा। इस समय हमारी तन्मयता इतनी एकाग्र, जागरित तथा सजीव हो जाती है, कि रस-सिद्ध कवि के लिए 'वाह' कहने भर को भी हमें अवकाश नहीं मिलता; हम एकपल भी रुकना नहीं चाहते, और सच तो यह कि चाहें भी तो रुक नहीं सकते! इतनी ही प्रखर प्रबल धार है वह सचमुच!

पर यह क्रम बराबर जारी नहीं रहता, एकाएक हमारी गति शिथिल से शिथिलतर पड़ने लग जाती है, हमें एक-एक कदम पर रुक-रुक जाना पड़ता है, जैसे पैर बँध गए हों, हम बड़ी ही वक्र दृष्टि से नाटककार की ओर घूर कर 'आह' कह देते हैं। यह है तृतीय अङ्क के उत्तुंग शृंग से चतुर्थ अङ्क की सूखी जमीन पर गिर जाना!

यहाँ हम श्रान्ति-क्लान्ति का कटु अनुभव करने लगते हैं, जैसे (साक्षात्) 'जीवन' को छोड़ कर 'जीवन-चरित' पढ़ने का प्रयास करना पड़ता हो! हम पूर्वापर का सम्बन्ध मिलाते हुए

अब नाटक के कथानक पर आ जाते हैं। ऐन्टनी की भविष्य-वाणी को वर्त्तमान में देखने की तैयारी करते हैं। कुछ आनन्द नहीं, उत्कंठा नहीं, फिर भी मानो नाटक की परीक्षा में पूर्ण अङ्क प्राप्त करने के लिए हमें सब अङ्क पूर्ण करने ही पड़ते हैं। खैर। अस्त्र-शस्त्रों, सैनिकों-सिपाहियों के बीच से किसी तरह निकल कर हम पाप-पुण्य, हास-अश्रु, दिन-रात के सन्धि-स्थल पर पहुँचते हैं, जहाँ सिजर का हत्यारा ब्रुटस, रोम के प्रजातन्त्रीय आसमान का सितारा ब्रुटस, देश-भक्ति, लोक सेवा, सत्य-मानवता के भव्य भावों से सुघरता पूर्व्वक सँवारा ब्रुटस आत्म-हत्या करता हुआ नजर आता है। यह दृश्य इतना द्रावक तथा मार्मिक मालूम होता है कि हमारी टकटकी बँध जाती है, हम काठ बन जाते हैं, न आँखों में आँसू छलछलाते और न पास ही खड़े विजयी 'आक्टेवियस' की ओर देख कर तनिक हँसी ही आती है। जैसे हमारी सारी सहानुभूति, समवेदना बह गई हो! हम न किसी की जीत देखने को खड़े हों और न किसी की ऐसी हार!

इतने ही में आक्टेवियस अपनी इच्छा प्रकट करता है—

'So call the field to rest; and let's away,
To part the glories of this happy day.'

बचेखुचे लोगों को आराम करने के लिए जाने की। बस हम भी उन्हीं के साथ-साथ चुपचाप चले जाते हैं, उस विजय दिवस की प्रसन्नताओं में भाग ग्रहण करने के लिए नहीं, अपने पथराए

ायन और मन को अपनी ही ज्वाला से पिघला कर, सिजर
ग्रौर ब्रुटस की दर्दनाक मौत की फिर-फिर याद कर आठ-आठ
ग्राँसू बहाने के लिए। हाँ, हम यह कहना तो भूल ही गए कि
ीच में छन भर जो दुख के साथ रुकना पड़ा था—उससे हमें
ग्रन्तिम स्थल तक दौड़ कर जाने में सुविधा ही हुई। एक
शला मिली, पर उससे टकराने पर जैसे जलधार में पुनः क्षोभ
ग्रा गया; वेग की तीव्रता बढ़ गई। रोने ही के लिए सही,
हमें तैयार होते देर न लगी। सब मिलाकर 'जूलियस
सजर' ने हमें अपने में मिला लिया, हमारा अपनापन छीन
लया। हमने हँसते-रोते अपने को खो दिया।

पर मुद्राराक्षस में इस तरह का बहाव या चढ़ाव-उतार
देखने को नहीं मिलता। उस में गति है, पर क्षिप्रता नहीं
है; कला है, पर अनुभूति नहीं है; सयम है, पर हृदय नहीं है;
जीवन है, पर रस नहीं है। इसका कारण? इसका कारण
यह नहीं कि कवि के हृदय में रस-सृजन की समग्र सामग्री,
या भावों के परिपाक की पर्य्याप्त विदग्धता (शक्ति) नहीं है,
वह सब तो है ही, पर वह अपने को खोल कर रखने में
सफल नहीं हो सका है। मुद्राराक्षस गम्भीर है, प्रशान्त है,
उसमें लोल हिलोर, तुङ्ग तरङ्ग, ज्वार-भाटे की कमी है। वह
द्रवित कर सकता है पर झकझोर नहीं सकता; हृदय को हिला
नहीं सकता! इनका कारण? इसका कारण यह है कि उसके कवि
ो संस्कृत नाटक के नियत नियमों को पालन करने की जितनी

चिन्ता रही है, उतनी नाटक (पात्रों) और (कल्पित) दर्शकों के साथ एकतान होकर अपने को पिघला देने, घुला देने, बहा देने की नहीं। और चूँकि वह स्वयं नहीं बहा, कोई दूसरा भी किनारे से हिलना नहीं चाहता। मुद्राराक्षस को हमें समझ-बूझ कर पढ़ना पड़ता है, हम उसमें अपनेको खो नहीं सकते। इसलिए मेरे विचार से मुद्राराक्षस, नाटक से अधिक काव्य, और पद्य से अधिक गद्य है। नाटक की दृष्टि से जूलियस सिजर मुद्राराक्षस से अधिक सफल है।

चाणक्य को किसी तरह राक्षस की अँगूठी मिल जाती है, और वह उसी से उसे सब ओर से विवश कर अपने वश में कर लेता है। वहाँ न कोई सिजर है, न ऐन्टनी, न पोर्सिया और न कुछ खास किस्म की समस्याएँ ही। समस्याओं के अभाव से, संघर्ष में ज्वलंत जीवनी शक्ति के विना, ऐसा लगता है, जैसे सारे नाटक में 'नाटक' ही हो रहा हो! चाणक्य अपनी अभिनय-चातुरी को भिन्न-भिन्न प्रकारों से दिखला रहा हो! और कभी-कभी हम भी बीच-बीच में बोल उठते हों—वाह, यहाँ तो बड़ी अच्छी ऐक्टिंग हुई। मालूम पड़ता है, कवि ने अपनी ऐसी (अपने को अभिव्यक्त करने की) अपूर्णता को ही नाटक के दूसरे पद्य (पादस्याविर्भवन्ती-मवनतिमवनेः) के द्वारा सङ्केतित कर दिया है।

४

सिजर की तुलना न मलयकेतु से हो सकती है और न

चन्द्रगुप्त ही से। इसे प्रथम चुम्बन में नासिका-भङ्ग कह सकते हैं। दोनों नायकों में बाहरी-भीतरी किसी भी तरह की इकाई नहीं है, यानी नहीं हो सकती। ऐन्टनी-जैसे पात्र का अभाव मुद्राराक्षस को फीका कर देता है, भागुरायण या विराधगुप्त के साथ उसकी तुलना निरर्थक होगी। उपरि-लिखित जिन जिन घटनाओं में हमें आपाततः सादृश्य प्रतीत होता है, वह भी वास्तविक नहीं है। बचे ब्रुटस और राक्षस; कैसियस और चाणक्य; सो इनमें भी समानता से अधिक असमानता ही प्रतिभासित होती है। ब्रुटस के साथ कैसियस का जो राजनैतिक धूर्त्ततापूर्ण व्यवहार बतलाया गया है, वह बहुत ही थोड़े समय,—यानी आरम्भ के एक अङ्क मात्र के लिए है, किन्तु राक्षस के साथ चाणक्य की चातुरीभरी चालें शुरू से आखिर तक रहतीं; वल्कि नाटक का वही वर्ण्य विषय रहता है। ब्रुटस और कैसियस एकमति होकर जिस कार्य्य को अपने हाथ में लेते हैं, वह अधिक नाटकोपयोगी, रोमांटिक तथा भावपूर्ण तो है ही, नाटक का असली वर्ण्य विषय भी वही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रुटस के साथ कैसियस जिस काम को छन भर में समाप्त कर देता है, वह काम मुद्राराक्षस भर में राक्षस के साथ चाणक्य द्वारा होता रहता है; और ब्रुटस तथा कैसियस साथ मिल कर जिस प्रधान कार्य्य में लगते; मर मिटते हैं, मुद्राराक्षस में उसकी एकदम गुंजाइश नहीं। दूसरे शब्दों में इसे हम यों कह

सकते हैं कि जूलियस सिजर का जहाँ से आरम्भ होता है, वहाँ मुद्राराक्षस समाप्त हो जाता है।

ब्रुटस जब कैसियस के फंदे में फँस जाता है, तो हम जैसे उसका भविष्य देखने के लिए अति उत्सुक तथा एकाग्र हो जाते हैं, किन्तु जब राक्षस चाणक्य के अधीन में आजाता है, तो हम एकदम आँखें बंद कर लेते हैं, हमें कुछ भी देखने की इच्छा नहीं रह जाती। इस प्रकार आरम्भ और अन्त के सदृश ही दोनों के चरित्र में भी विचित्र विसदृशता मालूम पड़ने लगती है। ब्रुटस अव्यावहारिक दार्शनिक तथा अदूरदर्शी देशसेवक है; किन्तु राक्षस विद्वान्, बुद्धिमान् और व्यावहारिक के साथ साथ पटु राजनैतिक भी है। चाणक्य उसके इन्हीं गुणों पर रीझ कर उसे अपने पक्ष में लाने के लिए इतनी युक्तियों का आश्रय लेता है। ब्रुटस इतना सीधा या अबोध है कि षड्यंत्रकारियों की कुटिलता को जान कर भी उन्हें अपने साथ मनमाना करने का अवसर दे देता है। अँधेरे में (भोर होने से कुछ पूर्व) जब उसके पास षड्यंत्रकारियों का नकाबपोश क्रूरदल पहुँचता है, वह मन ही मन कहने लगता है—ओ षड्यंत्र! इस अँधेरी रात में भी तुझे अपनी काली सूरत दिखलाते शर्म मालूम पड़ती है, जब कि दुनिया भर की बुराइओं से खुल कर खेलने का यही ठीक वक्त है? अफसोस! तो तुझे दिन के प्रकाश में ऐसा अन्ध आवास कहाँ मिलेगा, जहाँ तू अपने

कमीने चेहरे को छुपा कर रख सकेगा ? O Conspiracy,

Shamest thou to show thy dangerous brow by night
When evils are most free ? O, then by day
Where wilt thou find a cavern dark enough
To mask thy monstrous visage ?

इसे सुनते ही हमारे हृदय पर ब्रुटस के सरल स्वभाव का प्रभावशाली भाव अङ्कित हो जाता है, पर दूसरे ही क्षण हम उसे अपने मित्र के हत्यारे के रूप में देख कर दंग रह जाते हैं ! जनता के हित के लिए (!) जहाँ वह मित्र सिजर को मारता है, वहाँ उसके लड़कपन का अच्छा परिचय मिलता है। उसने पहले कहा था कि मुझे सिजरिज्म से विद्रोह करना है, सिजर (व्यक्ति) से नहीं; इसलिए क्या ही अच्छा होता, यदि सिजर की आत्मा 'क्रश' कर दी जाती और शरीर एकदम अक्षुण्ण रहता। पर वह करता ठीक उसके विरुद्ध है, सिजर के शरीर को तो काट डालता है पर उसकी आत्मा की छाया भी नहीं छू पाता। ऐन्टनी को जिन्दा छोड़ कर वह अपने नाश का आवाहन ही नहीं करता, सिजरिज्म की प्रबलता, प्रौढ़ता के आगे अपनी लघुता का सुस्पष्ट प्रचार भी करता है।

दूसरी ओर राक्षस अपनी प्रभुभक्ति तथा राजनैतिक शक्ति का इतना सुन्दर स्वरूप प्रकट करता है कि चाणक्य जैसा कूटनीतिज्ञ भी उसे शाबासी देता है—

'गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे

यह वही राक्षस है जिसने दिन रात जगकर, बड़े-बड़े गम्भीर उपायों तथा तीव्र तर्कों के द्वारा बहुत-बहुत दिनों तक चन्द्रगुप्त की सेना को परेशान किया, और मेरी अक्ल के भी छक्के छुड़ाए (याद रहे चाणक्य की यह वह अक्ल है, जिस पर उसे सब से बढ़कर नाज है, जिसे वह सैकड़ों सेनाओं से बढ़चढ़ कर मानता है—एका केवलमेव साधन-विधौ सेनाशतेभ्योऽधिका, नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम)।

इतना ही नहीं, जब कृत्रिम चण्डालों के द्वारा उसे राक्षस के कैद होने की खबर मिलती है, तो वह खुशी से बाँसों उछल कर पूछता है कि बताओ-बताओ, किसने ऊँची-ऊँची लपटोंवाली आग को कपड़े के छोर में बाँध लिया ? किसने हवा को फन्दे में फाँस लेने की हिम्मत की ? किसने मस्त-मस्त हाथियों को पछाड़ कर दहाड़नेवाले सिंह को पिंजड़े में कैद करने का साहस दिखलाया ? और वह कौन सा बाँका बहादुर है जो मगरों-घड़ियालों से भरे समन्दर को तैर कर पार कर गया ?

केनोत्तुङ्गशिखाकलापकपिलो बद्धः पटान्ते शिखी ?
पाशैः केन सदागतेरगतिता सद्यः समासादिता ?
केनानेकपदानवासितसटः सिंहोऽर्पितः पञ्जरे ?
भीमः केन च नैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णवः ?

कहना न होगा, एक इसी श्लोक से राक्षस की धीरता, वीरता तथा गम्भीरता का कैसा महत्परिचय मिलता है !

दूसरे शब्दों में, राक्षस के मुकाबले में ब्रुटस का रंग फीका मालूम पड़ता है। वही हाल है चाणक्य के आगे

कैसियस का भी। आरम्भ में कैसियस क्रूर, कुटिल, कसाई दीख पड़ता है, बाद चतुर राजनैतिक व्यक्ति। पर वह 'मानव' कभी भी नहीं ज्ञात होता। उसमें राजनैतिकता चाहे जितनी ऊँची हो, नैतिकता साधारण दर्जे की भी नहीं! वह जिसे मित्र बनाना चाहता है, उसके साथ भी प्रपञ्च करता है; शत्रु के लिए तो उसका स्वरूप घातक है ही। यहीं उसका नैतिक पतन है। यदि उसके जीवन से राजनैतिकता हटा ली जाय, तो उसकी सारी उच्चता बुल्ले की तरह बिला जाय! पर उसे उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ मानना भी भ्रान्तिपूर्ण होगा, क्योंकि उसकी जो राजनीति नाटक की आत्मा है, वह कौड़ी काम की नहीं। जनता की मनोवृत्ति का, देश की गति-विधि का, विश्व की परिस्थिति का,—संक्षेप में देश-काल का भी जिसे सम्यक् ज्ञान नहीं; अच्छी पहचान नहीं; उसे उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ कैसे कहा जा सकता है ? जिस समय जनता के हितार्थ ब्रुटस से मिल कर वह 'रिपब्लिकनिज्म' की नींव देना चाहता था, वह काल उसके लिए एकान्त अनुपयुक्त था। कारण, उस समय जनता के लाभ के लिए एक अच्छे 'सिजर' की, डिक्टेटरशिप की जितनी जरूरत थी, उतनी प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद की नहीं। प्रजा इतनी असन्तुष्ट न थी कि वह सिजरिज्म के खिलाफ धावा बोलने की जरा भी जरूरत महसूस करती। ऐसी दशा में सिजर से भविष्यत् में होनेवाली बुराइयों का झूठा-सच्चा अन्दाज लगा

कर उसकी हत्या करनेवाले को हत्यारे से पहले राजनैतिक कहने की तबीयत नहीं होती। आरम्भ ही में Commoners के वार्त्तालाप से हमने जान लिया है कि वह सब सिजर की खुशियों में शरीक होने के लिए बाहर निकले थे, उनके ऐसे व्यवहार से हम कैसे कल्पना कर सकते हैं कि प्रजा भी सिजर का बध चाहती थी? सच तो यह कि वह कुछ भी नहीं चाहती थी, उसमें ऐसी-वैसी कैसी भी चाह नहीं रह गई थी। ब्रुटस वगैरह सिजर की हत्या कर पब्लिक के सामने अपनी अजीब सफाई देने निकलते हैं। ब्रुटस एक छोटा सा भाषण भी देता है, तब खुशियों से भर कर जनता चिल्ला उठती है—"ब्रुटस को भी सिजर बना दो!"–सिजर बना दो, अपना सच्चा साथी या सुयोग्य नेता नहीं! यहीं ब्रुटस, कैसियस या सारे प्रजातंत्र-वादियों की अयोग्यता, अदूरदर्शिता, अनैतिक राजनैतिकता का पता लग जाता है, प्रजातंत्र की जड़ में घुन भी। रोम फिर साम्राज्यवाद ही की छत्रच्छाया में रहा, सिर्फ इन राजनीति के विद्यार्थियों का उपहास तथा विनाश हुआ। दूसरी ओर चाणक्य है, जो कूटनीति में पारङ्गत होने पर भी शेर-चीते की तरह खूँखार नहीं है। चन्द्रगुप्त उसका परम प्रिय है, उसके साथ उसका व्यवहार पुत्र या शिष्य की भाँति रूक्ष तथा कोमल है, अप्रिय तो किसी भी हालत में नहीं। पर चन्दनदास आदि साधारण व्यक्तियों से लेकर राक्षस तक (जो उसके साक्षात् शत्रुपक्ष के हैं) से भी उसका व्यवहार अशिष्ट या अभद्रतापूर्ण

नहीं होता। राजनैतिक के साथ-साथ यह उसकी नैतिक विशेषता है। वह इतना सूक्ष्म तथा दूरदर्शी है कि राक्षस जैसे राजनीतिज्ञ को भी उसकी कूटनीति के आगे बार-बार मुँह की खानी पड़ती है, असफलता शब्द से तो उसे उसी प्रकार परिचय नहीं है, जिस प्रकार 'बोना' को असम्भव शब्द से नहीं था। इसका कारण उसकी असाधारण योग्यता के अलावा उसका वैराग्य-पूर्ण तपस्वी जीवन भी है, जो ब्रुटस या कैसियस के General good से बड़ी ही नहीं, बहुत बड़ी चीज है। सम्राट् चन्द्रगुप्त का नौकर जब चाणक्य की टूटी कुटिया देख कर दंग रह जाता है, तो उसके साथ हमारे मन की वीणा के समवेदनाशील समस्त तार एक ही बार झङ्कृत हो उठते हैं। ऐसी करुण-शान्त रागिणी फूट पड़ती है उनसे, कि चाणक्य की सारी कूट-नीति की उद्दाम उच्छृङ्खलता उसीमें धीरे-धीरे विलीन हो जाती है; हम जैसे आँखें मीच कर ज्योतिश्चक्र से घिरे हुए चाणक्य को त्यागी तपस्वी के रूप में देख कर अपना माथा झुका देते हैं, या यों कहिए, वह खुद-ब-खुद झुक जाता है। कैसियस तो क्या, ब्रुटस में भी हम वैसा पावन आलोक नहीं पाते। सच तो यह कि यह वैराग्य, निर्लोभता, प्रशान्ति आदि भाव विशेष कर भारत के ही हो सकते हैं, भारत का राजनीतिज्ञ भी इतना बड़ा तपस्वी होता है।

इसीलिए "मुद्राराक्षस" की समाप्ति सफलता तथा सुख के साथ हुई; और "जूलियस सिजर" की समाप्ति घोर असफलता,

दुःख तथा आत्महत्याओं के साथ। मुद्राराक्षस की राजनीति का नेता तपस्वी है। प्रभावशाली व्यक्तित्व, निःस्वार्थ कार्य्यपरायणता आदि अनेक अलौकिक विशेषताएँ उसके पास हैं, जब कि जूलियस-सिजर में चाणक्य की तुलनात्मक समीक्षा का विषय कैसियस इतना क्षुद्र व्यक्तित्व है कि सिजर उससे शुरू ही से घृणा करता है। ब्रुटस—जैसे अपटु, अव्यावहारिक व्यक्ति को भी उसे अपना साथी (अग्रणी) बनाना पड़ता है कि जिससे वह उसके व्यक्तित्व का बेजा फायदा उठा सके। ब्रुटस की व्यर्थ की सलाहों को उसे चुपचाप इसलिए स्वीकृत करना पड़ता है कि यदि रुष्ट हो कर ब्रुटस उससे अलग हो जायगा तो जनता उसे तत्क्षण त्याग देगी, क्योंकि उसे (कैसियस को) अग्रणी बना कर चलने के लिए वह किसी भी हालत में तैयार नहीं है। इसलिए यह तर्क करना कि यदि कैसियस ही षड्यंत्र का नेता होता; उसी की सलाह से सारी कार्रवाइयाँ की जातीं, तो सफलता-देवी उसके चरणों के आगे घुटने टेक देतीं, एकदम निर्मूल, निराधार है।

'जूलियस सिजर' भर में एक ही व्यक्ति सच्चा है और वह है ब्रुटस। उसका चरित्र सिजर की हत्या से पहले उज्ज्वल है; उसका उत्साह अदम्य तथा उसके विचार नि.स्वार्थ तथा अत्यन्त उन्नत हैं। किन्तु उसने अपने पवित्र जीवन में एक ऐसा भयङ्कर पाप कर डाला, अपने प्रिय मित्र, विश्वासी, जूलियस का गला घोंट कर, कि उसका पतन ही नहीं, विनाश भी

अवश्यम्भावी हो गया। उसकी पोर्सिया जैसी स्त्री (इसी हत्या के फलस्वरूप) मर गई। उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई— उसे कार्य्य-अकार्य्य का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं रह गया। कैसियस से झगड़ बैठा। ऐसे-ऐसे बेढब 'प्लान' बनाने लगा कि उसकी हार निश्चित हो गई। सच तो यह कि जूलियस सिजर को मार कर वह खुद मरने के लिए तुरन्त तैयार हो गया। पर राक्षस ऐसा नहीं है। वह अपने मित्र के लिए आत्मसमर्पण कर देता है पर हिम्मत नहीं हारता, बराबर मर्दानगी से काम लेता है। समर्पण में जो भाव है, वह हत्या में नहीं हो सकता। इसलिए सर्वस्वत्यागी चाणक्य से प्राणत्यागी कैसियस का, या आत्मसमर्पणकारी राक्षस से आत्महत्याकारी ब्रुटस का ठीक-ठीक मुकाबला नहीं हो सकता।

५

इस प्रकार अपने-अपने चरित्रों को लेकर दोनों नाटककार अपने-अपने नाटक की सफलता पर प्रसन्न होते दीखते हैं। शेक्सपियर अपने पात्र के मुँह से कहलवाता है—

How many ages hense
Shall this our lofty scene be acted over
In states unborn and accents yet unknown!

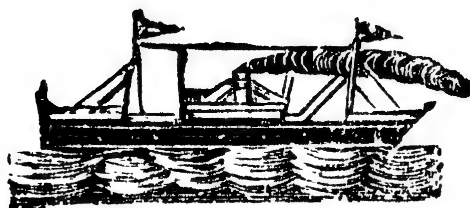
इधर विशाखदत्त भी अपने पात्र के द्वारा अपनी नाटक-रचना के सफल श्रम की ओर इङ्गित करता है—

कार्य्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च

कुर्वन् बुद्ध्या विमर्षं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्य्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा !

कहने का तात्पर्य्य यह कि सब मिला कर मुद्राराक्षस जूलियस सिजर से होड़ करता है; और विशाखदत्त शेक्सपियर से। पर इन दोनों में कौन बढ़ कर है ? या इनकी तुलना से क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है ? यह ऐसा तीर जैसा सीधा सवाल सामने आता है, जिसका जवाब मुझे नहीं देना चाहिए। हालाँकि यह दोनों 'राजनैतिक नाटक' हैं; फलतः मेरे लिए भी राजनैतिक रीति-नीति से 'हाइ कोर्ट का फैसला' सुना देना ज्यादा अच्छा होता; और शायद मैं ऐसा ही करता भी, पर एक बात है—जहाँ तक इनमें राजनैतिकता है, मुझे साफ-साफ कहना ठीक मालूम पड़ा; पर जहाँ नाटकत्व है, साहित्य अत्यन्त नग्नता, भौतिकता, बर्दाश्त नहीं कर सका। दुपहर की खुली ज्योति में राजनीति आकर सामने खड़ी हो गई; शरद् पूनो की आधी रात की स्निग्ध-ज्योत्स्ना में साहित्य हँसता-हँसता छुप गया।

सितम्बर '३९



*

जयदेव और विद्यापति

१

गेटे और ग्रियर्सन की परम-प्रशंसाओं, शत-शत भक्त और प्रेमी-विरही नर-नारियों के कल-कलरव से मुखर, भक्ति और शृङ्गार के अमलिन पुलिनों को छापकर छलकनेवाली, जयदेव और विद्यापति की कविता-कल्लोलिनी, पिछले पाँच-सात शतकों से मानव-मन के कलंक-कल्मषों को धोती हुई, गङ्गा-यमुना की तरह अविराम बह रही है। विश्व-साहित्य समुद्र में मङ्गलमय सङ्गम प्राप्त करनेवाली इन युगल निर्मल जलधाराओं की बड़ी महिमा है। पूर्व के इन अपूर्व साहित्यिकों का पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सब ओर बड़ा नाम है। कश्मीर के केसर के समान ये दोनों क्रमशः बंगाल और बिहार के महान् दान हैं।

भारतीय गीति-काव्य का जन्मदाता जयदेव, काव्य में 'मधुर-कोमल-कान्त-पदावली' की नींव देनेवाला भी है, पहला कद्रदाँ भी।

> ''ललित-लवङ्ग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे;
> मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीरे।''

साहित्य में सङ्गीत की पहली खुली इज्जत है। इसके पहले 'थ्योरियों' द्वारा साहित्य और संगीत के Back ground को समान मानने की चेष्टाएँ भले ही हुई हों, दोनों की आत्माएँ पृथक् थीं। जयदेव ने पहली बार अपनी मोहिनी मुरली की

तान कविता-सुन्दरी के प्राणों में फूँकी है। संगीत के 'सप्त' स्वरों का अपने काव्य की 'अष्ट'पदियों में नव रूप प्रदान किया है। काव्य में कल्पना और अनुभूति, सौन्दर्य और माधुर्य्य, रस और ध्वनि के साथ, राग और ताल का, यह ऐसा—भीतर-बाहर का प्रकट सम्बन्ध प्राचीन विश्व-साहित्य में दुर्लभ है।

जयदेव से महादेवी तक, आज यहाँ, गीति-काव्य का इतना अधिक प्रचार-प्रसार हो चुका है कि सूर-कबीर, चण्डि-दास-विद्यापति, मीरा-रवीन्द्रनाथ आदि को मद्दे-नजर रखते हुए यह कहना अत्यन्त सहज-सरल मालूम होता है कि भारतीय साहित्य का स्वर्णिम सरोज तो सजल-संगीत की ललित-लोल लहरियों पर लहरा रहा है!

२

जयदेव बंगाल के विख्यात सेन-वंशीय राजा लक्ष्मण-सेन के दरबार में थे। सेनवंश का राज्य ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त और बारहवीं के शुरू में कायम हुआ था। १११६ ई० में बल्लालसेन का लड़का लक्ष्मणसेन गद्दी पर बैठा था और ८० वर्षों तक राज्य किया था। फलतः जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। सेनवंशी राजा ब्राह्मण थे—बड़े विद्वान् और बड़े विद्वत्प्रेमी। बल्लालसेन तन्त्रशास्त्र का अच्छा जानकार था। उसने तन्त्रशास्त्र के प्रचार के लिए मगध, उड़ीसा, नेपाल, भूटान आदि प्रान्तों में अनेक ब्राह्मण उपदेशक भेजे थे। सेनवंशी राजा बौद्धों के

बड़े विरोधी थे। लक्ष्मणसेन के दरबार में पञ्चरत्न थे—जयदेव, गोवर्द्धन, धोयी, उमापतिधर और शरण। जयदेव ने अपने गीतगोविंद के आरम्भ में इन सबों की बड़ी तारीफ़ की है। इधर आठवीं शताब्दी के अन्त में भगवान् श्री-शङ्कराचार्य उत्पन्न हो चुके थे, वैदिक धर्म फिर जोर से पनपने बढ़ने लगा था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सेन-वंशी राजा बौद्धयुग की प्रतिक्रिया के समय के थे। शक्ति की तान्त्रिक उपासना के उस क्रूर-कठिन काल में, बालकृष्ण की बाँसुरी टेरता हुआ जयदेव प्रकट हुआ था। यह शाक्तों की रक्तिम संध्या में जैसे शरत्काल का बालचन्द्र उदित हुआ था। उसकी (जयदेव की) अपनी ही मृदुल-मनोहर आराधना ने मानों राधा का नाम-रूप ग्रहण कर लिया था, त्रिभुवन-मोहन की मोहिनी उस राधा का नाम-रूप, जिसकी तनिक चर्चा भी महर्षि व्यास के भागवतभर में नहीं।

इस नये नाम, नये काम, नये गान और नई तान में कुछ ऐसा छिपा जादू था कि जिसने भारत के इस छोर से उस छोर तक राधा-माधव के प्रेम-विरह को, भक्ति-शृङ्गार की एक अपूर्व रसधारा बहा दी। जिसने भी इसका दरस-परस, मज्जन-पान किया, अपने को धन्य माना, वेसुध-विभोर हो गया। इस नई धारा में सचमुच गजब का जादू था। इसका बहाव भारत ही भर में सीधा-तिरछा होकर नहीं रह गया। यह मधुर रसधार सात समुंदर की खारी जलधार पार करती

हुई, सुदूर पश्चिम तक पहुँच गई; गेटे को भी प्रसन्न कर आई। यह भारतीय साहित्य की एक सांस्कृतिक मौलिक धारा थी।

कालिदास के बाद उन्नीसवीं शताब्दी से पहले के वर्षों को भारतीय साहित्य का मध्य-युग कहना चाहिए। रामायण-महाभारत के महान् आदर्श को सादर ग्रहण कर उस काल के कवियों ने बहुत-सी रचनाएँ कीं, बहुत प्रकार के बौद्धिक तथा नैसर्गिक चमत्कार दिखलाये। कुछ फूले-फले, कुछ उगकर ही मुरझा गये। उस समय के काव्य-कुसुमोद्यान में जिसकी महक सबसे अधिक मीठी थी, जिसमें सबसे अधिक प्राणों का स्वाभाविक खिंचाव था—वह न तो माघ था और मुरारि ही, न भारवि था और न भवभूति, वह था जयदेव। इसमें इतने अधिक आकर्षण का प्रधान कारण था—इसकी सिर से पैर तक नवीनता, आमूल मौलिकता, अजीब अपनापन। इतना मधु, इतनी गन्ध थी इसके कोमल हृदय-किसलय में, अज्ञात-वेदना-विकल प्राणों में, इतनी रंगीनी, इतना सोना था इसकी गुलाबी उषा में, गुलाबभरे प्रात में, कि इसे ललित कविता-लताओं के बीच विहँसता मधुर माधव कहना अत्युक्ति-पूर्ण न होगा। इसके कमनीय काव्य के आदर्श कृष्ण भी कुमारकिशोर हैं, महाभारत के सूत्रधार नहीं। उन्हें क्रीड़ा-कौतुक, रास-विलास ही प्रिय है, 'रास' खींचना नहीं; उन्हें कदम्ब की डाल पर बैठकर बाँसुरी बजाना पसन्द है, अर्जुन के रथ पर बैठकर

पाञ्चजन्य बजाना नहीं। वह उसके गान से सुध-बुध खोकर उसी के पीछे-पीछे दौड़ते चलते हैं, उसे दिल-ही-दिल प्यार करते हैं।

राधा-माधव के प्रेम-साहित्य का यहीं से सूत्रपात हुआ। तब हिन्दी का अस्तित्व ही भर था; साहित्य नहीं। जब हुआ, राधा माधव के अतिरिक्त उसका दूसरा कोई विषय नहीं रहा। प्रेम-साहित्य के गगन में कृष्ण ही चन्द्र बना रहा। सत्रहवीं शताब्दी के लगभग के सूर आदि से लेकर अबतक के गीति-कवियों पर गुप्त रीति से जयदेव के गीतगोविन्द का प्रभाव है। सूर, मीरा, रवीन्द्र आदि की काव्य-वीणा में जयदेव के गीतों की झङ्कार भरनेवाले प्रकट तार तो दूसरे हैं—विद्यापति, चण्डिदास तथा अन्य प्रान्तीय कविगण। मेरा मतलब यह नहीं कि हिन्दी के गीतिकारों ने गीतगोविन्द की नकल की। असल में तो, नकल में भी असलियत कुछ कम न थी, तभी विद्यापति आदि चल निकले। पर हिन्दी और बगला के प्रथम महान् गीति-कवि—विद्यापति को जो 'अभिनव जयदेव' कहा गया और उनके गान जो सूर आदि की कृति-देह में प्राण बनकर समा गये, इसीके भीतर जयदेव का रहस्यमय लगाव है।

जयदेव से प्रायः ३०० वर्षों के बाद १५वीं शताब्दि में कवि विद्यापति ने मैथिली में जयदेव-शैली के मृदु-मनोहर पद लिखे। इनके काव्य-विषय भी वही रहे—राधा-माधव के

प्रेम-विरह, सखी-दूती, ऋतु-वर्णन आदि। शैली में प्रान्तीय मुग्धता-मनोहारिता की मौलिकता रही। परन्तु मेरु-दण्ड जयदेव ही का रहा। भाषा और भावों के सँवारने का सुघर-पन, कल्पना, चित्र, अलङ्कार, रस, ध्वनि--सब एक-से रहे। दोनों के भाव-पक्ष और कल्पना-पक्ष में समानता—बल्कि एकरसता रही। फिर भी जैसे जयदेव, वैसे ही विद्यापति भी मौलिक कहलाये। अवश्य विद्यापति में जयदेव से ज्यादा फैलाव यानी व्यापकता भी दिखी। इन्होंने समाज को भर-भरकर प्रेम के प्याले पिलाये। जिसे इनके काव्य का रस नहीं मिला, सचमुच वह अभागा है।

३

काव्य-कला की सच्ची परख के लिए न तो अँगरेजी-शैली का अन्ध अनुकरण ठीक होगा और न संस्कृत के अलङ्कार-शास्त्रों की आवृत्ति। कोरी भावुकता भी साथ न देगी; क्योंकि सुख की अनुभूति और सुख की अभिव्यक्ति—ये दोनों दो बातें हैं। पहली में आँखें मूँद लेनी पड़ती हैं; पर दूसरी में न केवल खोलनी, किन्तु दर्शकों की आँखें खुलवानी भी होती है। सस्ती भावुकता का पक्ष आलोचना के लायक इसीलिए नहीं होता।

एक समय एक जापानी तसवीर और एक ईरानी खूबसूरती की तारीफें करते-करते जब मेरी आँखें गीली हो गईं—मेरे साथी बड़ी सूखी हँसी हँसे। हँसी की वजह इतनी साफ थी कि बाद में मेरे होंठ भी बगैर रँगे नहीं रह सके। मेरे साथियों

की चुस्त निगाह में भारतीय के अतिरिक्त अन्य लावण्य तिक्त ही हो सकता था। दृष्टि की ऐसी एकाङ्गिता कला की विवेचना के लिए कदापि उपयुक्त नहीं।

एक बात और। यों तो विश्वजनीन (Universal) कवियों की कृतियाँ चाहे जिस किसी दृष्टिकोण से परखी जायँ, कुछ-न-कुछ सुन्दर जँचेंगी ही। यदि ऐसी बात न हो तो उनका विश्वजनीन कहलाना वृथा। पर परखने का सच्चा तरीका तो वही होगा, जो कवि के निजी दृष्टिकोण के बहुत पास-पास रहेगा। नहीं तो सारी उछल-कूद रामायणी कथा वाचकों के एक-एक चौपाई के सैकड़ों ऊल-जलूल मतलबों की तरह बेतरह निकम्मी निकलेगी। यदि शेक्सपियर के नाटकों की समीक्षा भरत मुनि के बताये नियमों के अनुसार हो तो वह जरूर ही दो कौड़ी के जँचेंगे। केवल इसलिए कि अपने उन विश्व-विश्रुत नाटकों की रचना शेक्सपियर ने न तो 'नाट्यशास्त्र' पढ़ कर की थी और न इसकी जरूरत ही महसूस की थी। फलतः शेक्सपियर के नाटकों की खूबियाँ (मात्र कथानक की रोचकता नहीं) उसीकी रोशनदार आँखों से देखी जानी चाहिएँ। रस्किन ने ऐसी दृष्टि के लिए बहुत जोर दिया है—मिल्टन के उद्धरण के द्वारा इसकी अच्छी व्याख्या भी की है। अस्तु।

जयदेव या विद्यापति ने जो कविताएँ लिखी हैं--वे आधुनिक प्रगतिशीलता, सुरुचि (!) आदि के परे हैं। उनमें शास्त्रीय कौशल की बहिर्मुखता है, बहुमुखता है। भीतरी

स्तर में कवि का सरल हृदय है। हृदय सहृदयों द्वारा तुरन्त परख लिया जाता है, पर बाह्य-सौंदर्य की सच्ची समझ के लिए शास्त्र-परिष्कृत दृष्टि की आवश्यकता होती है। यह बाहरी सौंदर्य काव्यगत सत्य का आवरण नहीं, आभरण है। बाहर सौंदर्य की प्रतिमा है, भीतर प्राण। इसलिए इनकी कला में जीवन है, जिन्दादिली है। कहना तो यों चाहिए कि एक ही जगह धूप-छाँह की आँखमिचौनी है। ऊपर शृंगार-सौंदर्य की ललित नीलिमा और भीतर भक्ति का ज्योतिर्लोक। जो जितनी गहराई तक पैठेगा, वह उतना प्रकाश पा सकेगा। मुझे अमृत के ऊपर हलाहल का छलकता प्याला रख देने में बड़ा कौशल मालूम होता है। जैसे ऐरे-गैरे 'भोगी' मानव के बाँटे ऊपर विष और योगी के लिए 'अमृत' छिपा कर रक्खा गया हो! जैसे रत्नगर्भा के रत्नों की रक्षा के लिए ऊपर चिकने-चमकीले पत्थर और रंगीन मिट्टी का ढेर इकट्ठा कर दिया गया हो।

जयदेव और विद्यापति का साहित्य संतों का साहित्य है, उसे असद् दृष्टि से देखना पाप होगा। कवि के भावों को हृदयङ्गम न कर, कुछ अपने छिछले-गहरे भावों को ठूँस-ठाँस कर—कवि पर कीच उछालना, मेरे विचार से साहित्यिक पाप है।

बंगाल और मिथिला की मद्य-मांस-मिश्रित संस्कृति की खाद से नये उगे, उसी (संस्कृति) की समुचित प्रतिक्रिया के वाले तमालतरु—जयदेव-विद्यापति के मर्मर-मधुर प्रेम-संगीत

को कुरुचिपूर्ण कहना सुरुचिपूर्ण नहीं कहला सकता। यही कारण है कि चैतन्यदेव विद्यापति के पद गाते समय सुध-बुध खो देते थे; पर व्यसनी रसिक उनसे पाप-पूर्ण प्रेरणाएँ ही पाते हैं, और आधुनिक कुछ सभ्य जन तो उनकी दुर्गन्ध से ऊबकर नाक पर रूमाल तक डाल लेते हैं।

४

मैं पहले लिख चुका हूँ कि कवि जयदेव की साधना-आराधना ही ने जैसे राधा का रूप धारण कर लिया था। इस लिए उसके काव्य में कवि का अपना कुछ भी नहीं उसके हर्ष-शोक, उल्लास-उच्छ्वास सब दूसरे के—राधा के, कृष्ण के हैं। जैसे कवि की वाणी, यदि कृष्ण या राधारानी की वाणी नहीं, तो फिर उसका पृथक् कोई अस्तित्व ही नहीं है। राधा-कृष्ण के लिए अपने अस्तित्व तक को खो देने वाले इस कवि की कविता को चाहे कृष्ण का उल्लास कहें, चाहे राधा का उच्छ्वास—और कवि-सम्बन्धी कुछ नहीं कह सकते। कदम्ब की छाँह में खड़े मुरलीमनोहर की मनोहर मुरली की तान, उसी के तने पर बैठी कोयल की कूक, वृन्दावन की कुञ्जगली में मुग्ध-मूर्च्छित गोपबालाओं की लम्बी उसाँस जैसे जयदेव की साँस—गीतगोविन्द के रूप में परिवर्तित हो गई है। पर विद्यापति की पदावली में इससे और ज्यादा दर्द, और ज्यादा गहराई है। कम-से-कम विद्यापति के विरह का बादल तो विश्व के शत-शत विरही नर-नारियों के आँसुओं का पुञ्जीभूत रूप है,

जब कि गीतगोविन्द में वह महज राधा-माधव के प्रेम-शृङ्गार का उद्दीपनमात्र है।

पपीहे के सुर में जो दिल का दर्द है, कोयल की कूक में जो कलेजे की हूक है, वही उसके स्वर की माधुरी है।

Our sweetest songs are Those
That tell of saddest Thought.

यह ऐसी माधुरी ही उसे शत-शत शुक-सारिकाओं, राशि-राशि मयूर-हारीतों से ऊपर उठाये हुए है। फलतः जिस कवि के मानस में जितना ही गहरा विरह-करुणा का निर्मल जल होगा, उसमें उतनी ही अधिक माधुरी, उतनी ही अधिक शीतलता भी होगी। काव्य में अनुप्रास और यमक की मधुरता—व्याह में शहनाई की मधुरता है, और भाव की—कवि के चिर-विरही प्राणों के उद्गार की मधुरता—अनहद नाद की मधुरता है। शहनाई बच्चों की खुशी के लिए, विवाह-विज्ञापन के लिए बजाई जाती है, अनहद ध्वनि एकचित्त योगी सुनता है। काव्य के श्रोता बच्चे (अर्थ में), योगी—सब हो सकते हैं, होते हैं। दोनो ध्वनियों की खपत भी इसीलिए दो श्रेणियों में हमेशा से होती आई है, और वह ठीक भी है।

कहने का मतलब यह कि विद्यापति में जयदेव से अधिक गम्भीर विरह है, फिर भी वह चण्डिदास की तरह अतलस्पर्शी नहीं। चण्डिदास के दुःख-दर्द ने तो उन्हें "दुःख का कवि" बना दिया है। सम्भव है, भौतिक जीवन के अनुभूत प्रेम-विरह

ने, उनके कवि-हृदय के चिरन्तन प्रेम-विरह को इतना तीव्र, इतना मार्मिक बना दिया हो ! विद्यापति मिलन में अधिक-से-अधिक तृप्ति, सुख और विरह में अधिक-से-अधिक दुःख का अनुभव करते हैं। इनकी विरहिणी राधा कहती हैं—

"सखि हे हमर दुखक नहिं ओर,
इ भर बादर, माह भादर
सून मन्दिर मोर !"

आह सखि ! मेरे दुःख की तो कहीं सीमा नहीं, कोई ओर-छोर नहीं। यह भादों का हरा-भरा महीना, आसमान में बादल भरे हुए—पर मेरा घर आज भी सूना है !

चिर-शून्य आकाश में भरा हुआ मेघ-मण्डल और भरी आँखों से अपने सौभाग्य-मन्दिर का सूनापन देखने में विरह-दुःख किस कोटि तक पहुँच गया है ?

इसी प्रकार मिलन-मुहूर्त्त में उनके सुख-सुहाग की असीमता देखने को मिलती है। श्रीकृष्ण राधा के श्रीसदन में पधारे हुए हैं, अब इस आनन्द को वह किस प्रकार छिपा सकती हैं ? 'मगन' होकर जोर-जोर से गाने लगती हैं—

"आजु रजनि हाम भाग्ये पोहायनु
पेखनु पिया - मुख - चन्दा ;
जीवन यौवन सफल करि माननु
दस दिश भेल निरदन्दा।
आजु मझु गेह गेह करि माननु
आजु मझु देह भेल देहा ;

आजु विधि मोहे अनुकूल होयल
टुटल सबहुँ सन्देहा ।"

आज की रात की बात कैसे बताऊँ ? इस सुख का, इस खुशी का भी कोई ठिकाना है ? अरी, आज मैंने प्रियतम का चाँद-सा चमकता मुखड़ा देखा । आज ही मैंने इस नारी-जीवन को, नवयौवन को सफल समझा, धन्य माना । अब क्या ? दसों दिशाएँ निर्द्वन्द्व हो गईं—सब ओर मेरी ही खुशी जैसे लहरें लेने लगी । आज ही मुझे घर, घर की तरह मालूम हुआ, और यह शरीर शरीर की तरह । भाग्य आज ही मुझे अनुकूल दीख पड़ा, और अब तो मेरे मन में किसी भी संशय-सन्देह की गुंजायश नहीं ।

यह गाते-गाते वह बेसुध-विभोर हो जाती हैं और कल तक विरह की हालत में बेरहमी से सतानेवाले चाँद, कोयल, स्मर—सबको पगली-सी ललकारती हैं—

सोइ कोकिल अब लाख डाकउ
लाख उदया करु चंदा
पाँच बाण अब लाख बाण हउ
मलय पवन वहु मंदा
अब सो न यवहुँ मोहे परिहोरत
तवहुँ मानव निज देहा

अरी बावली कोयल ? कूक, अब कूक ना, जोर-जोर से । और चाँद !—तू चाँदनी बरसा अब, आसमान में इठला रात-रातभर । मुझे तेरी कुछ परवा भी है भला ? हाँ, विरह-विकल

अबल-अबलाओं को निठुरता से सतानेवाले पञ्चशर भगवान्! अब आप धनुष-तूणीर उठाएँ, पाँच ही क्यों, लाख-लाख तीर छोड़ें एक साथ! आज तो प्रियतम मेरे पास हैं, और वह जब तक मुझे छोड़ कर नहीं जाते, तभी तक तो मैं हूँ।

दुःख-सुख में, दुःख-सुख की यह ऐसी अतिशयता चण्डि-दास के लिए सम्भव नहीं। उन्हें तो मिलन में भी बहुत सुख नहीं मिलता, कृष्ण की बाँसुरी के मधुर सुर में भी अमृत और विष की समान मात्रा मालूम पड़ती है। हाँ, इस प्रकार की दुःखकातरता में, आकुलता-विकलता में वे किसी किस्म की बेबसी नहीं महसूस करते। बल्कि दुर्दिन की सुनसान आधी रात में आँसुओं की बूँदाबूँदी के बीच उनका प्राण-पपीहा गा उठता है —

'यार यत ज्वाला
तार ततई पिरीति'

जिसमें जितनी (अधिक) ज्वाला है, उसमें उतना ही (अधिक) प्रेम भी है। वस्तुतः चण्डिदास के प्रेम से पिघले हुए दिल में सुख-दुःख की पृथक्-पृथक् अनुभुति ही नहीं होती। वह कहते हैं—सुख-दुःख दोनों सगे हैं; जो सुख के लिए प्रेम करता है, उसके पास दुःख कैसे न जाय?

'कहे चण्डिदास सुन विनोदिनी
सुख - दुख दुटि भाइ;
सुखेर लागिया ये करे पिरीति
दुख याय तार ठाँइ।'

मिलन में भी विरह की यह परम अनुभूति हुई। इस प्रकार देखा जाता है कि चण्डिदास और विद्यापति में, प्रेम-विरह के चित्रों में जहाँ रूप-रेखाओं की बारीकी के साथ-साथ रंगों की गहराई है, वहाँ जयदेव में अधिकांश रेखा-चित्र, पेंसिल-स्केच ही हैं।

'निन्दति चन्दनमिन्दुकिरण-
मनुविन्दति खेदमधीरम्;
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव
कलयति मलयसमीरम्।'

अर्थात् वह (राधा) चन्दन और चाँदनी की (दाहकारी अनुभव करने के कारण) निन्दा करती हैं और अधिकतर खिन्न रहती हैं। मलय-समीर के विषय में उन्हें मालूम पड़ता है कि चन्दनतरु में लिपटे हुए साँपों की विषभरी साँस ही बहकर आती है, तभी तो उसके स्पर्शमात्र से उनके अंग-अंग झुलसे जाते हैं।

या

'ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्;
विलपति, हसति, विषीदति, रोदिति, चञ्चति, मुञ्चति तापम्।'

वैसे प्रकट रूप से आपका पाना असंभव जान, ध्यान की एकतानता के द्वारा वह सामने आपकी प्रतिमा की कल्पना कर उसी के आगे कभी विलाप करती हैं, कभी हँसती हैं, कभी रोती हैं और कभी (मिलन की आकुल तन्मयता के कारण) कुछ डग आगे बढ़ जाती हैं और (मिलन-सुख प्राप्त कर ही

जैसे सन्तोष-शान्ति का अनुभव करने लगी हों—) क्षणभर शान्त हो जाती हैं।

इसमें न तो विरह की गरिमा है और न

'राधावदनविलोकनविकसितविविधविकारविभङ्गम्
जलनिधिमिव विधुमण्डलदर्शन-तरलिततुङ्गतरङ्गम्,
हरिमेकरसं चिरमभिलषितविलासम्
सा ददर्श गुरुहर्षवशंवदवदनमनङ्गनिवासम्

में मिलन-सुख की अत्यधिक तृप्ति। कवि कहता है—'चन्द्र-मण्डल देखकर जैसे समुद्र लहराने लगता है, राधा ने देखा, उसके मुख-चन्द्र को देखते ही कृष्ण भी हर्ष के विभिन्न विकारों को छिपा न सके। जैसे बहुत दिनों से राधा-विषयक विलासों की अभिलाषा में हों—उनके मुख पर प्रसन्नता की रेखाएँ इसी प्रकार स्पष्ट हो गईं, काम के अलस भाव इसी प्रकार अंकित हो गये!' विद्यापति की तुलना में यह कितनी हल्की तूलिका है!

फिर भी किशोर कृष्ण के काव्य में कैसे उनकी माखन-मिश्री की मिठास मिल सकती है, यह गीतगोविन्द गाकर ही अनुभव किया जा सकता है। वैष्णव जयदेव ने जो स्थिर आनन्द को अपनाया, तीव्र दुःख को, चिर-विरह को बहुत महत्त्व नहीं दिया—यह कुछ बुरा नहीं, जब कि अपनी एक-रसता, संयम, सुख-प्रवाह को वह बराबर कायम रख सकने में कामयाब हुए।

ऐतिहासिक दृष्टि से विद्यापति शैव थे, पर उनके पद

वैष्णव हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि शैव होकर भी वह वैष्णवधर्म को बुरा नहीं मानते थे, बल्कि हरि-हर में उन्हें भेद ही नहीं भासित होता था। उन्हों ने लिखा है—

"भल हर भल हरि भल तुत्र कला
खन पितबसन खनहिं बघछला
खन पंचानन खन भुज चारि
खन संकर खन देव मुरारि
खन गोकुल गये चराइग्र गाय
खन भिखि माँगिये डमरु बजाय
* * * *
भनइ विद्यापति विपरित-बानि
ओ नारायण ओ सुलपानि!"

जो कुछ हो, उनके पद राधाकृष्ण-सम्बन्धी ही अधिक हैं। और उनमें सिर्फ बाहरी साज सँवार भर नहीं, प्राणों की अनुभूति भी है। अवश्य ही जयदेव और विद्यापति—दोनों का कलापक्ष प्रबल है, जब कि चण्डिदास में केवल अनुभूति, केवल हास-अश्रु हैं।

५

जयदेव और विद्यापति के पदों का प्रचार, बंगाल-बिहार में, गुण्डों से लेकर संतों तक, झोपड़ियों से महलों तक, कुल-कामिनियों से लेकर वारवनिताओं तक में है। अच्छी-अच्छी तवायफें महफिलों में अक्सर गीतगोविन्द गाती हैं। जयदेव बंगाल के तो थे ही, इधर, दक्षिण-बिहार में, ब्याह-शादी के

मौकों पर कुलललनाएँ कोकिलकंठ से जयदेव ही के पद गाती हैं, बारातियों के खाते वक्त भी गीतगोविन्द ही गाया जाता है। मिथिला में धान रोपते वक्त मजदूरिनें भी विद्यापति के पद गाती हैं। व्याह-गौना, महफिल-मजलिस, मन्दिर-मठ आदि की तो बात ही न्यारी है। और बंगाल में ? वहाँ विद्यापति के पदों के प्रचार-प्रसार के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'बङ्गसाहित्य का पिता' वह एक बंगाली ही आलोचक के द्वारा घोषित किये गये हैं। श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त ने लिखा है—

"Even the preservation of the beautiful poems of Vidyapati is due to the accident that they were taken to Bengal by Bengali students in Mithila and were extensively admired by the Vaishnavas of Bengal. Vidyapati along with Chandidas is still regarded as the father of Bengali poetry."

इस ऐसी लोकप्रियता ही के भीतर इनके काव्य की खूबियाँ मौजूद हैं। पर इसके यह मानी नहीं कि ये ग्राम-गीतों के कवि हैं और इनका इतना अधिक प्रचार, भाषा-भाव की ग्रामीण सरलता के सबब हुआ। ये दोनों ही उच्चकोटि के काव्य-कलाकार हैं, आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर इनके कला-कौशल का सम्यक् ज्ञान होता है, रस तथा सौन्दर्य का बोध होता है, अलङ्कारों-कल्पनाओं का अकल्पित आनन्द आता है, ध्वनि-व्यंग्यों की विचित्रता मालूम होती है।

कल्पना

शेक्सपियर-शेली आदि विश्वकवियों ने कल्पना को काव्य-कला की सर्वश्रेष्ठ विभूति बतलाया है। जयदेव और विद्यापति —दोनों ही में ललित कल्पनाओं के उत्तम-उत्तम उदाहरण हैं।

कृष्ण के बड़े भाई बलदेव के स्वर्ण-वर्ण शरीर में शोभायमान श्यामल वसन पर कवि कल्पना करता है—जैसे हल के (प्रहार के) डर से (हल ही उनका प्रिय अस्त्र है) स्वयं यमुना आकर उनको दीप्त देह में सटी-चिपकी हों। कहते हैं, बलदेव ने यमुना को प्यार करना चाहा था; पर वह भग गई थी—

'वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभम्—
हल-हति-भीति-मिलित-यमुनाभम्,
केशव धृत - हलधर - रूप
जय जगदीश हरे!'

—जयदेव

दूसरी-दूसरी सखियों को चूमते-पुचकारते देख राधा दिल ही दिल जल-भुनकर चली गईं। कृष्ण भी अपराधी होने के कारण उस समय उन्हें न रोक सके। फिर अकेले बैठे-बैठे उनके उस घड़ी के चेहरे की याद कर आहें भर रहे हैं—वह कितना तमतमा उठा था! और गुस्से के सबब भवें कैसी बाँकी-बाँकी दिखती थीं! मालूम पड़ता था, मानों खिले हुए लाल कमल के ऊपर भौंरा मंडला रहा हो, और वह कमल भी चपल चञ्चल हो गया हो, उसी भौंरे की वजह से। कैसी मीठी कल्पना है चिन्तन-अनुभूति के साथ-साथ?—

'चिन्तयामि तदाननं कुटिलभ्रु रोषभरेण;
शोणपद्ममिवोपरि भ्रमताऽऽकुलं भ्रमरेण।'

—जयदेव

कृष्ण के विरह में, शरीर की जलन मिटाने के लिए राधा फूलों की सेज पर सोई हुई हैं। कवि कहता है—वह सुकुमार सुकुमार कुसुमों की नहीं, पुष्पवाण के तीक्ष्ण बाणों की शय्या है। और राधा उस 'शरशय्या' पर पड़कर जैसे कठिन व्रत-साधना कर रही हैं, जिसका कोमल फल होगा कृष्ण का आलिङ्गन-सुख प्राप्त करना।

'कुसुमविशिखशरतल्प-मनल्पविलासकलाकमनीयम् ;
व्रतमिव तव परिरम्भसुखाय करोति कुसुमशयनीयम्।'

—जयदेव

विद्यापति की कल्पनाएँ जयदेव से ज्यादा लच्छेदार हैं। जयदेव में वे अनुभूति के साथ-साथ घुल-मिल गई हैं और केवल इसी दृष्टि से देखने पर स्वाभाविक भी अधिक मालूम पड़ती हैं। सच तो यह कि सुख में 'अति तृप्ति,' विरह में 'अति वेदना' की तरह कल्पना में भी विद्यापति ने 'अति' को नहीं छोड़ा है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'अति सुन्दर' नहीं है।

"कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल ता अरुझायल हारा,
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद बिहिनु सब तारा!"

—विद्यापति

कुच-कलशों को छूती हुई श्यामल, सघन केशराशि खुलकर फैली हुई है, जिससे छाती पर झूलनेवाला हीरे का हार

उलझ गया है। कवि को वह छवि देखकर ऐसा मालूम पड़ता है, मानो सुमेरु पर्वत पर चाँद को छोड़ (बालों के सबब, क्योंकि चाँद की मौजूदगी में अँधेरे की हस्ती मिट जाती है) सभी तारे साथ मिलकर उगे हों !

कविवर निराला ने अपनी 'राम की शक्तिपूजा' नामक सुप्रसिद्ध कविता में राम के फैले बालों पर कुछ ऐसी ही कल्पना की है—

"दृढ़ जटामुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा दुर्गम पर्वत पर ज्यों नैशान्धकार,
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार !"

वयःसन्धि के समय रोओं की एक पतली-सी रेखा नाभी से छाती तक उग आती है। उसकी तस्वीर कवि की निगाह में यों उतरती है—नाभि के बिल से निकलकर रोम-रेखा की नागिन, सुन्दरी की सुरभित साँस पाने की ख्वाहिश से जैसे, ऊपर चढ़ी, पर उसकी नुकीली नाक को गरुड़ की चोंच समझ कर, डर से झटपट दोनों पयोधर-पर्वतों के मध्य के मिलन-स्थान में, सँकरी जगह देखकर छुप गई।

"नाभि-विवर सयँ लोम-लतावलि
भुजगि निसास - पियासा,
नासा—खगपति—चंचु—भरम—भय
कुच-गिरि-सन्धि निवासा।"

—विद्यापति

रूपसी नहा कर निकली है, गीले बालों से और आँचल

से पानी की बूँदें टपक रही हैं। इस पर कवि ने तीन गीतों में तीन तरह की कल्पनाएँ की हैं। अवश्य तीनों एक दूसरी से बढ़कर हैं। पहली है—

"चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा !"

बालों से जल-बिन्दु क्या टपक रहे हैं—मुखरूपी चन्द्रमा के डर से तम रो रहा है ! दूसरी है--

"चिकुर गरए जलधारा,
मेह बरिस जनु मोतिम हारा !"

यानी बालों से जलधार नहीं, बादलों से मुक्ता-हार बरस रहा है। और तीसरी में तो गजब ही ढा दिया है। यहाँ बाल से नहीं, कपड़े के छोर से, आँचल से पानी की बूँदें छहर रही हैं। कवि कहता है—स्तनों से चिपका हुआ सरस वसन सोच में पड़ा हुआ है कि यह बेरहम अब जल्द ही मुझे छोड़कर दूसरा सूखा कपड़ा पहन लेगी। इसे तो बहुत-से सूखे कपड़े मिल जायँगे, पर हाय ! ऐसा रस मुझे कहाँ मिलेगा, जैसे इसीलिए वह फूट-फूटकर रो रहा है।

"ओ नुकि करतहि चाहि किये देहा
अबहि छोड़ब मोहि तेजब नेहा
ऐसन रस नहि पाओब आरा
इथे लागि रोइ गरये जलधारा !"

—विद्यापति

ये तो हुए कल्पनाओं के चन्द नमूने। इनके अलावा इन्होंने सौंदर्य के अनेक सादे-रंगीन चित्र प्रस्तुत किये हैं।

कहीं अजंता का आर्ट है तो कहीं राजपूत-स्कूल का। कहीं मुगल-काल की झाँकी है तो कहीं टैगोर-स्कूल की। कहीं वयस्सन्धि की तसवीर है, कहीं सद्यःस्नाता की। कहीं विरहिणी राधा अङ्कित हैं, कहीं मानी कृष्ण। चित्र में संगीत का इतने आकर्षक रूप से निवेश काव्य-कला का श्रेष्ठ निर्देश है। मालूम पड़ता है, विद्यापति की पूरी पदावली या जयदेव का सारा गीतगोविन्द ही सङ्गीतमय चित्र या चित्रमय सङ्गीत है। पृथक्-पृथक् उदाहरण देना निरर्थक नहीं तो अनावश्यक अवश्य होगा।

इनके अतिसुन्दर, सुकुमार भावों को, अतिकोमल, निर्मल भाषा में प्रयुक्त देख बड़ी खुशी होती है—जैसे हीरे, मोती, पुखराज के जड़ाऊ गहनों को सोने के सन्दूक में सजा कर रक्खा गया हो। कालिदास में भाव-संगीत जितना प्रबल है, उतना शब्द-संगीत नहीं।

''आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श।''

—कालिदास

और

''मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः''

—जयदेव

का अन्तर सहज ही बोधगम्य है। भवभूति के अनुप्रास डी० एल० राय को ढेंकी कूटने के शब्द-जैसे मालूम पड़ते थे। माघ, मुरारि आदि में बनावटीपन ज्यादा बोलता है, शब्द कम।

'नैषधे पदलालित्यम्' के रचयिता के अतिरिक्त बहुत कम संगी-तज्ञों को नैषध में पद-लालित्य मिलेगा, बबूल के काँटे चबा डालनेवाले ऊँटों की बात मैं नहीं करता। इसीलिए मैं पहले लिख चुका हूँ कि जयदेव ही ने पहले-पहल शब्द, अर्थ, चित्र --सब में, सब जगह संगीत की प्रतिष्ठा की है। शृङ्गार को भक्तिमय की तरह, साहित्य को भी संगीतमय कर दिया है। विद्यापति जयदेव की खूबियों से दूर नहीं हैं।

उदाहरण—

"उन्मद-मदन-मनोरथ-पथिक-
वधू-जन-जनित-विलापे,
अलि-कुल-संकुल-कुसुम-समूह-
निराकुल-वकुल-कलापे।"
"विपुल-पुलक-भुज-पल्लव-वलयित-
वल्लव-युवति-सहस्रम्।"
"मुखर-मधीरं त्यज मञ्जीरं
रिपुमिव केलिषु लोलम्,
चल सखि कुञ्जं सतिमिर-पुञ्जं
शीलय नील-निचोलम्।"

—जयदेव

"नयन-नलिनि दओ अंजन रंजइ
भौंह विभंग - विलासा,
चकित चकोर-जोर बिधि बाँधल
केवल काजर - पासा।
गिरिवर - गरुअ पयोधर - परसित
गिम गज - मोति क हारा,

काम कम्बु भरि कनक-सम्भु परि
ढारत सुरसरि - धारा ।"

—विद्यापति

भाषा के इस लहराते हुए धानी-रंग के आँचल से कविता की भावमयी नारी मूर्ति सावन की वन-सुषमा-सी सुन्दर, सुकुमार हो गई है । Analysis करना, पंखड़ियों को तोड़-नोचकर गुलाब के सौन्दर्य को पास से समझना- देखना होगा ।

अनुभूति

कविता में अनुभूति का महान् स्थान है । जैसे कुछ लोग संगीतमय चित्र को, कल्पना को, काव्य में सब से अधिक महत्त्व देते हैं, उसीप्रकार कुछ लोग अनुभूति ही को सर्वश्रेष्ठ विभूति मानते हैं । अवश्य मैं दोनों के सुन्दर सामञ्जस्य को सब से अधिक महत्त्वमय समझता हूँ, पर तो भी कल्पना से अनुभूति को उच्च स्थान देने में किसीको कोई आग्रह नहीं । विद्यापति की एक अनुभूति देखिए ।

महाकवि कालिदास ने सौंदर्य पर अपना दृष्टिकोण यों व्यक्त किया है--

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति
तदेव रूपं रमणीयतायाः !"

यानी सौंदर्य उसे कहते हैं जो क्षण-क्षण में नूतन-नवीन मालूम पड़े । इस नन्हें से प्याले में कालिदास ने अपने हृदय का सारा मधु ढाल दिया है । मधु वैसा नहीं कि जिसे सूँघते ह ढेर हो जाना पड़े, पीनेवाला नाले में बेहोश पड़ा रहे,

बल्कि वैसा, जो भूले-भटके हुए दिमाग को ठीक-ठीक होश में ला दे ! मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि लोग कमसिनों-हसीनों की जिस 'मार डालनेवाली' खूबसूरती पर औंधे मुँह हो जाते हैं, जो षोडशी के स्नो-पाउडर-पुते गुलाबी गालों का गीला सौंदर्य है, वह क्षण-क्षण में नया नहीं, उतरता हुआ मालूम पड़ता है। और कुछ दिनों बाद, शहद निचोड़ लेने पर 'मधुमक्खी का छत्ता'—महज कीड़ों का उजड़ा हुआ घर नजर आता है। 'खूबसूरती' पर 'मरनेवाले' ऐसे ही भ्रमर-वृत्ति, कामुक, बेहोश दिमाग को होश में लाता हुआ कालिदास कहता है—

"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति
तदेव रूपं रमणीयतायाः !"

फिर कालिदास के कहने का मतलब क्या हो सकता है ? यही कि संसार दो हैं, बाहरी और भीतरी। देखा हुआ और अपना बनाया हुआ। 'बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे'—वाला बाहरी संसार आँखों से देखा-दिखाया जा सकता है, भीतरी संसार को देखने के लिए मानसचक्षु, अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होगी। षोडशी के जिस नाज-नखरे पर मुग्ध हुआ गया और फिर उसे ठुकरा दिया गया, निश्चय ही उस सौंदर्य को सिर्फ चलती आँखों से देखा गया था, प्राणों में अङ्कित नहीं किया गया था, तभी तो उसे बदलते, मिटते देर न लगी। पर वही जब भीतर, हृदय में आकर अपना बन

जाता है तो उसे देखते हुए कभी तृप्ति नहीं होती। निश्चय ही तब वह अङ्गयष्टि का सौंदर्य नहीं, प्राणों का रहता है। जो प्राणों के मिटने से पहले मिट ही नहीं सकता। वहाँ प्रेम रहता है, मोह नहीं, वासना नहीं। वहाँ अतृप्त तृप्ति रहती है, तृप्त अतृप्ति नहीं। 'तृप्ति' इसलिए कि उसे देखकर फिर कुछ देखने की इच्छा नहीं रह जाती, (जिन आँखिन में वह रूप बस्यौ, तिन आँखिन ते पुनि देखिबे क्या ?) और 'अतृप्त' इसलिए कि उसे देखते हुए कभी मन ऊबता नहीं। विद्यापति इसी विषय की अपनी अनुभूति बताते हैं, उदाहरण नहीं देते, व्याख्या भी नहीं करते, केवल अनुभूति बताते है।

"सखि कि पुछसि अनुभव मोय ?
सेहो पिरीत अनुराग बखानइत
तिले - तिले नूतुन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल,
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति पथे परस न भेल।
कत मधु-जामिनि रभस गमाओल
न बुझल कैसन केल
लाख-लाख जुग हिये हिय राखल
तइयो हिय जुड़न न गेल।"

और सब के बाद यह जोर देकर कहते है कि रसिक लोग रस का उपभोग करते हैं, रस की अनुभूति नहीं करते—

"कत बिदगधजन रस अनुमोदई
अनुभव काहु न पेख ।"

अनुभव करके नहीं देखते, यदि देख पाते तो उन्हें मालूम होता कि—

"विद्यापति कह प्राण जुड़ाएत
लाखे न मिलल एक ।"

यहीं विद्यापति का चिर-विरह है । यही विद्यापति की फिलासफी है, सन्देश है । पदावलीमात्र का यही अर्थ है । 'विद्यापति' फिल्म में 'अनुराधा' के द्वारा इसी की अवतारणा की गई है ।

अनुभूति पर एक अपनी अनुभूति भी । बहुत पहले, जब १६-१७ साल का था, गीतगोविन्द-शैली के कुछ पद बनाये थे । छपने से पहले तक वह मुझे अच्छे ही नहीं, बहुत अच्छे लगते थे । नमूने के लिए एक श्लोक और चार पंक्तियाँ पेश करता हूँ—

श्लोक--

"कुसुमास्तरणनिषण्णां सततविषण्णां
विभाव्य राधान्ताम् ;
अनुगोविन्दमधीरं धीरस्मितमाह
गोपिका काचित् ।"

पंक्तियाँ--

* * * *

बाल-कुरङ्गापाङ्ग-तरङ्गायासित-शम्पा-कम्पा
सीदति पुण्ये वृन्दारण्ये सा, क्रियतामनुकम्पा ।

* * * *

कोकिल-कल-लापेङ्गित-नृत्यन्मञ्जु-मञ्जरी-पुञ्जम्
गुञ्जन्मञ्जुरचञ्चरीक-सञ्चय-सञ्चारित- कुञ्जम् ।

—काकली

पर अब उनसे मुझे तृप्ति नहीं होती। जब-जब देखता हूँ, कुछ कमी महसूस करने लगता हूँ--जैसे जयदेव का ढाँचा भर मैं पहचान सका होऊँ, और तत्व को अपनाना तो दूर, समझा भी न होऊँ। यही सही बात है। कहने का मतलब यह कि जयदेव में केवल कोमल-कान्त-पदावली ही नहीं, एक और सर्वोपरि विशेषता भी है, जिसे अपनी अनुभूति, या स्पष्ट शब्द में राधाकृष्ण के साथ तन्मयता कह सकते हैं, इधर जिसका नामोनिशान तक नहीं। उन्होने स्वयं लिखा है--

यद् गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानञ्च यद्वैष्णवं
यच्छृङ्गारविवेकतत्त्वरचना काव्येषु लीलायितम्
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः "कृष्णैकतानात्मनः"
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः।"

इस प्रकार जयदेव को सारी कला जैसे 'कृष्णैकतानात्मनः" के द्वारा स्पष्ट कर दी गई। यानी जहाँ कृष्ण के साथ एकतानता नहीं, वहाँ कोई जयदेव की छाया भी नहीं छू सकता। विद्यापति के विषय में भी ऐसा ही कहना चाहिए। इन कवियों के अध्ययन के अवसर पर बाहरी-भीतरी साहित्यिक बारीकियों के अलावा "और कुछ" का अधिक अनुभव होता है। और वह "और कुछ" ही कवि का "सब कुछ" है। आलोचक कला की चहारदीवारी तक पहुँचकर खीसें निपोर लेता

हैं—और कवि अपनी जगह से पुकार कर कहता है—"हूँ दूर, सदा मैं दूर" यानी तुम्हारी आलोचना से आगे, बहुत आगे—पहुँच से बाहर। बाहर इसलिए कि उसकी कला का विवरण किया जाता है, उसका नहीं; उसके शृंगार की आलोचना होती है, भक्ति की नहीं। सच तो यह कि उसका—उसके राधा-कृष्ण का विवरण किया ही नहीं जा सकता। और इसी लिए आलोचना अधूरी-की-अधूरी रह जाती है।

६

जयदेव और विद्यापति में आलोचक को बुरी तरह खटकनेवाली अश्लीलता मिलेगी। संस्कृत और व्रजभाषा के लिए यह कोई नया दोष नहीं है। एक बार स्वस्थचित्त से विचार करते-करते मैं इस नतीजे पर पहुँचा था कि संस्कृत में व्यास-वाल्मीकि से लेकर अब तक के किसी भी कवि की कृति इस लायक नहीं कि उसे निःसंकोच रूप से बेटी-बहन या मा-बच्चे को पढ़ाया जा सके। फिर जयदेव ने तो "यदि विलास-कलासु कुतूहलम्" से शुरू ही किया है। हाँ, यह बात जरूर है कि भाषा या भाव के बहाव के सबब, सुन्दर सौन्दर्य सृष्टि के कारण, साधारणतया अश्लीलता पर आँखें अटक नहीं पातीं।

"श्लिष्यति कामपि, चुम्बति कामपि
कामपि रमयति रामाम्,
पश्यति सस्मितचारुतरा-
मपरामनुगच्छति वामाम्।"

या

"उरसि मुरारेरुपहितहारे
घन इव तरल-बलाके
तडिदिव पीते रति - विपरीते
राजसि सुकृत - विपाके।"

यहाँ आलिंगन, चुम्बन, रमण या विपरीत-रति की अश्लीलता बीभत्स नहीं है। सच तो यह कि शृंगाररस का 'क-ख', संस्कृत और व्रजभाषा में, यहीं से शुरू होता है। भाषा और भाव की रेशमी सारी ने कविता में नग्नता नहीं आने दी है। पर जयदेव या विद्यापति यहीं से नहीं लौट जाते, वह तो राधिका की चूनरी खोलवा देते हैं, ग्यारह-बारह की बालिका से कृष्ण की छेड़खानी का हवाला बेफाँस गले से देने लगते हैं—

विघटल नीवी कर धर जाँति
अँकुरल मदन, धरए कत भाँति

* * * *

कुच-कोरक तव कर गहि लेल
काँच बदरि अरुनिम-रुचि भेल

—विद्यापति

या

विगलित-वसनं, परिहृत-रशनं,
घटय जघनमपिधानम्।
किसलय-शयने, पङ्कज-नयने,
निधिमिव हर्ष-निदानम्।

--जयदेव

इसे नग्नता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? यों कुछ नहीं, पर एक बात है, जिससे इस शङ्का का सम्यक् समाधान हो सकता है। कवि का दृष्टिकोण या काव्य-कला की पूर्ण परिणति देख चुकने पर उलझन सुलझ सकती है। दो दो पंक्तियों के उद्धरण के द्वारा कला का एकांगी परिचय मिलता है, पूर्ण नहीं। कवि के निजी दृष्टिकोण का मैं प्रायः परिचय दे चुका हूँ। कविता की गति भी भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर है। भाव का प्रवाह भी शृंगार से भक्ति की तरफ, काव्य से दर्शन की ओर है। इसलिए प्रति-पंक्ति पर पृथकपृथक् निर्णय देना कवि और कविता, दोनों के प्रति अक्षम्य अपराध होगा।

ऐतिहासिक अन्वेषण हमें इस निर्णय पर पहुँचाता है कि तन्त्र-शास्त्र की सकाम साधना और सौंदर्योपासना से वैष्णवों की भक्ति-गीति पर शृंगार-सौन्दर्य की छाप पड़ी है।

"गतासूनां बाहुप्रकरकृतकाञ्चीपरिलस-
न्नितम्बांदिग्वस्त्रां, त्रिभुवनविधात्रीं, त्रिनयनाम्,
श्मशानस्थे तल्पे, शव-हृदि महाकाल-सुरत-
प्रसक्तां त्वां ध्यायन् जननि जडचेता अपि कविः।"

—रुद्रयामल

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जडम्
तवापाङ्गालोके पतितमनुधावन्ति शतशः
गलद्वेणीबन्धाः कुचकलशविस्रस्तसिचया
हठात्त्रुट्यत्काञ्च्यो विगलितदुकूला युवतयः।

—सौन्दर्यलहरी

'रुद्रयामल' में ध्यान के जो ऐसे-ऐसे रूप बनाये गये हैं,

इनकी सारी अश्लीलता दूर हो जाती है तन्त्र-शास्त्र के अनुरूप अर्थ निकालने पर। इस प्रकार 'गूढ़ार्थ' निकालने की चाल कुछ नई नहीं है। 'भागवत' के अश्लील भावों को बिलकुल दिव्य-रूप में सजानेवाले विद्वान् सज्जनों की आज भी कमी नहीं। कविवर निरालाजी गीतगोविन्द के समग्र शृङ्गार को भी आध्यात्मिक-दार्शनिक स्वरूप देने की योग्यता-क्षमता रखते हैं। शङ्कराचार्य की 'सौंदर्यलहरी' शृङ्गार-भक्ति की ललित सृष्टि है। गीतगोविन्द के रचयिता के सम्मुख ये सब तन्त्र-शास्त्र और शङ्कराचार्य आदि आदर्श-रूप में उपस्थित थे। अस्तु।

अर्थ में किसी तरह हेर-फेर न करने पर गीतगोविन्द के गीतों की परिणति की परीक्षा की जानी चाहिए। हर गीत की समाप्ति होती है—भगवान् के श्रीचरणों की भव्य भक्ति पर, कलि के पापों को शमन करनेवाले मन्त्र की भाँति। यदि जयदेव वसंत-वर्णन करते है तो उसे 'हरि-चरण-स्मृति-सारम्' समझकर, यदि कृष्ण की रूप-राशि, मोहिनीश्री की तरफ नजर डालते हैं तो 'हरि-चरण-स्मरणम् प्रति सम्प्रति पुण्यवतामनुरूपम्' कहकर। राधा का विरह बताया गया है, सारे गीत में; पर कवि उसे चुपचाप हरि-चरणों पर समर्पित कर देता है—

"श्रीजयदेवभणितमिति गीतम्
सुखयतु केशवपदमुपनीतम्।"

रति-वर्णन की समाप्ति होती है—

"श्रीजयदेवभणितहरि - रमितम्
कलि कलुषं जनयतु परिशमितम् ।"
"कलियुग - चरितं न बसतु दुरितम् ।"

आदि पदों पर। इसी लिए कहा गया है कि कृष्ण का विलास समझने के लिए शुकदेव-जैसे चरित्रवान्; रामकृष्ण, विवेकानन्द-जैसे ब्रह्मचारी चाहिएँ। जयदेव अपने गीतों द्वारा कलि-युग के पापों के विनाश की बात पर इस तरह डूब गये हैं कि उनकी राधा भी उसी कृष्ण की याद करती हैं, जो कलि के पापों को दूर करनेवाले हैं—

"विशद-कदम्ब-तले मिलितं
कलि-कलुष-भयं शमयन्तम् ।"

इसी प्रकार विद्यापति राधा की रूप-श्री का वर्णन करते-करते उनके चरण-कमलों को अपनी गोद में लेकर चुपचाप बैठे रहने की अभिलाषा प्रकट करने लगते हैं—

"देख-देख राधा-रूप अपार
अपुरुब के बिहि आनि मिलाओल
खिति - तल लावनि - सार
अंगहि अंग अनँग मुरछायत
हेरए परए अधीर
मनमथ कोटि-मथन करु जे जन
से हेरि महि - मधि गीर
कत-कत लछिमी चरन-तल नेओछए
रंगिनि हेरि विभोरि
करु अभिलाख मनहि पदपङ्कज
अहोनिसि कोर अगोरि ।"

और प्रेम-विह्वला राधा को, गोपियों को बार-बार धैर्य देकर कहते हैं—

"धैरज धर चित मिलव मुरारि"

इन्हीं के द्वारा हमें कवि के अपने दृष्टिकोण का पता लगता है, जो परम-पवित्र तथा नित्य चिन्तनीय है। जयदेव और विद्यापति—दोनों ही प्रेम-योगी हैं, अश्लील शृङ्गार के कवि नहीं, वासना के प्रचारक नहीं। मैं ऐसा ही समझता हूँ। फिर भी अपरिपक्वमति बालक-बालिकाओं के बीच इन्हें बिठलाना ठीक नहीं, और भक्ति-पथ-प्रदर्शक के रूप में आदर्श कहकर ग्रहण करना तो किसी के लिए उचित नहीं है। इनकी भावना-धारा आरम्भ से अन्त तक समानान्तर रहकर बही है, उद्गम-स्थान एक होने पर भी अनन्तमिलन से पहले, दोनों का अस्तित्व, दोनों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व बराबर कायम रहा है। इसलिए दार्शनिक सत्य की दृष्टि से दोनों में ऐक्य रहने पर भी दोनों एक ही नहीं हैं। जयदेव के कृष्ण राधामय हैं, किन्तु विद्यापति की राधा कृष्णमय। जयदेव अधिक साहित्यिक हैं, विद्यापति अधिक रसिक। सुख-दुःख दोनों में जयदेव संयत हैं, विद्यापति बहते हुए। जयदेव का संगीत मधुर है, विद्यापति के गीत मीठे। जयदेव द्रष्टा हैं, विद्यापति प्रदर्शक। साहित्यिक तुलना के लिए यह भेद दोष नहीं, मौलिकता का महत्त्व बतलानेवाला महत्तम गुण है।

जयदेव सुख के कवि हैं, विद्यापति सुख-दुःख दोनों के।

जयदेव 'आनन्द' की ओर उन्मुख दीख पड़ते हैं, विद्यापति को सब कुछ स्वीकार है। जयदेव ने जैसे प्राप्त कर लिया है, पर विद्यापति ने पाकर खो दिया है। फिर भी वह निराश नहीं हैं।

इतने पर भी दोनों का विषय एक है और दृष्टिकोण समान। उद्देश्य एक है और विधेय समान। आरम्भ और अन्त में समानता रहने पर मध्य का काल्पनिक भेद साहित्यिक मनोरञ्जनमात्र के लिए है। भारत को छोड़ और कहाँ इस प्रकार एक ही में भक्त और कवि के दर्शन हो सकते हैं?

अच्छा, बहुत हुआ। अब कवि की भक्ति की ओट में हम हो लें, कृष्ण बाँसुरी के सुर से राधा को पुकार रहे हैं, सखी अभिसार के लिए उन्हें तैयार कर रही है, सुबह होने में अब बहुत देर नहीं है।

कृष्ण मिलन के लिए अति अधीर हैं, तनिक पत्ते को हिलते देख वह राधा का आगमन समझ लेते है और टकटकी लगाकर राह देखने लगते हैं। सुनिए, सखी समझा रही है सब—

"रति-सुख-सारे गतमभिसारे
मदन - मनोहर - वेशम्
न कुरु नितम्बिनि गमन-विलम्बन-
मनुसर तं हृदयेशम्
नाम-समेतं कृत-संकेतं वादयते मृदु वेणुम्
बहु मनुतेऽतनु ते तनुसङ्गत-

पवनचलितमपि रेणुम्
पतति पतत्रे विचलितपत्रे
शङ्कित - भवदुपयानम्
रचयति शयनं सचकितनयनं
पश्यति तव पन्थानम्
धीर-समीरे यमुना - तीरे
वसति वने वनमाली।"

—जयदेव

* * * *

हाँ, राधा को अब देर करना उचित नहीं, सङ्केतित समय पर कृष्ण कदम्ब-तरु के पास कब से पहुँच चुके हैं। एक-एक पल पर विकल होकर बाट जोह रहे हैं—

"नन्द क नँदन कदम्बक तरुतल
धिरे - धिरे मुरलि बजाव,
समय सँकेत निकेतन बइसल
बेरि - बेरि बोलि पठाव,
साँवरि, तोरा लागि
अनुखन बिकल मुरारि
जमुना क तिर उपवन उदबेगल
फिरि - फिरि ततहि निहारि।"

—विद्यापति

राधा-कृष्ण के इस प्रेमाभिसार को हम जयदेव और विद्यापति की भक्तिभरी दृष्टि से देखें, अन्यथा आँखें बन्द कर लें, दृश्य की सचाई आप ही आँसू की तरह समा जायगी। तीसरी राह कीच और दलदल की है।

ऐप्रिल '३९

गीता और गीताञ्जलि

१

भक्त और भगवान में जैसी कुछ समता या विषमता हो सकती है, गीता और गीताञ्जलि में भी वह ठीक वैसी हो है। गीता भगवान की है और गीताञ्जलि भक्त की। भगवान के गान का नाम गीता और भक्त के गीतोद्गार का उपहार गीताञ्जलि है।

दूसरे शब्दों में गीता साहित्यिक दर्शन है, और गीताञ्जलि दार्शनिक साहित्य। 'दर्शन' या 'साहित्य' का प्रयोग उन क्षुद्र अर्थों में नहीं, जहाँ वे परस्पर वैरी हैं, आपस ही में 'इन्द्र जिमि जम्भ पर वाड़व सुअम्भ पर' का कुत्सित स्वांग रचते हुए, छः ऋषियों के छः दर्शन, छः दृष्टिकोण, (जैन-बुद्ध-चार्वाक आदि के तो नाम भी अग्रहणीय), सातवें आसमान पर साहित्य। यहाँ तो मैं सब दर्शनों का सामञ्जस्य स्थापित करनेवाली गीता की चर्चा चला रहा हूँ; साहित्य और दर्शन की मूल-भित्ति की इकाई की ओर इशारा कर रहा हूँ। हाँ, तो गीता साहित्यिक दर्शन और गीताञ्जलि दार्शनिक साहित्य है।

यह सब गीत हैं। आन्तरिक आनन्द के उद्रेक (उच्छ्‌वास) को गीत कहते हैं। आनन्द का आवेग प्रकट करने के स्वाभाविक आग्रह से गीत का आश्रय लेना पड़ता है। उस दिन भगवान कृष्ण को बड़ा आनन्द आया था,

अर्जुन का व्यामोह देख कर। लड़ाई के मैदान में, ठीक मौके पर वीरवर अर्जुन पर कमजोरी की चढ़ाई हुई थी, वह थरथर काँपने लगे थे, उनके हाथ से गाण्डीव गिर पड़ा था, सारी देह में जलन होने लगी थी, सिर में चक्कर आने लगा था। उन्हें महज मिट्टी के राज के लिए, गुरु, ताऊ, चाचे, लड़के, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले आदि सगे-सम्बन्धियों पर खूनी हाथ उठाते हुए शर्म आती थी, उल्टे वह उन्हीं के हाथों मरने के लिए उतारू हो गए थे। इतना ही नहीं, ऐसे नामर्द विचारों में उन्हें मर्दानगी, बल्कि धर्म का मर्म मालूम पड़ने लगा था।

जब वह ज्ञान के नाम पर 'बुढ़िया-पुरान' सुनाकर चुपचाप दुबक कर बैठ गए रथ के पिछले हिस्से में, धनुष-बाण फेंक-फांक कर, तो कृष्ण को गुस्सा नहीं लगा, हँस पड़े वह। अज्ञान पर हँसी आना स्वाभाविक है भी। और हँसते-हँसते गुनगुनाने लगे।

> "तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत
> सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।"

अर्जुन की रोनी सूरत पर कृष्ण की इसी हँसी में गीता का सारा सार छिपा हुआ है। इसी खुशी में भरकर कृष्ण गाने लगते हैं (गीता का आरम्भ इसी के आगे 'अशोच्यानन्व-शोचस्त्वं' से होता है)।

भगवान् विद्वान् अर्जुन के अज्ञान पर हँसते, पर उसके दिल का दर्द मेटने के लिए गाते हैं। गाने में ऐसी सफल

शक्ति है भी। दूसरे, ज्ञान-विज्ञान के रूखे-सूखे भावों को गान के सरस-मधुर स्वर हिलोर के द्वारा व्यक्त करने में गायक की कुशलता के साथ-साथ, श्रोता को तत्क्षण प्रभावित कर सकने की सफलता की भी अधिक आशा रहती है। निश्चय ही कृष्ण सहज किन्तु प्रौढ़ संगीतज्ञता दिखलाते और 'न योत्स्ये' कहनेवाले अर्जुन से 'करिष्ये वचनं तव' कहलाकर सच्ची सफलता भी प्राप्त करते हैं। इस अलौकिक गायक के गीत पर रीझ कर एक जर्मन विद्वान् ने कितना अच्छा कहा है—

"The Gita is the most beautiful, perhaps the only true philosophical song existing in any known tongue."

मैंने गीत को आन्तरिक आनन्द का उद्रेक कहा है। दुःख में सुखानुभूति की बात नई नहीं, इसीलिए करुण-गीतों को दुःखजन्य सुख का उच्छ्वास कहना समुचित होगा। मीरा-महादेवी, चण्डिदास-विद्यापति आदि के वेदना-प्रधान गीतों में दुःखजन्य सुख की मार्मिक अनुभूति निहित है। आध्यात्मिक-वेदना (Pain of God) में जो 'तड़प' है उसे 'तप' कहना चाहिए, और जो 'बेहोशी, बेसुधपन' है, उसे 'समाधि'। तप और समाधि में सुख का अभाव हो ही नहीं सकता।

नाटकों में, करुणा के दर्दनाक दृश्यों को देख कर सहृदय दर्शक दुःख में सुख की अनुभूति का प्रत्यक्ष स्वरूप पा सकते हैं। यदि उस दुख को देखने में किसी किस्म की खुशी, आनन्द न हो तो मनुष्य नाटक देखने की कसम खा ले।

करुण रस की स्थिति ही इसी आधार पर है। रस को दार्शनिक भाषा में ब्रह्म कह सकते हैं (रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति), और आनन्द ही को ब्रह्म कहते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् में—"यतो या इमानि भूतानि जायन्ते' से शुरूकर 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' कहते हुए 'आनन्द ब्रह्म' ही अन्तिम निर्णय किया गया है। फलतः दुख में केवल दुख की कल्पना हवाई ही हो सकती है, और आनन्द के उच्छ्वास को गीत रूप में बिखरने की बात ठीक।

२

हाँ, तो गीता और गीताञ्जलि उदार दार्शनिक गीतों के दो संक्षिप्त संस्करण, संकलन हैं। विश्व के बिखरे हुए कुसुमोपम दिव्य आध्यात्मिक विचारों को एक सूत्र में गुम्फन कर वनमाला बना देने की कला दोनों में, पर गीताञ्जलि में विशेष रूप में प्रकट हुई है। मालाकार कोरा कलाकार नहीं, किसी अदृश्य-अस्पृश्य के लिए अपने हृदय-प्राण की सारी श्री-सुरभि को समर्पित कर देने की आकुल उत्कण्ठा से हाथ में माला लिए उन्मुख, उद्ग्रीव है, कोई चाहे फूल की प्रत्येक पंखड़ी में सूक्ष्म रूप से समाए हुए, वर्ण-व्यञ्जित उसके प्राणों को पढ़ ले।

गीता में दार्शनिकता प्रबल है, गीताञ्जलि में साहित्यिकता। गीतोक्त योग—ज्ञान, कर्म और भक्ति (इनमें भी भक्ति की मधुरता ही अधिक व्यक्त हुई है) का साहित्यिक

मर्म-स्पर्श गीताञ्जलि में वर्तमान है। महाकवि अश्वघोष ने भी सौन्दरनन्द काव्य की समाप्ति के समय अपना ऐसा ही दृष्टि-कोण प्रकट किया है। उन्होंने दार्शनिक तत्वों को साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने का कारण बतलाया है—

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति,
प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात् प्रतिहतं
काव्य-व्याजेन तत्वं कथितमिह मया मोक्षपरमिति
तद्बुद्ध्वा शामिकं यत् तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितम्
पांशुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति।"

कि "मैंने तिक्त औषध को शहद के साथ खिलाया है, मेरा उद्देश्य शान्ति, वैराग्य का उपदेश देना ही है, काव्यगत शृङ्गारादि रसों का आस्वादन कराना नहीं। मैंने देखा, संसारी जीव विषय-सुख में अधिक आनन्दित दीखते हैं, मोक्ष की शुष्कता उन्हें अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती, इसी खयाल से मैंने मुक्ति की युक्तियों को काव्य की सूक्तियों द्वारा आकर्षक बनाने की कोशिश की है। मैं चाहूँगा कि लोग शान्ति की शिक्षा ही सावधान हो कर ग्रहण करें, विषय के सुख-सौन्दर्य्य की मरीचिका में न पड़ें।" अश्वघोष का दार्शनिक उद्देश्य तो गीताञ्जलि में भी निहित है, पर उनका काव्य के प्रति उपेक्षा का भाव यहाँ नहीं। यहीं गीता से भी गीताञ्जलि

पृथक् है। गीताञ्जलि में तो साहित्य का सुन्दर उभार मौजूद है। गीताञ्जलि पहले सङ्गीतमय साहित्य है, फिर दिव्य दर्शन। पहले सत्य, शिव, सुन्दर है; फिर सत्, चित्, आनन्द।

* * * *

गीता में मानो भगवान् ने 'ध्रुव पद' गाया है, उसके अन्तरे है भक्त की गीताञ्जलि में। भगवान् ने आरम्भ किया— 'अर्जुन! मेरे अलावा और कहीं कुछ नहीं, सब कुछ मुझमें ही है, जैसे रंग-विरंगी मणियाँ एक ही धागे में पिरोई हुई हों।'

"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव!"

(भक्त के अन्तर का) अन्तरे का सुर आगे आप बज उठता है—

"यत दूर दृष्टि याय शुधु याय देखा
हे सङ्गविहीन देव, तुमि वसि' एका"

जहाँ तक नजर जाती है—सिर्फ इतना ही दीख पड़ता है कि हे निःसङ्ग देव! बस अखिल-निखिल में केवल तुम ही तुम विराज रहे हो।

या

"प्रेमे, प्राणे, गाने, गन्धे, आलोके, पुलके,
प्लावित करिया निखिल द्युलोक भूलोके
तोमार अमल अमृत पड़िछे झरिया!"

("तत्त्वमसि" "एकमेवाद्वितीयम्" आदि की वैदिक शुष्कता गीता में हरियाली में बदल गई है और गीताञ्जलि में रंग-बिरंगे फूलों से रौनकदार बाग की सूरत में) यहाँ इस भाव को व्यक्त

ईश्वर की विराट् कल्पना समझनी चाहिए जिसमें उसके अस्तित्व से पृथक् अन्य किसी की सत्ता का आभास तक नहीं मिलता।

* * * *

ध्यान की एकतानता (Concentration) के द्वारा, मनःशुद्धि से मनुष्य ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। तब अन्तरात्मा परमात्मा की ओर अग्रसर होती हुई यह अनुभव करने लगती है कि मैंने 'उसे' स्पर्श कर पहचान लिया है, उसे पा लिया है—

—युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते

ब्रह्म-संस्पर्श के अनन्तर निरन्तर सुख की अनुभूति होने लगती है, साधक को अपने साधारण जीवन में असाधारणता मालूम पड़ने लगती है, उसे है, उसे बार-बार 'उसकी' झाँकियाँ मिलने लगती हैं, 'उसकी' पद-ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, वह उस मृदुल स्पर्श और दिव्यदर्शन से पुनः पुनः पुलकित-चकित होने लगता है, उसे अपने पास-पड़ोस के भोले जीवों पर अचरज होने लगता है कि वे 'उसकी' पद-ध्वनि सुन कर चमत्कृत क्यों नहीं होते? क्या उनने उसका आना नहीं जाना? वह पागल सा पूछने लगता है—

"तोरा शुनिस्नि कि, शुनिसनि तार पायेर ध्वनि
ऐ ये आसे, आसे, आसे,

युगे युगे पले पले दिन - रजनी
से ये आसे, आसे, आसे !"

क्या तुमने उसकी पद-ध्वनि नहीं सुनी ? वह आता है, आता है, हमेशा आता है। युग-युग से, दिन रात, प्रति क्षण वह आता है, आया करता है !

मानव की जीवात्मा जैसे 'उस' (परमात्मा) से बिछड़ी हुई प्रेयसी है। वह उसे पाने को आकुल रहने पर भी भ्रमवश अनवरत एक-रस नहीं रह पाती, उस पर निद्रा (अज्ञान) का आवरण पड़ा रहता है, वह सोई रहती है, मोह-निशा में पड़ी रहती है, उसका प्रियतम उसके पास आता और चला जाता है, वह अभागिन आहें भरती, पछताती रह जाती है—

'से ये पाशे एसे वसेछिल तवु जागि नि
की घुम तोरे पेयेछिल हतभागिनि !'

'वह आया, तेरे पास ही बैठा, तो भी तू जगी नहीं ? अरी अभागिन, कैसी नींद में माती हुई थी तू ? आह, अगर उसके आने, गान सुनाने वगैरह का तुझे पता न लगा, तो न सही, पर उसने तुझे गले भी तो लगाया था, तुझे उसके सरस परस का भी भान न हुआ ?

'केन गो ता'र मालार परश
बुके लागे नि ?'

पर जब यही 'ब्रह्म-संस्पर्श' उसे प्राप्त हो जाता है, तो वह पगली बड़बड़ाने लगती है—

विश्व यखन निद्रामगन
गगन अन्धकार ,

के देय आमार वीणार तारे
एमन झङ्कार !

जब कि सारा का सारा संसार सुख-निद्रा की गोद में खर्राटे ले रहा है (या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी) सारे आसमान में अँधेरा छाया हुआ है, ऐसे समय में, वह कौन है, जो मेरी वीणा के तारों में झंकार दे रहा है ? मैं घबरा कर उठ बैठी हूँ और आँखें मीच-मीच कर उसे देखने की कोशिश कर रही हूँ, पर उसे देख नहीं पाती ।

* * * *

कोन् वेदनाय बुझि ना रे
हृदय भरा अश्रुभारे ,
परिये दिते चाइ काहारे
आपन कण्ठहार !

न जाने किस अज्ञात वेदना से मेरा हृदय आँसुओं में डूबा जाता है और न जाने किसके गले में अपनी माला पिन्हा देने को जी करता है ?

इतना ही नहीं, तब जागरित जीव जोर-जोर से पुकार कर कहने लगता है :-

"निशार स्वपन छुट्ल रे ओइ छुट्ल रे !
टुट्ल बाँधन, टुट्ल रे"

मेरी रात की नींद टूट गई, सपने लुट गए, मेरा बन्धन टूक-टूक हो गया, मैं जग गया, भाई !

* * * *

सत्य आदि (धर्म) गुणों ही की तरह काम-क्रोधादि

अवगुण (पाप) भी पहले अति सूक्ष्म रूप में सामने आता है, हम अपने संयम को तनिक सरकते देख अधिक परवा नहीं करते, यहीं हम उस 'छोटे' से हार जाते हैं, अपना अपार बल उसी को अर्पित कर उसके छुटपन को अनजाने ही अपना लेते हैं। और फिर? फिर तो वह हमारी कमजोरी से बेजा फायदा उठाता ही है, हम चुपचाप उसका मुँह ताकते रह जाते हैं, वह हमारा सब कुछ हड़प लेता है, हम उसके कठिन कारागार के विवश बन्दी बन जाते हैं। गीता में इस दुर्बलता की दार्शनिक क्रमात्मक रूप-रेखा यों बतलाई गई है—

'ध्यायतो विषयान् पुंस: संगस्तेषूपजायते
सङ्गात् सञ्जायते काम: कामात् क्रोधोऽभिजायते
क्रोधात् भवति संमोह:, संमोहात् स्मृति-विभ्रम:
स्मृति-भ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'

भगवान ने उस क्षणिक स्वल्प दुर्बलता का फल विनाश बतलाया है। अब भक्त की साहित्यिक भाषा में इसी अनुभूति का सुन्दर उद्‌गार देखिए—

ता'रा दिनेर बेला एसेछिल आमार घरे,
बलेछिल, एकटि पाशे रइब प'ड़े।
बलेछिल, देवता सेवाय
आमरा हब तोमार सहाय—
या-किछु पाइ प्रसाद लब पूजार परे।
एमूनि क'रे दरिद्र क्षीण मलिन वेशे
सङ्कोचेते एकटि कोणे रइल एसे
राते देखि प्रबल हये

पशे आमार देवालये
मलिन हाते पूजार वलि हरण करे ।

दिन में (कर्म कोलाहल के काल में नहीं, किन्तु प्रवोध की क्षणिक चेतना के समय) वह मेरे घर आया, और बोला कि मुझे भी रहने दो, मैं किसी एक कोने में पड़ा रहूँगा। इतना ही क्यों? जब तुम अपने देवते की आराधना करने लगोगे, मैं अनेक प्रकार से तुम्हारी सहायता पहुँचाऊँगा। और पूजा के उपरान्त देवते का थोड़ा-बहुत प्रसाद पा लिया करूँगा।

इसी तरह की मृदु-मधुर बातें कर वह दीन हीन मलिन सङ्कोचवश एक नन्हें से कोने में बैठ रहा। पर मैंने देखा, रात होते ही (मन पर मोह-मलिनता का विस्तार होते ही) वह जबर्दस्ती मेरे देवालय में घुसने लगा, और अपने गन्दे हाथों से मेरी पूजोपहार की सामग्रियों को छीनने लगा। कैसी मनो-वैज्ञानिक, सुकुमार रीति से वही बात बताई गई है!

४

गीता से गीताञ्जलि में जो विभिन्नता है, वह केवल रहस्यवाद की नहीं, मेरे विचार से वह हृदयवाद ही की अधिक है। गीताञ्जलि में केवल रहस्य नहीं, हृदय भी है। और वह हृदय ही कवि का अपना है, मौलिक है।

बाकी बातें तो उपनिषदों, दर्शनों की चिरन्तन उक्तियाँ हैं। गीता में हृदय का स्वल्प स्पर्श है, पर गीताञ्जलि में हृदय का सारा रस निचोड़ कर रख दिया गया है। वैसे तो गीता के

श्लोकों को ही गीताञ्जलि भर में पाया जा सकता है, ब्रह्मभूत, ब्रह्मसंस्पृष्ट, ब्रह्मसंस्थ--तीन अवस्थाओं का ही विविध वर्णन देखा जा सकता है, ज्ञान, कर्म, भक्ति--तीनों की साहित्यिक सुषमा ही जानी जा सकती है। और इस दृष्टि से ज्ञानज्योतिर्मयी गीता की अतल-स्पर्शिता के सम्मुख गीताञ्जलि बहुत छिछली मालूम पड़ती है, कदाचित् वह वैसी है भी।

सांसारिक झमेलों से बचने (Releaf) के लिए कोई गीता-ञ्जलि का स्वर्गीय संगीत सुनना चाहता है, पर गीता तो बचाव के लिए नहीं, सभी झगड़ों-बखेड़ों, झमेलों-उलझनों को सुलझाने के लिए है. अपने भीतर अजेय शक्ति के सञ्चय के द्वारा सारी झंझटों पर विजय प्राप्त करने की सच्ची सीख के लिए है। और यही कारण है कि गीताञ्जलि में जहाँ स्वर्णिम स्वप्नों का जाल बिछा हुआ है, रंग-बिरंगी किरणों की छटा छाई हुई है, वहाँ गीता में केवल सत्य, केवल ज्योति है। गीता द्वारा प्राप्त शान्ति जैसे जीवन की सम्पूर्ण क्रान्तियों की चरम परम परिणति है; छोटे-बड़े नदी-नाले, सागर-उपसागर पारकर प्रशान्त महासागर में पहुँचना है; भगवान् कृष्ण के सुदृढ़ शब्दों में—'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते' का उच्चतम स्तर प्राप्त करना है; जब कि वह गीताञ्जलि में महज उस बाँसुरी के सुखदायी सुर के समान है, जो दिन भर के कर्म-कोलाहल से श्रान्त-क्लान्त किसान को सन्ध्या-समय सरिता तट पर सुनाई पड़ रहा हो; जो विरहिणी

प्रेयसी को नीरव निशीथ में प्रियतम के मङ्गलमय मिलन-स्वप्न के रुचिर रूप में प्राप्त हो ! गीताञ्जलि में पुलक है, रोमाञ्च है, पर गीता में केवल जीवन, केवल प्राण है—'नहि कल्याण-कृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति' जैसी विश्वास-आश्वासन की शक्ति-शालिनी मन्त्र-वाणी है। गीताञ्जलि में सौन्दर्य है, गीता में दिव्य दीप्ति। सङ्क्षेप में गीताञ्जलि बाँसुरी है, वृन्दावन है और गीता पाञ्चजन्य, कुरु-क्षेत्र। गीताञ्जलि स्वर्ग है, गीता निर्वाण।

५

गीता का ज्ञान-योग गीताञ्जलि में यों प्रकट हुआ है—

'यात्री आमि ओरे
पार्‌वे ना केउ राख्‌ते आमार ध'रे
दुःखे सुखेर बाँधन सबइ मिछे
बाँधा ए घर रइवे कोथाय पिछे,
विषयबोझा टाने आमाय निचे,
छिन्न हये छड़िये यावे प'ड़े।'

अरे, मैं तो यात्री हूँ। मुझे बाँध कर कौन रोक सकता है? सुख-दुख के सभी बन्धन झूठे हैं। तो फिर इस घर में बँध कर मैं रह कैसे सकता हूँ? विषय के बोझ मुझे दबाते हैं; किन्तु वे छिन्न-भिन्न होकर विखर जायँगे !

* * * *

रथ पर अभ्रभेदी झंडा फहराये, यह वही तो हैं, वही-वही, बाहर रास्ते पर। अजी, दौड़ कर आओ, रस्सी नहीं

खींचोगे ? किधर घर के कोने में छुपे बैठे हो ? इसी भीड़ में जल्द-जल्द तुमभी अपने लिए जगह बना लो ! कहाँ, तुम्हें घर में कौन सा काम है, वह सब बातें तो आज भूल जानी होंगी।

खींचो, मन लगा कर खींचो, तुच्छ प्राणों की माया-ममता छोड़ दो, उजियाले-अँधेरे, नगर-गाँव, जंगल-पहाड़ों पर से होकर खींचते चले चलो। यह जो झम-झम कर पहिए घूम रहे हैं, तुम्हें अपने प्राणों में वह ध्वनि सुनाई नहीं पड़ रही है ?

क्या रक्त के आवेग से तुम्हारे प्राण डोलते नहीं ? तुम्हारा मन मरण पर विजय पाने वाले गान नहीं गा रहा ? तुम्हारी आकांक्षाएँ वन्या के वेग की भाँति विपुल भविष्यत् में क्या नहीं छूट रहीं ? बहती नहीं जा रही हैं ?

उड़िए ध्वजा अभ्रभेदी रथे
ऐ ये तिनि ऐ ये बाहिर पथे।
आयरे छूटे, टानते हवे रसि,
घरेर कोणे रइलि कोथाय बसि ?
भिड़ेर मध्ये झाँकिया प'ड़े गिये
ठाँई क'रे तुइ ने ऐ कोनोमते।

* * * *

गीता का कर्म-योग गीताञ्जलि में इस प्रकार उल्लिखित है—

"मुक्ति ? ओरे मुक्ति कोथाय पावि,
मुक्ति कोथाय आछे ?
आपनि प्रभु सृष्टि-बाँधन प'रे
बाँधा सबार काछे।

राखोरे ध्यान थाक्‌रे फुलेर डालि,
छिँड़ुक वस्त्र, लागुक् धूलावालि,
कर्म्मयोगे ताँर साथे एक हये
घर्म पड़ुक झरे ।"

और, गीता का भक्तियोग तो गीताञ्जलि में भरा हुआ है। ही, मैंने इसीलिए इसे 'भक्त' का गीतोद्गार कहा है:—

"आमार माथा नत करे दाओ हे तोमार
चरण धूलार तले
सकल अहङ्कार हे आमार
डुवाओ चोखेर जले !

प्रभु, मेरे मस्तक को अपने चरणों की धूल के नीचे नत कर दो, मेरे सारे अहङ्कार-अभिमान को मेरी ही आँखों के आँसुओं में डुबो दो ! मैंने व्यर्थ ही अपने को मिथ्या गौरव दे दे कर अपमानित किया है; पर अब तुम इससे अपनी इच्छाएँ पूर्ण करो, मेरे जीवन को मेरे लिए मत छोड़ो ! मेरे अभिमान को मेरे ही आँसू में बहा दो ।

आदर दे दे कर तुम मुझे और दूर क्यों रखना चाहते हो ? मैं तो तुम्हारे ही आसन के नीचे मिट्टी पर लोटता रहूँगा, तुम्हारे ही चरणों की धूल से धूसर हूँगा—

"आसनतलेर माटिर' परे लुटिये र'व
तोमार चरण-धूलाय-धूलाय धूसर हव
केन आमाय मान दिये आर दूरे राखो ?"

* * * *

तुमने अपनी ही इच्छा से मुझे असीम बनाया है, मेरे मृत-पात्र

में हमेशा नया-नया जीवन भरा किया है, इस नन्हीं सी बाँसुरी को बहुत से गिरि-पर्वतों पर ले जा कर बजाया है।

Thy infinite gifts come to me only on these very small hands of mine, ages pass and still Thou pourest and still there is room to fill.

"उदार देव! मेरे इन नन्हें-नन्हें हाथों में न जाने कब से तुम्हारे चिरन्तन दान आ रहे हैं, कितने युग बीत गए, तुम अब भी बरसा रहे हो और ये अब भी खाली हैं।' भक्ति के ये छींटे कितने ठंढे हैं, ये उद्‌गार कितने मीठे हैं। पुनश्च, तीनों (ज्ञान कर्म और भक्ति) का सामञ्जस्य तो गीता और गीताञ्जलि, दोनों में है।

* * * *

अन्ततः, अतुल अधिकारी जान भगवान ने भक्त को अपना विश्व रूप दिखला दिया, अपनी विभूतियों की अनुभूति करा दी, भक्त कृतकृत्य हो गया, वह प्रसन्न हो कर कह उठा–

"नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ?"

मेरा मोह मिट गया। भगवन्! तुम्हारी कृपा से मेरी सुप्त स्मृति जाग उठी। मैंने अपने को पहचान लिया। मेरे मन में अब किसी किस्म का शक-सन्देह नहीं है। मैं तुम्हारी आज्ञा का अवश्य पालन करूँगा।

भक्त-कवि रवीन्द्रनाथ भी इसी सुर में कितना मधुर गाते हैं—

यावार दिने एइ कथाटि
　　　　व'ले येन याइ—
या देखेछि या पेयेछि
　　　　तुलना तार नाइ—
एइ ज्योतिः समुद्र माझे
　　　　ये शतदल पद्म राजे
ता'रि मधुपान करेछि
　　　　धन्य आमि ताइ—
यावार दिने एइ कथाटि
　　　　जानिये येन याइ !

अक्टूबर '३९



रवि और कवि

एक भद्दी सी पुरानी कहावत है—'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'। यानी, जहाँ सूरज तक की पहुँच नहीं, वहाँ भी कवि पिल पड़ता है। अवश्य ही 'सुबरन' को ढूँढ़ते फिरनेवाले 'व्यभिचारी' और 'चोर' श्रेणीवाले कवि के लिए यह कहावत नहीं कही गई, कही गई होती तो—जहाँ सूरज नहीं पहुँच पाता, ऐसी सभी अँधेरी जगहों में, कवि को बेरोक-टोक पहुँचने देने में यह कहावत ब्रह्मास्त्र का काम करती।

आखिर कुमारसम्भव में, हिमालय का वर्णन करते करते एक ऐसी छुपी जगह की तलाश कर ही ली गई है, जहाँ रवि नहीं पहुँचते, पर कवि कालिदास पहुँच गए हैं—। उपनिषद् का एक मन्त्र है—

"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः"

अर्थात्—"न तो वहाँ सूरज चमकता है, न चाँद और न सितारे। ये विजलियाँ भी वहाँ कभी नहीं कौंध पातीं, फिर आग की भला क्या हस्ती कि वहाँ जलने-बलने की हिम्मत करे?"

कालिदास ने लगभग एक ऐसी ही ऊँची जगह की खोज की है, वहाँ से सूरज नीचे—बहुत नीचे रह कर चक्कर लगाया करता है,—

'अधो विवस्वन् परिवर्तमानः'

शायद इसे ही कहते हैं–'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।' पर मैं कहावत के मतलब में रवि और कवि का प्रयोग यहाँ नहीं कर रहा। यहाँ रवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और कवि कालिदास हैं। 'कवि कालिदासः' काफी मशहूर है। यों लोकोक्ति के 'अर्थ-गौरव' की यहाँ, इस अर्थ में भी, प्रतिष्ठा हो सकती है, हालाँकि जहाँ-जहाँ 'रवि' नहीं पहुँचे, वहाँ-वहाँ 'कवि' को पहुँचाने में मैं जोर लगाने नहीं जा रहा। क्योंकि वह दोनों 'पहुँचे हुए' हैं, हम पथ में उनके चारु-चरण-चिह्नों, विश्राम के सघन छाया-द्रुमों को ही देखते चलें, तो अधिक आनन्द आए। आनन्द-लाभ के लिए इससे सुलभ तथा सुन्दर दूसरा उपाय हो क्या सकता है ?

२

आज भारत में नवीन सभ्यता का निर्माण हो रहा है। यह नवीनता और कुछ नहीं, विदेशीपन की अजीब नकल है। नकल इसलिए कि असलियत इसमें बहुत कम, दाल में नमक के बराबर है। प्रत्येक देश के अलग-अलग हृदय, अलग-अलग आत्मा होती है। नवीनता की इस चकाचौंध में भारत का अपनापन कहीं नहीं नजर आता। यह दूसरी बात है कि यातायात के साधन सुलभ होने के कारण, इस युग में, विभिन्न देशों की संस्कृति का विनिमय सहज-स्वाभाविक हो गया है। पर इसके मानी यह नहीं कि हमारी सभ्यता-संस्कृति, धर्म-कर्म, सत्य-अहिंसा आदि को अन्य देश भी उसी प्रकार

अपना रहे हैं, जिस प्रकार हम उनके स्वेच्छाचार को शिरोधार्य्य किए हुए हैं। आज हम खान-पान, आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा, साहित्य, कला आदि जीवन के सभी अंगों को विदेशी बनाते हुए गर्व प्रकट करते हैं, जैसे सचमुच सभ्यता की सीख हम अब लेने लगे हों, सचमुच हमारे पूर्वज असभ्य, जंगली रहे हों, और सचमुच हमारे वेद गड़ेरियों के गीत हों!

हमारे पूर्वज विजन वनवासी थे सही, पर जंगली नहीं थे। उन्होंने आसपास फैले हुए गिरि-पादप, आश्रम-कुञ्ज, सरित-निर्झर—सब में अपनी चेतना के ज्योतिःकण बिखेर दिए थे, वह जड़ नहीं थे। उन्होंने पशु-पक्षियों तक से सौहार्द स्थापित कर रक्खा था, वह हृदय-हीन नहीं थे। उनमें सौन्दर्य्य-बोध भी उच्च-श्रेणी का था। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में उनकी 'उषा-स्तुति' के मधुर मन्त्र देखिए—

"एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि
व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः

*   *   *   *

प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वै
रुपाऽऽयाति सुयुजा रथेन!"

अर्थात्—'यह आकाश की सुकुमारी कुमारी उषा, शुक्र-तारिका की उजली-धुली सारी से सँवारी हुई, लाल घोड़ोंवाले स्वर्ण-रथ से, संसार को जागरण के गीत सुनाती हुई आरही है।' कैसी ललित, सूक्ष्म कल्पना! कितनी साफ तसवीर! यह है

उन आदिम कलाकारों की कारीगरी, जिन्हें हम असभ्य कहते हुए अपनी सभ्यता प्रदर्शित करते हैं। उनका एक छोटा-सा सन्देश सुनिए जिसे उन्होंने मानव जाति को चिर धरोहर के रूप में दिया है। उन्होंने कहा है कि—

"केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्त्या अपेशसे
समुषद्भिरजायथम् ।"

—(ऋग्वेद १।६।३)

'ऐ मनुष्यो! जड़ में ज्ञान का, और रूपहीन में सौन्दर्य्य का वितरण करते हुए तुम उषा (प्रभात) के साथ उत्पन्न हुए हो।'

"To be or not to be" की समस्या सुलझाते समय आज कितने मनुष्य इस सन्देश को अपने हृदय में स्थान देते हैं?

हाँ, तो हमारे पूर्वजों में जो अपनापन था उसे हम आज धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं; जो विश्वास था उसे निःश्वास के साथ छोड़ते जा रहे हैं; जो ज्योति थी उसे कल-कारखानों के धुएँ के बीच दफनाते जा रहे है, और यह सारी की सारी कार्रवाइयाँ की जा रही हैं ज्ञान से बढ़ कर विज्ञान के नाम पर; नीति से बढ़कर राजनीति के नाम पर! इसी कुहरे को, इसी अँधेर को दूर करने की भरपूर चेष्टा की है रवि ने इस युग में। जो लोग बिजली के रंगीन बल्बों से शरीर का सौन्दर्य देखने में मस्त थे, उन्हें आत्मा की अक्षय शोभा-सुषमा दिखलाई है अपने प्रकाश में लाकर। अवश्य रवि ने एक युगोचित

विदग्धता भी प्रकट की है, जिससे सौन्दर्य-दर्शकों को कमरे की बिजली-बत्तियों के बीच से उठने की जरूरत नहीं रह गई, पर आत्म-दर्शन के लिए और अधिक प्रकाश, और अधिक फैलाव (More light and more space) की जरूरत महसूस होने लगी। यह आकर्षण साहित्यिक, कवि-जनोचित ही रहा। मानवता की शिक्षा लेने के लिए जंगल में जाने की जरूरत नहीं बतलाई गई, बतलाया गया मानसिक उच्चता से सजे-सजाए, कटे-छँटे बाग को भी तपोवन समझना, राजप्रसाद को भी आश्रम समझना। कहना न होगा इस कलात्मक सीख में कितनी दूरदर्शिता छिपी हुई है! रवि के साहित्य, संगीत, कला, वेश-भूषा, शान्ति-निकेतन—सब में एक ही भाव दृष्टि-गोचर हो रहा है—नवीन सभ्यता का तिरस्कार नहीं, अपनापन में पचा लेना; दूसरे शब्दों में चिर-प्राचीन को नित-नूतन बना देना। अर्थात् हमारी आत्मा हमारी आत्मा हो, चोले में चाहे समय-समय पर कितने भी परिवर्त्तन हुआ करें; हमारे प्राणों में भारतीयता की धड़कन रहे, बाहर की तड़क-भड़क, साज-सजावट में आसमां के रंग की तरह अगर परिवर्त्तन होता है, तो हुआ करे।

इस प्रकार नकल के दलदल मे दिनोंदिन फँसते-जाते हुए भारत की आत्मा पर तह की तह जमे अँधेरे को दूर करने में रवि ने पूरी तत्परता दिखलाई है। महात्मा गाँधी ने जिस कार्य्य को राजनीतिक पद्धतियों, शुष्क नैतिक सत्य-अहिंसा के

उपदेशों से सम्पन्न करने की चेष्टा की है, रवि ने उसी भाव को साहित्य की सङ्गीतमय भाषा में, सौन्दर्य की नई-नई बारीकियों में व्यक्त करने में कुछ उठा नहीं रक्खा है। जैसे महात्मा गाँधी ने, रवीन्द्र ने भी भारतीयता के भीतर से विश्व-मानवता की सीख दी है। रवीन्द्र के साहित्य की आत्मा सत्य, शिव और सुन्दर भारत की आत्मा है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले के कवि कालिदास का साहित्य भी भारत का ऐसा ही अपना सौम्य-सुकुमार हृदय है, निजी प्रकाश-श्वासमय आत्मा है। भारत ने जैसे बौद्धिक विभवों को साहित्य की रत्नगर्भा के प्रकाश-स्तर पर पग-पग बिखेर कर अपने साँस-से सुकुमार हृदय के अखिल-निखिल मृदुल-मधुर भावों को केवल कालिदास को सौंप दिया हो, इनका अकेला सहृदय साहित्य भारतीयता का इतना सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। इसी दृष्टि से रवीन्द्रनाथ को भी दूसरा कालिदास कहने की आकाङ्क्षा किसे न होगी ?

३

भारतेन्दु की पगडंडी को राजमार्ग बनाकर द्विवेदी जी के विश्राम-ग्रहण के समय पण्डित रूपनारायण पाण्डेय आदि की श्रममिश्रित कृपा से हिन्दी में वंग साहित्य प्रचुर परिमाण में प्रविष्ट हो चुका था। कुछ मौलिक नई रचनाएँ भी थीं। कविता में कोरी नैतिकता की तूती बोल रही थी। आलोचना में कटु उच्छृङ्-खलता आलोचक के जन्म-सिद्ध अधिकार के नाम से नादिरशाही

रोब गालिब किए हुए थी। दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया का भी प्रारम्भ हो गया था। खड़ी बोली खड़ी होने लगी थी, पर अभी उसकी बचपन की तोतली बोली नहीं छुटी थी, वयःसन्धि के बाद का वसन्त तो बहुत दूर था। ठीक इसी समय रवि हिन्दी के तात्कालिक क्षितिज पर अपनी गुलाबी प्रभाती किरणें विखेरते हुए उगे। तब मैं निरा बालक था। मुझे रहस्यवाद का इतिहास सांस्कृतिक मालूम पड़ता था। मैं हिन्दी की वृहत् त्रयी को महत्त्वपूर्ण दृष्टि से देखता था, क्योंकि खड़ीबोली के नवीन काव्य साहित्य में कलात्मक सृष्टि यहीं से प्रारम्भ हुई थी। पल्लव और परिमल मैं प्रेम से पढ़ता था। जीवन शतदल का प्रथम दल अभी खुलने ही को था, प्राण विहग अभी प्रभाती छेड़ने का उपक्रम ही कर रहे थे कि एक दिन रवि का प्रभात-आलोक आगे में आ गया, साहित्य के इस महा महर्षि के दर्शन मात्र से जैसे साधना की साध पूरी हो गई! मैंने बड़े उत्साह से सन्तोष-शान्ति की सुरभित साँस ली। शैशव से प्राणों में खुदी हुई कालिदास की तसवीर में जैसे जान आ गई। आश्रम-तपोवन, शान्त-स्निग्ध छायाद्रुमों की छाया में खेलते हिरनों के छौने, मालिनी के पुलिन, उद्यान के द्वार पर सखियों के साथ-साथ मङ्गल-कलस लिए खड़ी शकुन्तला, वर्षा की पहली बूँदों से निदाघ-दग्ध धरती के साथ उसाँस लेती सती, अम्बुराशि के ताड़ी-वन-मर्मर तीर, द्वीपान्तर से लवङ्ग-पुष्पों की सुरभि ला-ला कर मन्द-मन्द बहती हुई सुखद समीर आदि की

कल्पनाएँ मानो अनुभूति बनकर मन में नवीन आवास की तलाश करने लगीं। मैं जैसे भावोच्छ्वास में गुनगुनाने लगा—

"आजि ए प्रभाते रविर कर, केमने पशिल प्राणेर' पर
ना जानि केन रे एतदिन परे जागिया उठिलो प्राण !,,

मैंने मुग्ध हो कर सोचा, हिन्दी की नवीन कतिपय क्रान्तियाँ भी (इन्हीं) रवीन्द्रनाथ ही की निजी साधना के उद्रेक हैं। जैसे सूर्य्य की सहस्त्ररश्मियाँ देश और काल की विविधता के कारण जगह-जगह छोटे बड़े बादलों पर सीधे-तिरछे प्रतिफलित हो कर बहुरंगी हो गई हैं, विविध सौन्दर्य्य-सृष्टि की वजह हो गई हैं। हिन्दी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं में रवि के साहित्यिक दृष्टिकोण की छाप पड़ी है, विकसित रवि ने अपने समय के समग्र साहित्य पर अपनी रंगीनी फैला दी है। अवस्था ही नहीं, इतिहास में भी रवीन्द्रनाथ एक शताब्दी हैं। जैसे प्राचीन समय में कालिदास, रवीन्द्रनाथ भी भारतीय साहित्य के इतिहास में स्वर्ण-युग के निर्माता हैं।

स्वयं रवीन्द्रनाथ कालिदास की प्रशंसाएँ करते थकते नहीं। 'कालिदास' 'मेघदूत' 'ऋतुसंहार' 'कुमार-सम्भवेर गान' आदि उनकी रचनाएँ इस उक्ति के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अनेक निवन्धों, आलोचनाओं में कालिदास के लिए उन्हों ने अपना दिल खोल कर रख दिया है। वैसे भी चित्राङ्गदा, उर्वशी, विदाय अभिशाप, वर्षामङ्गल, स्वप्न आदि उनकी सुप्रसिद्ध कविताओं के भीतर से कालिदास फूटा पड़ता है। सच तो

यह कि रवीन्द्रनाथ दूसरे कालिदास हैं। क्या जीवन-तत्वों का सङ्कलन, क्या सौन्दर्य्य-सृष्टि, क्या सहज कल्पनाएँ, क्या मार्मिक चित्र-रचना, सभी में इन दोनों की तरह तीसरा कोई नहीं। जैसे दो हजार वर्षों के अतीत की सुप्त-विस्मृत स्मृतियों को सजग-सजीव कर भविष्य के युग-युग तक भारतीय साहित्य के विशाल भाल को, दीप्त समुन्नत रखने के लिए, अतीत के साथ भविष्य को स्वर्ण शृङ्खला में सम्बद्ध करदेने के लिए, भारत के सच्चे काव्य कलाकार कालिदास को आकुल आत्मा ही नई समृद्ध वसन्त श्री की तरह रवीन्द्रनाथ के रूप में, साहित्य के पतझर-झंखाड़ के बीच से फूट निकली हो।

४

रवि और कवि की कृतियों की बानगी देना सूरज को दीपक से दिखाना ठहरा, वह भारत ही नहीं, विश्व भर में वन्द्य हो चुकी हैं। विविध माध्यमों द्वारा विश्व उनके रस का आस्वादन कर चुका है, रवि और कवि दोनों ही देश और काल के प्रतिनिधि हो कर भी, देश और काल से परे हैं। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा की बदौलत देश और काल पर अधिकार कर रक्खा है, उसे बाँध रक्खा है, वह स्वय देश और काल से सीमित नहीं किए जा सकते।

कालिदास की रुचिर रचनाओं में जो एक सरस स्निग्ध शान्ति है, रवि की कृतार्थ कृतियों में भी वह ठीक वैसी ही है। आज भारत का प्राचीन चित्र परिवर्त्तित (ऐतिहासिक) हो गया

है, रुचि में नवीनता आ गई है, पर कालिदास की आभा ज्यों की त्यों अम्लान है। फूल सूखकर झर गया है, पर उसकी स्वर्गीय सुरभि में अब भी वैसी ही ताजगी है।

कालिदास ने न जाने कब, किस अतीत, विस्मृत वर्ष में, किस पवित्र आषाढ़ के प्रथम दिवस को 'मेघदूत' की रचना की थी? वह मेघ-मन्द्र श्लोक! जान पड़ता है, जैसे विश्व के सकल वियोगी विरही जनों के शोक को उन्हों ने अपने घन-नील अन्तर के स्तर-स्तर में, सघन सङ्गीत के मध्य पुञ्जीभूत कर रक्खा है!

उस दिन के बाद शत-शत बार नवीन आषाढ़ का प्रथम दिवस आता, और प्रत्येक बार प्रत्येक वर्षा उनके कमनीय काव्य को नव-वारि-धारा से सिक्त, प्लावित कर, उस पर नव घन स्निग्ध छाया फैला कर, उसमें जलद-मन्द्र की नव-नव प्रतिध्वनि भरकर, उसके छन्दों को वर्षा-तरङ्गिणी की भाँति प्रखर, सवेग बनाकर, नवीन जीवन प्रदान कर जाती है।

आज वह सानुमान आम्रकूट कहाँ है? उपल-व्यथित-गति हो कर विन्ध्य-पद-मूल में विशीर्ण रेवा कहाँ बह रही है? वेत्रवती के पुलिन पर परिणत-फल-श्याम जम्बू-वन की छाया में खिले हुए केवड़े के बागों से घिरा हुआ दशार्ण अब कहाँ है? उसके रास्ते के पेड़ों की डालियों में ग्राम-विहङ्ग वर्षा के दिनों में अपने ललित कलरव से वनस्पति को घेरकर अब घोसले कहाँ बनाते हैं?

आह ! महर्षि कण्व का वह पुण्य आश्रम क्या हो गया ? जहाँ पेड़ों के नीचे-नीचे, घोंसलों में दुबके पखेरुओं के नन्हें-नन्हें बच्चों से कुतरी हुई नीवार की बालियाँ बिखरी रहती थीं, कहीं इंगुदी-फल चूरने के कारण चिकने-चिकने पत्थर चमकते रहते थे, तपोवन की सात्विकता पर पूरा विश्वास रहने से हिरने चुपचाप जुगाली करते बैठे रहते थे, लोगों की आवाज सुनकर भी तनिक चौंकते तक नहीं थे, और जलाशय की ओर जाने-वाली राहें, ऋषिकुमारों के गीले-गीले वल्कलों के छोरों से चूती हुई पानी की बूँदों की रुचिर-धार रेखाओं से अङ्कित रहती थीं ? जहाँ तितली-सी तुनुक शकुन्तला कभी सखियों की बाँह की छाँह में छिपकर खड़ी होती और कभी अपने प्यारे पादपों, बाल लताओं से लिपटी चलती थी !

इच्छा होती है आँखे गीली कर, गर्म गर्म साँसें छोड़ूं, पछताऊँ, पर दूसरे ही छन दार्शनिक आश्वासन मिलता है— नहीं-नहीं, वह सब आज भी तो है, प्रभाहीन भारत के रोज-रोज बदलते हुए तड़ित्-चपल चित्रों में नहीं, पत्थर कोयले की दुर्गन्ध भरे वातावरण में, उस पावन रामगिरि के; आश्रमों, तपोवनों की छाती छेद कर दौड़ी जाती हुई रेलगाड़ी की खिड़कियों से झाँकने पर 'झाँय-झाँय' करते हुए दैत्याकार खड़े झाड़ों-झंखाड़ों के जंगलों में नहीं; किन्तु उस अमर ज्योतिर्लोक में, जहाँ रेलगाड़ी का धुआँ नहीं पहुँच सकता, उस सरस मानस में, जहाँ पतझर का, ग्रीष्म का प्रवेश नहीं हो सकता ! कालिदास ! तुम्हारा

'आत्म-स्वरूप' भारत आज भी साहित्य के स्वर्गीय-शरीर में ज्यों का त्यों स्थित है, तुम्हारा वह शान्त, अक्षय सौन्दर्य्य-जगत् आज भी वैसा ही है, उसी प्रकार जग में जगमगा रहा है।

रवि ने साहित्य में वैसे ही आश्रम-तपोवन की, सरस स्निग्ध 'शान्ति की, आत्मा की शोभा-सुषमा की, सत्य की, शिव की, सुन्दर की प्रतिष्ठा की है। हमें उनकी प्रतिमाओं को सुघर रूप-रेखाएँ तो देखनी ही चाहिएँ, किन्तु उनके' भीतरी स्तर में स्थित आत्मा की, सत्य की दिव्य झाँकी भी लेनी चाहिए, अन्यथा कालिदास या रवि का सम्यग् दर्शन नहीं हो सकता। हम शकुन्तला को न देखकर एक अप्सरा-कुमारी की नजाकत देखते रह जायँगे; पार्वती को न पहचान कर हिमालय की हसीन अल्हड़ लड़की की ओर घूरते रह जायँगे, और इस प्रकार सम्यग् दर्शन से वंचित रह कर भी हम अपने को सहृदय कहते रहें, इससे बड़ी जवर्दस्ती और क्या होगी?

मेरे लिए यह कुछ साधारण अचरज का विषय नहीं रहा कि शेक्सपियर की अन्तिम नाट्यकृति 'हैमलेट' न होकर 'टेम्पेस्ट' है। टेम्पेस्ट के जादू-टोने से हैमलेट का भूत तो कहीं अच्छा था, पर कौन जाने, शेक्सपियर के दिमाग में कैसी आँधी आई कि उसे 'टेम्पेस्ट' जैसी सस्ती Comedy आखिरी वक्त लिखनी ही पड़ गई। जिन्हें 'रोमियो-जूलियट' को ट्रेजेडी लाजवाब जँचती है, यों वह टेम्पेस्ट को भी बुरा नहीं कह सकते,

वल्कि दाएँ-बाएँ देखकर उसे 'किंग-लियर' 'हैमलेट' से भी बढ़िया बता देंगे। जो हो, मेघदूत और कालिदास तो शकुन्तला के साथ साहित्य के स्वर्ग में पहुँचे हैं। किन्तु रवीन्द्रनाथ की 'मानसी' 'चित्रा' या 'गीताञ्जलि' को देख कर उनके उच्चतम साहित्य के बारे में यों ही झटपट कुछ कहा नहीं जा सकता। यहाँ भी शेक्सपियर वाली विषम समस्या उठ खड़ी होती है। बात यह है कि वह कालिदास की तरह एकरस या 'सर्व-प्रिय' नहीं हैं। कालिदास का सरस परस रवीन्द्रनाथ से लेकर ऐरे-गैरों तक की हृदय-तन्त्री को झङ्कृत कर देता है, पर रवीन्द्रनाथ विशेष कर प्रौढ़ सहृदयों ही के लिए हैं। इसका कारण यह नहीं कि उनकी भावनाएँ कालिदास की भावनाओं की भाँति मर्मस्पृक् या सुन्दर नहीं हैं, किन्तु वह सब मिलाकर उतनी ही सरस नहीं हैं, सँवारी हुई उसी तरह पर हैं पर उन्हें सब नहीं समझ सकते।

हिन्दी के एक विशिष्ट आलोचक का मत है कि रविबाबू की कुछ आरम्भिक कृतियाँ ही हृदय की वस्तु हैं बाद बौद्धिकता का दौरदौरा है, उनकी प्रतिभा कठोर हो गई है, कविता में नीरसता आगई है! इस तरह के खयालों से खुल कर बगावत करने की कोई जरूरत नहीं जान पड़ती। इस विषय में इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि आलोचक महाशय जिन प्रारम्भिक रचनाओं का रसास्वाद कर तृप्त होते हैं, उनके तथा उन्हींके समान विचार रखनेवालों के लिए रविबाबू का उतना

ही आत्म-रस-दान है। किन्तु रविबाबू अगर शान्त-रस या भक्ति-रस को भी 'अमृत-रस' कह कर पीनेवालों की प्यास बुझा सकते हैं तो इसके लिए वे आलोचक दूसरों के सुख सौभाग्य से ईर्ष्या न करें।

मैं गीताञ्जलि, नैवेद्य, खेया आदि को उपनिषदों की धीर-गभीर भावनाओं से भरी हुई गीता-शैली की काव्य-गीतियाँ मानता हूँ। न गीता को हर आदमी समझ सकता है और न इन कृतियों को ही, पर मैं तो खुले शब्दों में यह भी कहदेना चाहता हूँ कि आरम्भ से अन्त तक सरल-सरल कहे जानेवाले कालिदास को भी बहुत कम लोग समझते हैं, मुश्किल से सौ में एक दो। क्योंकि अधिकांश लोग कालिदास के प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, उपमा अलङ्कार और शृङ्गार रस से अधिक के ज्ञाता नहीं हैं, ज्ञातव्य विषय के बारे में उनकी कोई कल्पना भी नहीं है।

कालिदास के काव्यों में भी स्थान-स्थान पर दार्शनिक छींटे हैं, तुलसी, सूर, कबीर आदि भी इसके अपवाद नहीं हैं। पर कबीर को छोड़ कर और किसी में वैसी 'नीरसता' नहीं प्रतीत होती जैसी रवीन्द्रनाथ की गीताञ्जलि आदि में कुछ लोगों को होती है। इसका कारण भाषा-भाव, उपमा-उत्प्रेक्षा, शान्त शृङ्गार, साकार-निराकार के अतिरिक्त संस्कार-विशेष भी है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' का संस्कार जन-साधारण के हृदय पर नहीं के बराबर रहा है, देव और विहारी पर रीझनेवाले

यदि ऐसे भावों पर खीझने लगते हैं तो यह स्वाभाविक ही है।

रविबाबू एक वासन्तिक कुसुमोद्यान के समान हैं जिसमें भाँति-भाँति के फूल खिले हों; शरत् के स्वच्छ नील आसमान के समान हैं जिसमें बहुत से सितारे जगमग-जगमग कर रहे हों। सब मिलाकर रवीन्द्रनाथ उद्यान या आसमान से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। पर सङ्क्षेप में उनके काव्य-साहित्य के भीतर दो शैलियों ही की प्रधानता है, जिसे हम शुद्ध-साहित्यिक और आध्यात्मिक-साहित्यिक कह सकते हैं। जो शुद्ध साहित्यिक है, वह कालिदास के बहुत पास-पास है, पर मिश्रित-शैली में विश्व की विविध शैली-श्रेणियों का सामञ्जस्य पूर्ण मिश्रण है। निश्चय ही रवि का समादर दूसरी श्रेणी की कविताओं के कारण अधिक हुआ है, पर इसीलिए पहली शैली को लचर नहीं कहा जा सकता। यही रवि और कवि के मिलन का क्षितिज है।

प्राची के इस क्षितिज पर जब-जब हमारी आँखें गड़ती हैं, हम रवि और कवि को देख कर आश्चर्य्य-चकित हो जाते हैं। और कभी-कभी बरबस मुँह से निकल पड़ता है—जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि!

अक्टूबर' ३६



*

भक्ति और शृङ्गार

(Divine love) दिव्य प्रेम को भक्ति कहते हैं और मानवीय (Sexual love) को शृङ्गार। भक्ति में आत्म-समर्पण की तृप्ति रहती है, शृङ्गार में परस्पर स्नेहाकर्षण का मोह-सुख। "नारद पाञ्चरात्र" में लिखा है—

माहात्म्य-ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा।

अर्थात् सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त सुदृढ़ स्नेह ही को भक्ति कहते हैं। उसी से मुक्ति होती है। अवश्य ही इस स्नेह में एक विशेषता भी रहती है। स्नेह करनेवाले के हृदय में अपने आराध्य या प्रियतम के माहाम्य का ज्ञान होना आवश्यक है। उसे यह धार्मिक दृष्टि से भी, समझना ही चाहिए कि मेरा प्रिय सर्वाधिक सुन्दर, सर्वश्रेष्ठ दयालु, अत्यधिक उदार या सम्पूर्ण विशेषतामय है।

यदि उसमें भी किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तब स्नेह चिर-सुदृढ़ हो ही नहीं सकता। और यह ध्रुव सत्य है कि इस दृश्यमान विश्व में, त्रुटियों या दुर्बलताओं की पद-पद पर भरमार है। इसमें कोई भी निर्दोष या सम्पूर्ण गुणशाली नहीं पाया जा सकता। इसलिए 'माहात्म्य ज्ञान' की यथार्थ रक्षा पशु-जगत् या मानवीय सृष्टि में न होकर ईश्वर में ही भलीभाँति हो सकती है। और इसीलिए मैंने कहा कि

ईश्वरीय या दिव्य प्रेम ही का नाम यथार्थतः भक्ति है।

जैसे प्रेम का बिगड़ा हुआ रूप घृणा है, वैसे ही बना हुआ रूप भक्ति। मान लीजिए—हम किसी को जी जान से प्यार करते हैं, उसकी जुदाई में आहें भरने लगते हैं; मिलन में पागल की तरह झूम-झूम पड़ते हैं। पर अभाग्यवश किसी तरह अगर अनबन हो जाय, तो बस वही प्यार खार बन जायगा। अपने प्रिय के जिस रूप-रंग, हास-विलास, गति-विधि पर आज हम मर मिटने को तैयार हैं, 'सर से कफन लपेटे जिस कातिल की खोज ढूंढ़ में आसमान-जमीन का कुलावा मिलाते चलते हैं, वह एकदम फीका, स्याह मालूम पड़ने लगेगा, उसकी एक-एक बात आघातकर जान पड़ेगी, और उसे हम जानो दुश्मन समझने लगेंगे। हमारा प्यार जितना गहरा रहेगा, घृणा भी उतनी ही गहरी होगी। ठीक ऐसी ही बात भक्ति में होती है।

भक्ति के लिए भी हम पहले साधारण प्रेम का पथ पसन्द करते हैं, फिर ज्यों-ज्यों हमारी गति अग्रगामिनी होने लगती है, हम में केवल गति ही शेष रह जाती है। यात्रा का उद्देश्य राह के छोर तक पहुँचना भर रह जाता है, किसी स्थान विशेष से कृत्य-कृत्य होकर लौट आना नहीं। प्रेम का फल प्रेम ही रह जाता है, किसी सुन्दर सुकुमार शरीर से लिपट कर जी जुड़ाना नहीं। यहाँ यह प्रेम शरीर की सीमा का अतिक्रमण कर दो पवित्र आत्माओं में जैसे एक अज्ञात एकता स्थापित कर

देता है। सत्य प्रेम का यही सुन्दर तथा मङ्गलमय स्वरूप है। पर ज्यों ही यह दो आत्माओं में इकाई कायम करने के बजाय आत्माको परमात्मा की ओर उन्मुख-उत्सुक करने लगता है, पार्थिव प्रतीकों के माध्यम से प्रकाश में आने की लालसा को पार कर जाता है, इसका व्यावहारिक नाम "दिव्य प्रेम" न रह कर भक्ति हो जाता है। इस 'एकीकरण' को वेदान्त के उस शुष्क अर्थ में नहीं समझना चाहिए, जिसमें अपने में ब्रह्म-रूप की, 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' की ज्ञानोपलब्धि के साथ ही 'सोऽहं' की अनुभूति प्राप्त करने की बुरी नौबत आ जाती है।

यहाँ तो मानो दो प्राण जुड़ जाते हैं, सचमुच एक हो जाने की जरूरत नहीं। जैसे शरीरतः प्रेमी और प्रेमिका, दिल और दिलरुबा का दो होना निहायत जरूरी है, उसी प्रकार आराध्य और भक्त की पृथक्-पृथक् सत्ता अत्यन्त आवश्यक है। अवश्य ही प्रेमी और प्रेमिका से भक्त और आराध्य में एक भेदमूलक विशेषता रहती है। प्रेम-शृङ्गार में प्रेमी प्रेमिका के लिए दीवाना बन जाता है, प्रेमिका प्रेमी के पीछे पगली हो जाती है, कभी कभी दोनों एक दूसरे के प्रति अगाध स्नेह प्रदर्शित करते पाये जाते हैं, पर यहाँ केवल भक्त ही को आराध्य के प्रति प्रणय-प्रणत रहना पड़ेगा; पागल या दीवाना बनना होगा; सब कुछ न्योछावर कर देना होगा। यह दूसरी बात है कि भक्त पर भगवान् की भी अनुपम कृपा हो; वह उसके

सम्पूर्ण मनोरथों को अनायास ही परिपूर्ण कर दें, पर भक्त तो केवल भक्ति के लिए भक्ति करता है, भक्ति ही में उसे अपूर्व सुखानुभूति होती है, अद्भुत आत्म-तृप्ति रहती है। यदि भक्ति में तृप्ति या सुखानुभूति न हो तो उसमें और गुलामी में फर्क ही क्या रह जाय? निराला जी की (गुप्त जी की नहीं; वहाँ तो सीता और लक्ष्मण भाभी-देवर हैं।) 'पञ्चवटी' में भक्त प्रवर लक्ष्मण कहते हैं—

जीवन का एकही अवलम्ब है—सेवा;
है माता का आदेश यही,
माँ की प्रीति के लिए ही चुनता हूँ सुमन-दल,
इसके सिवा कुछ भी नहीं जानता—
जानने की इच्छा भी नहीं है कुछ।
माता की चरण-रेणु मेरी परम-शक्ति है—
माता की तृप्ति मेरे लिए अष्ट सिद्धियाँ—
माता के स्नेह-शब्द मेरे सुख-साधन हैं।
धन्य हूँ, मैं ....

भक्ति का सरस स्रोत जैसे लक्ष्मण के प्राणों में उमड़ रहा हो। माता के आदेश पालन के अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं जानते, जानने की इच्छा भी नहीं होती! कैसी तृप्ति है यह आत्मा-र्पण की? कहने का तात्पर्य्य यह कि सकाम प्रेम में तो शृङ्गारत्व का विघात नहीं हो सकता, पर सकाम भक्ति को भक्ति नहीं कह सकते!

हाँ, यदि प्रेम-शृङ्गार भी निष्काम हो जाय, तो उसे भक्ति कहना ही समुचित होगा। जैसा कि मैं ऊपर लिख आया

हूँ, उसमें केवल प्रकार या आश्रय मात्र का भेद रहता है, वास्तविक नहीं। लाल रंग की गाय को भी गाय ही कहा जाता है, और काले रंग वाली को भी गाय ही। इसलिए रक्तता या श्यामता रूप विशेषण (प्रकार) के भेद से 'लाल गाय' या 'काली गाय' में जो भेद-बुद्धि होती है, वह वास्तविक नहीं है, व्यवहार के लिए कल्पित हुई है; गढ़ी गई है। उसी प्रकार आश्रय भेद से जो भेद-बुद्धि होती है, वह भी काल्पनिक ही है। डंठल पर खिले हुए फूल को भी फूल ही कहा जाता है और तालाव में तिरते हुए फूल को भी फूल ही। इसलिए डंठल और तालाव रूपी आश्रय के भेद से 'डंठल पर खिला हुआ फूल' और 'तालाब में तिरता हुआ फूल' रूपी जो भेद-प्रतीति होती है, वह मिथ्या या व्यावहारिक मात्र है।

भक्ति और शृङ्गार निष्काम तथा सकाम प्रेम के दो रूप हैं। निष्काम (दिव्य) प्रेम भक्ति और सकाम प्रेम शृङ्गार है। अब रही बात प्रकार तथा आश्रय जन्य भेद-प्रतीति की, सो तो केवल काल्पनिक ही है। इसलिए दास्य, सख्य, वात्सल्य शान्त या माधुर्य्य भक्ति-उपासना के रीति-विशेष, प्रकार मात्र हैं, इनमें वास्तविक भेद कुछ भी नहीं। तुलसी दास ने राम को मालिक मानकर दास बुद्धि से, सूरदास ने कृष्ण को मित्र मानकर सख्य भाव से, गोपियों ने उन्हें पति मानकर प्रेयसी (माधुर्य्य) रूप से उनकी उपासना की, तो इन विभिन्न भावनाओं में प्रतीत होने वाला भेद वस्तुतः कुछ भी नहीं,

सब भक्ति ही भक्ति है। इसीलिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण को एक ही स्वर से कह दिया है :—

'पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः,
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।'

इस तरह, संक्षेप में निष्काम तथा सकाम प्रेम को भक्ति और शृङ्गार प्रतिपादित कर चुकने पर एक विरुद्ध तर्क भी उपस्थित किया जा सकता है कि यदि तुलसी-सूर या गोपियाँ या दास्य-सख्य माधुर्य्य में वास्तविक भेद नहीं है, तो इसी प्रकार निष्काम-सकाम या भक्ति-शृङ्गार का भेद भी कल्पित ही कहा जाय। पर यह तर्क-प्रकार एकदम निराधार होगा। कारण, भक्ति और शृङ्गार अँधेरे - उजाले की तरह बेतरह जुदा-जुदा हैं। सकाम प्रेम मोहमूलक तथा विनाश-फलशाली है, किन्तु निष्काम प्रेम ज्ञानमूलक तथा अमृतत्व-फलशाली होता है। सकाम प्रेमी कामी है, गुमराह है, गड्ढे की ओर जा रहा है। पर निष्काम प्रेमी साधना के पथ पर है, भगवान् के चरणों की ओर बढ़ रहा है। वह जैसे भगवान् को पहचान कर कह रहा हो, 'तुम चाहे जिस रूप में रहो, मैं तुम से अलग कैसे रह सकता हूँ?' नन्द ग्वाले के बाँसुरीवाले लड़के पर ग्वालिनें न्योछावर नहीं थीं, बल्कि भक्त की आकुल आत्माएँ अपने भगवान् को पहचान कर उससे लिपट जाना चाहती थीं। कृष्ण के मथुरा जाते समय वह इसीलिए रो रही थीं कि जन्म-जन्म की साधनाओं के बाद बड़े

भाग्य से उन्होंने अपने प्रिय को प्राप्त किया था, वह फिर से उसे भूल से भी खोना कैसे चाहतीं ? पर अभाग्य ने निर्दय हाथों से लूट जारी कर दी थी, अब यह दुख उनसे कैसे सहा जा सकता था ? उनके वाष्प-गद्गद कण्ठ से जैसे यही करुण सङ्गीत फूट रहा था—

'आमि कखनो वा भुलि, कखनो वा चलि,
तोमार पथेर लक्ष्य धरे ;
तुमि निष्ठुर सम्मुख हते याओ ये स'रे !'

(२)

भक्ति और शृङ्गार का स्वरूप सुस्पष्ट हो जाने के बाद इस संशय के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता कि मीरा, चण्डिदास, जयदेव, विद्यापति, तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों की रचनाएँ किस कक्षा में रक्खी जायँगी ! रामी (मीरा ही का जैसे रूपान्तर हो !) धोबिन चण्डिदास की प्रेमकविताओं की आत्मा है, वही उनकी मूर्त्तिमती कविता है। चण्डिदास उसे जिस दृष्टि से देखते थे, वह दृष्टि ही उनकी असलियत का बयान दे सकती है। रामी धोबिन के प्रति चण्डिदास की सुप्रसिद्ध कविता है—

एक निवेदन करि पुन पुन
शुन रजकिनि रामि !
युगल चरण शीतल देखिया
शरण लइलाम आमि ।
रजकिनि रूप किशोरी स्वरूप
काम गन्ध नाहि ताय,

ना देखिले मन करे उचाटन
देखिले पराण जुड़ाय !

ऐ रामी धोबिन, सुन सही, मैंने तेरे युगल चरणों को शीतल (ताप-दाह दूर करने में समर्थ) समझ कर ही, उनकी शरण ली है, मुझे इसी एक बात का तुझ से बार-बार निवेदन करना है। तेरा यह किशोर वयस का सुन्दर स्वरूप ! सच कहता हूँ, इसमें काम-वासना की तनिक गन्ध तक नहीं है। फिर भी न जाने क्यों, इसे देखे बगैर मेरा जी कैसा-कैसा करने लगता है, और देखते ही प्राण जुड़ा जाते हैं !

तुमि रजकिनि आमार रमणि
तुमि हओ मातृ-पितृ
त्रिसन्ध्या याजन तोमारि भजन
तुमि वेद-माता गायत्री।
तुमि वाग्वादिनी हरेर घरणी
तुमि से गलार हारा
तुमि स्वर्ग मर्त्य पाताल पर्व्वत
तुमि से नयनेर तारा

तू मेरी रमणी है, पर तू ही मेरी माता भी है, पिता भी है—सब कुछ तू ही तो है। त्रिकाल सन्ध्याओं में मैं तेरी ही आराधना, उपासना करता हूँ, तू वेदों की माता गायत्री जो है ! इतना ही क्यों ? तू साक्षात् सरस्वती है, सती पार्वती है ! तू मेरे कण्ठ की मनोहर मालिका है, तू मेरी आँखों की तारिका है—इसीलिए स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, पर्वत सब ओर तू ही तू दीख पड़ती है ! तेरे अलावा मेरा और है कौन ?

इसे अच्छी तरह समझ लेने पर कवि के दिव्य प्रेम या शृङ्गार-वासना-विषयक दृष्टिकोण को समझने-परखने के लिए, बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं रह जाती।

इतने पर भी जिन्हें चण्डिदास गंदे ही मालूम पड़ते हैं, कहना चाहिए कि उनकी आँखें एकदम गंदी हो गई हैं, वे इन लोगों की रचनाएँ पढ़ने-समझने के वास्तविक अधिकारी नहीं हैं। भगवान् कृष्ण तक ने अपनी गीता को अधिकारी भक्तों ही को सुनाने-समझाने का आदेश दिया है, इसमें बहुत बड़ा रहस्य अन्तर्हित है। फिर मैं मध्ययुग के रीति कवियों की सारी अनीतिमूलक कृतियों को तो भक्ति के उद्गार कह नहीं रहा। वहाँ निश्चय ही उत्कट वासना है, मलिनता है, शृङ्गार है, और बहुत स्थलों में वीभत्स-शृङ्गार भी है। अस्तु।

कुछ भ्रष्ट कवियों की रचनाएँ देख कर लोग गोपियों के दिव्य प्रेम को भी कुत्सित, कलुषित समझने की भूल कर बैठते हैं। पर इसमें बेचारी गोपियों का क्या दोष? यदि कोई चित्रकार गणेश की मूर्त्ति बनाते-बनाते बन्दर की तसवीर बना बैठता है तो इसमें मङ्गलमूर्त्ति गणेश जी का क्या अपराध? जिन्होंने भगवान् कृष्ण को आलम्बन नहीं बना कर बाँके छैला को बनाया, उनसे परम-पावन प्रेम की पिपासा मिटाने का प्रयत्न नितान्त निष्फल है। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि कहीं-कहीं भक्त कवियों ने भी (शायद) साहित्यिकता की रक्षा के लिए जिस वीभत्स शृङ्गार के गड्ढे में डुबकियाँ लगाई हैं

उस गड्ढे को मानसरोवर समझना भूल होगा; या जो जगह-जगह जहर उगलता है, उसे अमृत समझना फिजूल होगा। उनके व्यक्तित्व या महात्म-रूप पर मेरा कोई आक्षेप नहीं, पर सिर्फ इसीलिए उनके काच को हीरा कहना खरी आलोचना के खिलाफ होगा। मैं समझता हूँ कि मनुष्य होने के कारण, भक्त रहने पर भी गलतियाँ करना स्वाभाविक है। कम से कम मैं उन गलतियों को सही कहने के लिए तैयार नहीं हूँ। पर हर्गिज मेरा यहाँ यह मतलब नहीं है कि उनके भ्रान्त भावों की ही पुनः पुनः आवृत्ति की जाय और उनके सत्य, दिव्य, उदार उद्गारों से वंचित रहा जाय। बस गुलाब के फूल की कस-कस कर शिकायत ही की जाय कि वह कँटीले डंठल पर क्यों खिला हुआ है? कमल का कलेजा मसल-मसल कर यही कहा जाय कि वह पंक के अंक से क्यों पैदा हुआ?

सबसे बड़ी भूल गोपियों को साधारण स्त्री मानकर चलने से होती है। गोपी-उद्धव-संवाद में भक्ति और ज्ञान की जो धारा बही है, गोपियों ने उद्धव को जैसे जैसे उत्तर दिए हैं, वह सब जान सुनकर भी यदि उन्हें महज भोली भाली ग्वालिन न समझने की अक्ल नहीं आती, तो मैं कहूँगा—वैसी समझवालों के लिए कृष्णावतार को न मानना, गीता, महाभारत या भागवत को शेखचिल्ली की कहानियाँ समझना ही ठीक है, शास्त्र तो ऊँचे स्वर से सुना सुना कर कह रहा है—

"गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया न मानुष्यः कथञ्चन।"

कृष्णोपनिषद् में लिखा है कि वनवास के समय सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् श्री रामचन्द्र जी का साक्षात्कार कर उनके सर्वाङ्ग सुन्दर स्वरूप पर रीझ कर ऋषि-महर्षियों ने उन्हें आलिङ्गन करने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की थी, भगवान् ने बिहँस कर बताया था कि—

'भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ ।'

कल्पान्तर में जब मैं कृष्णरूप में आऊँगा, तुम गोपिकाओं के रूप से मेरा आलिङ्गन कर सकते हो। उस समय तपोवन में जितने शतसहस्र ऋषि-महर्षि थे, उतनी ही संख्या में गोपिकाएँ भी हुईं। एक प्रकार का और भी वचन मिलता है कि श्रुतियों-उपनिषदों में जितनी ऋचाएँ हैं वही सब गोपी-रूप से सजीव हुई थीं।

—अष्टावष्ट सहस्रे द्वे शताधिक्य: स्त्रियस्तथा
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः । —कृष्णोपनिषद् ।

गोपियाँ ऋचाएँ (ऋषियों की ज्ञानराशि) हों चाहे उनकी साक्षात् प्रतिमाएँ हों, पर वह मानवी किसी भी दशा में नहीं थीं।

—न मानुष्य: कथञ्चन !

रासप्रकरण में वेदव्यास का वचन है—

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि
र्यथाऽर्भक: स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः

अर्थात् किसीका हाथ पकड़, किसीका आलिङ्गन कर, केशों की ओर स्निग्ध दृष्टि से देख—यों भाँति भाँति के उन्मुक्त

हास-विलास के साथ कृष्ण गोपबालाओं के संग-संग उसी प्रकार खेल रहे थे जिस प्रकार बालक अपनी ही छाया के साथ कुतूहल से खेलता है। कृष्ण और गोपियों के अशेष आमोद-प्रमोद का—रास का रहस्य बस एक ही उपमा द्वारा सुस्पष्ट कर दिया गया है, "यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।
स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है,

नमय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते।—

अर्थात् जिनकी चित्तवृत्ति मुझ में लगी हो, उनका काम लौकिक काम नहीं हो सकता, वह काम प्रेम तो है, पर उसे सांसारिक, वासनामूलक समझना व्यर्थ होगा। उदाहरण देते हैं कि भूने हुए धान खेत में बीज का काम नहीं कर सकते।

भगवद्विषयक प्रेम में वासना दग्ध हो ही जाती है। सांसारिक इन्द्रिय-सुख की कामना रहने पर ईश्वर में प्रीति हो कैसे सकती है? अस्तु। गोपियों के प्रेम पर यहाँ बहुत नहीं लिख सकूँगा। वह एक स्वतन्त्र निवन्ध का विषय है। फलतः कीच उछालनेवालों का प्रसङ्ग भी यहाँ अनावश्यक होगा। 'भ्रमरगीत' के द्वारा गोपियों की प्रेमा-भक्ति का जैसा अच्छा परिचय मिलता है, व्यास और सूरदास से लेकर सत्य-नारायण कविरत्न तक अनेक सत्कवियों के काव्यों में उसकी अपूर्व अवतारणा प्रशंसनीय ही नहीं, मननीय भी हुई है।

किन्तु, विरह - मलिन गोपियों के अश्रु-विमल प्रेम

पर जिनकी आँखें नहीं टिकतीं, उन्हें माखनचोर कृष्ण के प्रति गोपी की यह उक्ति पढ़नी चाहिए।—

क्षीरसारमपहृत्य शङ्कया
स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया
मानसे मम नितान्ततामसे
नन्दनन्दन कथं न लीयसे?

माखन चुरा कर भागे जाते हुए कृष्ण को पुकार कर प्रेमिका गोपिका कहती है कि हे नन्दनन्दन! माखन की चोरी कर पकड़ जाने के खौफ से जो तुम दौड़े-भागे जा रहे हो, सो इस तरह तुम्हें परेशान होने की भला क्या जरूरत है? मैं तो तुम्हारे पास ही खड़ी हूँ, मेरे 'अन्धकार'-सघन गहन मन में क्यों नहीं छुप जाते? जहाँ किसी भी प्रकार कोई तुम्हें नहीं देख सकता!

क्या कोई रसिक यहाँ वासना-मूलक शृङ्गार का आभास पा सकता है? और भी—

यदि नीतं नवनीतं
नीतं, पीतं च, किन्तेन?
आतप-तापित-भूमौ
माधव! मा धाव, मा धाव।

एक दूसरी गोप-वधू निवेदन करती है कि प्यारे माधव! यदि तुमने माखन चुराया, खाया, तो अच्छा ही किया, इसमें हानि क्या हुई? लेकिन मैं यह प्रार्थना करती हूँ कि इस दुपहरी की लू से जलती हुई जमीन पर दौड़ो नहीं, भागो नहीं, लौट आओ, आओ मोहन!

यह है रोज-रोज नन्द और यशोदा के पास जोर-जोर से कृष्ण के खिलाफ उलाहने देनेवाली गरूर भरी ग्वालिनों की बोली ! प्रेम के सरोवर से जैसे फव्वारे के जरिए नन्हें-नन्हें ज्योतिःकण निकल रहे हों !

अक्टूबर '३६



ब्राह्मण

अगर जमीन ऊपर उठकर आसमान से नहीं मिल सकती, तो यह भी निश्चय है कि आसमान जमीन की सोंधी महक वाला मुखड़ा चूमने के लिए नीचे नहीं उतर सकता। यों कोई बैठा-ठाला आदमी जमीन-आसमान का कुलावा मिलाया करे।

आज भारतवर्ष की अति पतित जाति का नाम ब्राह्मण है, पर एक समय वैसा भी था जब हमारा देश सस्कृति और सभ्यता के सर्वोत्तम शिखर पर विराजमान था, उस समय यहाँ की यही ब्राह्मण जाति संसार भर के लोगों को सभ्यता और सच्चरित्रता की शिक्षा देती थी। मनु ने लिखा है—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः,
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।'

अर्थात् इसी देश में उत्पन्न ब्राह्मणों के निकट आ-आ कर पृथ्वी के सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।

जो जाति किसी समय सम्पूर्ण विश्व के मानव को शिक्षित सभ्य तथा सदाचारी बनाने की शक्ति रखती थी, आज काल-क्रम से वह इतनी अशिक्षित, असभ्य तथा दुश्चरित्र हो गई है कि उसे सर्वाधिक निम्न क्या, पतित तक कहते कोई कुण्ठित नहीं होता।

पर जिस समय त्याग और तपस्या की मूर्त्ति इस जाति का प्रतापादित्य मध्याह्न की प्रभा में था; सब के उत्तमाङ्ग इसके

पाद-पद्मों का पराग प्राप्त करने के लिए विनय-नत रहते थे आज उस युग की स्मृति का अवशेष मात्र इस भग्न देश में है। फिर भी न जाने क्यों यह कहने की इच्छा होती है कि—

'टूट गई प्याली पर उसकी स्मृति में भी मस्ती है;
इस उजाड़ में भी सुख-दुख की नन्हीं सी वस्ती है।'

हाँ, तो छान्दोग्य-उपनिषद् में उसी समय के एक ब्राह्मण-बालक का उपाख्यान है। उसका नाम था सत्यकाम। और उसकी माता का नाम था जबाला। एक दिन उसने अपनी माता से पूछा कि "मैं किस गोत्र का हूँ? मुझे बतादो, मैं भी अब आश्रम में जाकर ब्रह्म-विद्या (वेद) की शिक्षा ग्रहण करूँगा।"

माता ने कहा—'तात! मुझे तो तुम्हारा गोत्र ज्ञात नहीं। जब तुम उत्पन्न हुए थे—मैं नवयुवती ही थी। दिन-रात अतिथियों-अभ्यागतों के सेवा-कार्य्यों में व्यस्त रहने के कारण उस समय तुम्हारे पिता से मैं उनका गोत्र नहीं पूछ सकी थी। और अब तो वह इस संसार में रहे नहीं। मुझे केवल इतना ही मालूम है कि तुम्हारा नाम सत्यकाम है और मेरा जबाला। इसलिए यदि तुम्हारे आचार्य्य तुमसे गोत्र की जिज्ञासा करें तो उनसे कह देना कि मैं 'जाबाल' हूँ।

बालक गुरु गौतम के पास पहुँच कर माता की कही हुई बातों का अक्षरशः अनुवाद कर गया। सुनकर ऋषि ने समझ लिया कि यह निश्चय ही ब्राह्मण का बालक है। क्योंकि ब्राह्मणेतरों के स्वभाव में इतनी ऋजुता, ऐसी सरलता प्राप्त

होने को नहीं। फलतः उन्होंने उसका उपनयन-संस्कार करने के लिए समिध आदि होम की सामग्रियाँ लाने की तत्क्षण आज्ञा दे दी।

इसी कथानक को कवीन्द्र रवीन्द्र ने काव्य की स्वर्णाभा से विभासित कर अपने सुप्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'चित्रा' में प्रकाशित कराया है। उसका शीर्षक रक्खा है 'ब्राह्मण'। यहाँ उसी की समीक्षा की जाती है।

काव्य के आरम्भ मे सरस्वती के तीर पर बसे हुए गौतम मुनि के सान्ध्य-कालिक प्रशान्त आश्रम का नितान्त सुन्दर वर्णन है। ऋषि शिष्यों को ब्रह्म-विद्या का उपदेश देने जा रहे हैं, इसी समय वह पूर्व-वर्णित बालक सत्यकाम वहाँ पहुँचता है और अपनी ब्रह्म-विद्या सीखने की अभिलाषा प्रकट करता है। ब्रह्मर्षि उससे उसके गोत्र की जिज्ञासा करते हैं। वह कहता है कि उसे गोत्र का ज्ञान नहीं, वह अपनी माता से पूछकर दूसरे दिन फिर आवेगा। माता ने पूछने पर बतलाया कि "मैंने अपनी जवानी में दरिद्रता के कारण बहुतों की परिचर्य्या कर (यौवन-दान देकर ?) तुम्हें पाया है। तुम पतिहीन (विधवा, कुमारी या वाराङ्गना ?) जबाला की गोद में जनमे हो। फिर तुम्हारा गोत्र मैं क्या बताऊँ ?"

दूसरे दिन शिष्य-मण्डली-मण्डित गुरु गौतम के पास आकर बालक सत्यकाम मा का कहा कहता है। सुनते ही जैसे मधुमक्खी के छत्ते पर ढेला फेंक दिया गया हो, सब शिष्य

आश्चर्य्य-चकित होकर आपस में कानाफूसी करने लगते हैं। कोई हँस पड़ता है, कोई उस निर्लज्ज अनार्य्य का अहङ्कार देख धिक्-धिक् कहने लगता है पर इसी समय गौतम ऋषि आसन छोड़, भुजाएँ फैला बालक का आलिङ्गन करते हुए कहते हैं कि 'तुम अब्राह्मण नहीं, सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हो—सत्य-कुलोत्पन्न हो!'

मैंने पहले शङ्कराचार्य्य के भाष्य समेत उपनिषद् के इस उपाख्यान का सारांश लिख दिया है। रवीन्द्रनाथ के 'ब्राह्मण' का संक्षिप्त सार उपरिलिखित है। अब पाठक दोनों के विरुद्ध दृष्टिकोणों का सूक्ष्मता से अवलोकन करें।

उपनिषद् की जबाला का कहना है कि जब सत्यकाम उत्पन्न हुआ था, वह युवती थी, अतिथि-सत्कार में निरन्तर व्यस्त भी रहती थी—सोचा था गोत्रादि के बारे में फिर कभी पति से पूछ लेगी (यौवन के प्रथम-प्रहर में अपने प्रियतम के पूर्वजों के नाम या गोत्र की स्वभावतः ही जिज्ञासा नहीं हुई होगी) पर इसी बीच वह विधवा हो गई।

कविता में कहा जाता है कि उसने जवानी बेचकर बच्चे को पाया है। उसे बहुतों की 'परिचर्य्या' (!) करनी पड़ी है, पता नहीं, सत्यकाम किसका पुत्र है! सुस्पष्ट शब्दों में सत्यकाम ब्राह्मण तो क्या साक्षात् वर्णसङ्कर है। इसीलिए शिष्य-गण छी-छी कह उठते हैं। पर ऋषि उसकी सत्यवादिता पर प्रसन्न होकर उसे 'सत्यकुलजात' कहते और गले लगाते हैं।

इस प्रकार सम्भवतः रवि बाबू ने यह दिखलाने की चेष्टा

की है कि वैदिक-काल में भी ऐसे उदारचित्त ऋषि-महर्षि थे, जो एक विधवा या वेश्याकल्प स्त्री की वर्णसङ्कर सन्तान को— अज्ञात कुल-गोत्र बालक को केवल सत्याचरण के कारण ब्राह्मण कह कर ब्रह्मविद्या का उपदेश देते, गले लगाते नहीं सकुचाते थे। पर देखो, आज समाज में ब्राह्मणों ने कैसी ढोंग फैला रक्खी है ? 'जात्या ब्राह्मणत्व'के नारे लगाते हैं मूर्ख ! दूसरे शब्दों में शबरी के जूठे बेर खाकर तथा केवट को गले लगाकर जैसे भगवान् रामचन्द्र ने अछूतोद्धार का आदर्श उपस्थित किया था, उसी प्रकार इन गौतम ऋषि ने भी एक शूद्र से भी गए-बीते बालक को ब्रह्म-विद्या (वेद) बताकर अनुपम आदर्श समाज के सामने रक्खा। 'कर्मणा वर्ण-परिवर्त्तन' की कामना रखने वालों के लिए रविबाबू भी मानो इस काव्य के द्वारा एक आदर्श रख रहे हैं।

२

जिस प्रकार आज कल बात-बात में मौलिकता की दुहाई दी जाती है, उसी प्रकार एक पूर्वकालिक प्रथा अपने अभिनव विचार को प्राचीन सिद्ध करने की है। ध्वन्यालोककार ने काव्य में सर्वश्रेष्ठ माने जानेवाले अपने ध्वनिमत का प्रतिपादन करते समय उसे प्राचीन से प्राचीनतर सिद्ध कर दिया है। जैसे आज मौलिकता के बिना श्रेष्ठता या प्रतिष्ठा की दुंदुभि नहीं बजती, उसी प्रकार पहले अपने मौलिक विचार को परम्परागत, लोक-वेद–प्रसिद्ध सिद्ध किए बिना काम नहीं चलता था।

कोई उसकी इज्जत या परवा ही नहीं करता था। मौलिकता का अर्थ व्यक्तिगत विचार समझा जाता था। रविबाबू ने भी अपने मौलिक मनोभाव को उस उपनिषद् के कथानक का हवाला देकर प्राचीन ही नहीं--बिलकुल वैदिक बना दिया है। जो अत्यन्त स्वतन्त्र, वैयक्तिक (personal) तथा अतिरञ्जनपूर्ण काव्यजन्य मनोरञ्जन मात्र के लिए उपयुक्त है। मेरे विचार से वेद का ऐसा मनमाना मतलब निकालना महज मजाक है। हालाँकि ब्राह्मण वर्ण ही की भाँति वेदों की भी इन दिनों बड़ी दुर्दशा हुई है।

अस्तु। संक्षेप में उपनिषद् तथा रवीन्द्रनाथ के भावों में यही मौलिक विभेद दृष्टिगत होता है कि रवीन्द्रनाथ के सत्यकाम को सत्यवादी ही होने के कारण गौतम ऋषि ब्राह्मण कह देते हैं, किन्तु उपनिषद् के सत्यकाम की सत्यवादिता से प्रसन्न हो कर ऋषि विचार करते हैं कि ब्राह्मण हुए बगैर कोई भी इतना सरल-स्वभाव तथा स्पष्टवक्ता नहीं हो सकता। अब यह समझना होगा कि सत्यवादी होने के कारण ब्राह्मण होना और ब्राह्मण होने के कारण सत्यवादी होना—यह दोनों दो बातें हैं। उपनिषद् के अनुसार ब्राह्मण होने के कारण ऋजु-स्वभाव, सत्य-प्रकृति, स्पष्टवादी होना यह बतलाता है कि ब्राह्मण में जहाँ त्याग, तपस्या आदि अनेकानेक अपनी जातीय विशेषताएँ रहती हैं, वहाँ उसमें सत्यवादिता भी सत्यकाम की कोटि की होती है। केवल सत्यवादी ही होने के कारण कोई ब्राह्मण नहीं

कहला सकता। इसीलिए महाराज हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर आदि सत्यावतार होने पर भी राजर्षि ही कहलाए, ब्रह्मर्षि नहीं।

"धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो महद्बलम्"

माननेवाले विश्वामित्र ने राजर्षि से ब्रह्मर्षि बनने केलिए न जाने कितनी कठिन तपश्चर्य्या की। अर्थात् ब्राह्मण होने के लिए ब्राह्मण-वंश में उत्पत्ति और उसके आदर्श का पालन, दोनों ही आवश्यक हैं। केवल कर्मणा नहीं, जात्या ब्राह्मणत्व की भी अपेक्षा होती है।

"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते"

का अर्थ यह नहीं कि सिंह और शृगाल का बच्चा एक ही कुल का मान लिया जाय।

किन्तु रवीन्द्रनाथ के काव्य में एक 'वर्ण-संकर' (जैसा कि बेचारा ब्राह्मण-बालक सत्यकाम वहाँ चित्रित हुआ है) भी केवल निश्छल सत्य बोलने के कारण ही ब्राह्मण बना लिया गया है। मानो ब्राह्मसमाज या आर्य्यसमाज ने कृपा कर उसे शुद्ध कर लिया है। पर सत्यकाम को जैसी बचपन की निर्दोषता (Inno cence) के कारण रविबाबू ब्राह्मण बना लेते हैं उससे तो विश्व का प्रत्येक बालक ब्राह्मण कहा जा सकता है।

उपनिषद् के लिए ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती। कारण, वहाँ सत्यवादिता ही को ब्राह्मणत्व नहीं बताया गया है। वहाँ के सत्यकाम को ऋषि के द्वारा गोत्र-ज्ञान की प्रेरणा नहीं मिलती। वह स्वयं अपने को ब्राह्मण समझ कर ही जैसे,

वेद पढ़ने की अभिलाषा से माता से अपना गोत्र पूछता है। वह बिलकुल अज्ञान बालक नहीं, वह जानता है कि बिना गोत्र जाने ऋषि के समक्ष ब्रह्म-विद्याऽध्ययनार्थ नहीं जाया जा सकता। उसकी माता की सत्यवादिता उसे निर्भीकता से आश्रम में पहुँचा देती है। वह सब सुना जाता है। तब ऋषि कहते हैं—

"नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति"

ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी में ऐसी स्पष्टवादिता का साहस नहीं हो सकता।

"समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति"

फिर आदेश देते है कि जाओ सौम्य! हवन के लिए समिध ले आओ, तुम सत्य से—जो कि ब्राह्मण जाति का विशिष्ट धर्म है, विचलित नहीं हुए—इसलिए मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार करूँगा। अर्थात् यदि उसकी मा चाहती तो झूठ-मूठ उसे किसी गोत्र का नाम बता दे सकती थी, या मा के गोत्र-विषयक अज्ञान से ऊब कर वह स्वयं भी चाहता तो किसी गोत्र का नाम ले सकता था। पर उसने मिथ्या को प्रश्रय न देकर अपना सत्यकाम नाम सार्थक कर दिया। जो आरम्भ ही में झूठ बोलकर ब्रह्म-विद्या सीखने का आडम्बर करेगा, उसे ब्रह्म-विद्या का क्या खाक ज्ञान होगा? ऋषि की प्रसन्नता का कारण यही प्रतीत होता है। इस भाव को 'विधवा-विवाह' या 'अछूतोद्धार' जैसा रूप देना निरर्थक लगता है। वैसे रविबाबू

के अनुसार अर्थ करने से काव्य-वीणा में मधुर झङ्कार आगई है, सत्य—नग्न सत्य का सूक्ष्म-सौन्दर्य्यमय महत्त्व कवितोद्यान में वसन्त की विभा लानेवाला हो गया है। पर इसीलिए उपनिषद् या शङ्कराचार्य्य का अपमान नहीं किया जा सकता। इससे तो अच्छा था कि एक नया कथानक गढ़कर (जैसे कि 'एक फूल की चाह' के द्वारा बाबू सियारामशरण गुप्त ने अछूतों के मन्दिर-प्रवेश के लिए सहृदयों की सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा की है) इस भाव को पल्लवित-पुष्पित किया जाता। लेकिन हाँ, तब छान्दोग्य उपनिषद् का नाम लेकर इस भाव को प्राचीन सिद्ध करने का अवसर नहीं मिलता। मुझे उपनिषद् के ऐसे अप्रामाणिक अर्थ से ही शिकायत है,काव्यगत भाव के सफल प्रभाव से नहीं। परकीया का प्रेम अधिक आकर्षक होता है, इसीलिए काव्य में सती या सीता को भी परकीया चित्रित करने का प्रयास अवश्य व्यर्थ तथा सदोष सिद्ध होगा।

मेरे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सर्व-वर्ण-सम्मेलन या जात-पाँत-तोड़क-मण्डल के इस परमहंस-युग में—

"प्राप्ते तु भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजोत्तमाः"

सब वर्ण ब्राह्मण न माने जायँ, या विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम स्वरूप साहित्य के द्वारा इतने उदार-उदात्त भावों का विस्तार-प्रचार नहीं किया जाय। किन्तु कम से कम विद्वज्जन आर्य्य-संस्कृति के प्राणभूत वेदों के साथ मनमानी न करें, मेरा इतना ही निवेदन है। मैक्समुलर की भाषा में वेदों का मर्म

समझने से भ्रान्ति की अधिक सम्भावना है। निःसन्देह 'ब्राह्मण' कविता वैदिक-संस्कृति की अनुवर्त्तिता नहीं कर रही। 'ब्रह्मसूत्र' के 'अपशूद्राधिकरण' में व्यास और भाष्यकार ने साफ शब्दों में कहा है कि—

"श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्, स्मृतेश्च"

शूद्र के लिए वेद-श्रवण, वेदाध्ययन, वेदार्थज्ञान और तदनुसार आचार—आदि निषिद्ध है। वैसे तो इतिहास, पुराणों के द्वारा तद्विषयक विचारों को सुनाने का शास्त्रीय आदेश भी है

"श्रावयेच्चतुरो वर्णान्"

इसीलिए शङ्कराचार्य्य ने सुस्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

"वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणाम्"

केवल वेद द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार शूद्र को नहीं है। यह बात भी अभिमान से नहीं कही गई है। समाज की सुव्यवस्था के लिए, वर्णाश्रम धर्म्म का सम्यक् रूप से परिपालन करने के लिए स्वयं ईश्वरकृत यह प्रविभाग है। भगवान् ने गीता में कहा है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"

प्रत्येक के लिए पृथक-पृथक गुण और कर्म्मों का सम्यक् विभाजन करते हुए स्वयं मैंने वैज्ञानिक रीति से, बहुत सोच विचार कर चतुर्वर्ण की व्यवस्था की है। वेद में—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"

के रूपक द्वारा, सिर से पैर तक दुरुस्त, शृङ्खलित समाज का संगठन ही बताया गया है। वह इसी नियम का

शृङ्खला का फल था कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को सचाई से पूरा करता था और सर्वत्र सुख शान्ति का साम्राज्य फैला हुआ था। आज सर्व-वर्ण-समन्वय, या वर्णसाङ्कर्य्य का ही यह कुप्रभाव है कि सारा भारतवर्ष दुःख-दारिद्र्य में पड़ा 'त्राहित्राहि' कर रहा है। सब के सब—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

को भूल गए हैं। अस्तु। जिस कार्य्य को स्वयं भगवान् ने किया (मया सृष्टम्) था, आज उसे किसी भी समाज - विशेष का सदस्य कर सकने का दंभ दरसाता है।

इसी अनधिकार के कारण परम कारुणिक भगवान् श्री रामचन्द्र जी को तपस्या करते हुए शूद्र शम्बूक का वध करना पड़ा था। शम्बूक निश्छल तपस्वी था सही पर उसे तपस्या करने का जन्मना अधिकार नहीं था। उसने जो ज्यादती की थी उसे उसका दण्ड भोगना ही पड़ा था।

और शूद्रजाति में जो आत्म-ज्ञानी हुए हैं, उन्हें किसी आश्रम में वेदविद् ब्राह्मण के निकट जाने की आवश्यकता नहीं हुई थी। यहाँ उदाहरण में उनके नाम गिनाना अप्राकरणिक तथा व्यर्थ होगा।

जहाँ शूद्र की यह दशा है, वहाँ उस वर्णसङ्कर बालक को ब्राह्मण बनाने की प्रक्रिया तो निर्मूल तथा गलत ही होगी। रविबाबू ने वैसा ही किया है।

इसी भाँति 'तत्वदर्शी' डाक्टर भगवान् दास ने भी अपने 'समन्वय' में श्रुति-स्मृति-पुराणों के उद्धरणों का अपने कथन के समर्थन के अनुसार अनेकशः अभिप्राय निकाल लिया है। एक उद्धरण अप्रासङ्गिक न होगा।

उनके हृदय में सकल दर्शनों का निर्मल तत्त्व जब— 'अहम् एतत् न' के रूप में उदित हुआ, तो उन्हें इसका पुष्टि-कारक प्रमाण भी 'प्रणववाद' नामक एक अद्भुत-ग्रन्थ में प्राप्त हो गया। और यहाँ तक कि सभी शास्त्र एक स्वर से उन्हें—'अहम् एतत् न' कहते नजर आने लगे। इसी प्रसङ्ग में अनेक उद्धरणों के साथ 'विष्णुपुराण' का यह एक श्लोक भी उन्होंने लिखा है—

"अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत् ततः कारणकार्य्यजातम्
ईदृङ् मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति।"

इस पद्य के पूर्वार्द्ध से 'अहम्' 'इदं' (एतत्) 'न' यह तीन पद पृथक् कर उन्होंने इसे अपने 'तत्व' का समर्थक सिद्ध किया है। साथ ही यह लिख देने की भी कृपा की है कि इसका अन्य अर्थ भी हो सकता है किन्तु उससे उनका अभिमत नहीं सिद्ध होता।

तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि अपने अभिमत की सिद्धि के लिए शास्त्र का अर्थ जैसा चाहे वैसा किया जा सकता है! पर इस अतत्वदर्शी अल्पज्ञ का धृष्टताजन्य अपराध

क्षम्य हो,—इस श्लोक का 'अन्य अर्थ भी नहीं', अन्य अर्थ ही है। इसमें कहा गया है कि जिसके मन में ऐसी भावना उदित हो जाय कि 'मैं हरि हूँ, सकल-चराचर ,दृश्यमान विश्व-मात्र हरि ही है, हरि से अतिरिक्त और कोई भी (कारण-कार्य्य) नहीं है' तो फिर वह सुख-दुःखादि द्वन्द्व से परे हो जाता है।

यह भाव भी उपनिषद् के इन मंत्रों—

"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।"

—ईशावास्य ६।७।

का अनुवादमात्र ही है। इसका अर्थ किसी भी प्रकार "अहम् एतत् न" नहीं हो सकता। प्रत्युत उस विष्णु-पुराण में (सकलमिदमहम् च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः) "यह सकल प्रपञ्च, मैं और वासुदेव सब एक ही हैं," इसी भावना के अनुशीलन का उपदेश दिया गया है।

यदि इतने बड़े-बड़े विद्वान लोग ऋषि महर्षियों की वाणी को आप्त नहीं मानेंगे तो फिर ऐसी आशा कैसे की जा सकती है कि उनकी कही हुई बातें हमलोगों के लिए मान्य ही होंगी? क्योंकि न्याय है कि—

'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते"

* * *

"महाजनो येन गतः स पन्थाः ।"

३

उपनिषद् के "वह्वहं परिचरन्ती" (जिसका अर्थ शङ्कराचार्य्य ने "अनिश अतिथि-सत्कार आदि" किया है) को रविबाबू ने—

"यौवने दारिद्र्यदुखे
वहु-परिचर्य्या करि' पेयेछिनु तोरे
जन्मेछिस् भर्तृ-हीना जवालार क्रोड़े ।"

के रूप में परिवर्तित कर दिया है। उपनिषद् में 'वहु' क्रिया-विशेषण है, जिससे उसका अर्थ निकलता है, बहुत सेवा करते रहने के कारण। किन्तु कविता में उसका प्रयोग वैसा नहीं है। वहाँ (वह्वी चासौ परिचर्य्या चेति) कर्मधारय नहीं, (वहूना परिचर्य्या) तत्पुरुष समास है, जिसके 'कदर्थ' की पुष्टि में 'दारिद्र्यदुखे' एवं 'भर्तृहीना' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु यदि वह वनवासिनी तपस्विनी नारी थी तो यह समझ में नहीं आता कि उसे तपोवन में इस प्रकार 'बहु-परिचर्य्या' का सुअवसर कैसे प्राप्त हो गया? कैसे थे पतित उस तपोवन के तेजस्वी तपस्वी? और सचमुच ही यदि वह ब्राह्मणी थी—जैसा कि गोत्र-विषयक प्रश्न से अनुमान किया जा सकता है, तब तो और भी ग्रन्थि उलझ जायगी।

ब्राह्मण तो जन्मजात दरिद्र होता ही था। फिर भी भौतिक-सम्पत्ति से उसे कितनी वितृष्णा होती थी इसे कालिदास ने एक ही पद्य से दरसा दिया है।

"गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ।

[यति ब्राह्मण के लिए अन्नमय यज्ञ, अश्वमेध, गोमेध इसी आर्थिक दरिद्रता के कारण अनावश्यक समझा गया है। गीता में—

"द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः"

इसी भाव का द्योतक है।] ४ अध्याय।२८।२९।३०

दरिद्रतावश उसी जाति की नारी से ऐसे कुकर्म की आशा उस जमाने में कैसे की जा सकती थी ?

हाँ तो—इस कविता में और कई बातें भी इसी प्रकार अस्वाभाविक हो गई हैं। मैं एक उदाहरण दे कर इस अप्रिय प्रसंग से विराम ग्रहण करूँगा।

सन्ध्या-समय जब सत्यकाम आश्रम में आता है, आश्रम के सभी ब्रह्मचारी सान्ध्य-स्नान समाप्त कर, होमाग्नि के आलोक में गौतम ऋषि के कुटीर का प्राङ्गण घेरकर आसनोपविष्ट दृष्ट होते हैं। शिष्य-गण से फिर एकाएक प्रशान्त आश्रम चकित हो उठता है जब महर्षि गौतम उन्हें ब्रह्म-विद्या का श्रवण करने के लिए सावधान होने की आज्ञा देते हैं। यहाँ वक्तव्य यह है कि इस प्रकार 'वत्सगण, ब्रह्मविद्या कहि, करो अवधान' कह कर ब्रह्मविद्या बतलाने का विधान नहीं किया गया है।

ब्रह्मविद्या (अध्यात्मविद्या) राजा भोज की कहानी नहीं कि उसे शिष्य की आग्रहपूर्ण जिज्ञासा या पात्रापात्र, योग्यायोग्य का विवेक किए विना ही बतला दिया जाय। पुनश्च 'ब्रह्मविद्या' से जो प्रचलित अर्थ 'वेद' वैसे स्थान पर समझा जा सकता है उसका अध्यापन सन्ध्या-समय नहीं हुआ करता। फलतः वह अस्वाभाविक वर्णन ही कहा जायगा।

रवि बाबू ने अपनी अधिकांश अन्य रचनाओं में ऐसी निर्दोष सुषमा, इतनी सरस स्वाभाविकता दिखलाई है कि उनके समक्ष इसे सदोष तथा अस्वाभाविक कहने की धृष्टता की जा सकती है।

यों मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'द्वापर' में—"तत्रैका विधृता भर्त्रा, भगवन्तं यथाश्रुतम्, हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्।"—वाली यज्ञपत्नी के मरण से अशरण, निरुपाय होकर जिस प्रकार 'ग्वालबाल' के द्वारा उस ऋषि को यह ऐसी गालियाँ सुनवाकर कृतकृत्यता का अनुभव किया है:-

हाय! एक द्विज ने 'दानव बन'
निज देवी को धर लिया;
क्या 'चाण्डाल' रूप धारण कर
कुछ न हमें देने दिया।

या, अपनी सुविख्यात 'पञ्चवटी' में—

"कुण्डलेनैव जानामि नैव जानामि कङ्कणे
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।"

कहनेवाले भक्तप्रवर लक्ष्मण से जगज्जननी सीता माता के द्वारा जो 'आदर्श' परिहास करवाया है, कि शूर्पणखा

'देने ही आई है तुमको निज सर्वस्व बिना संकोच।
'देने में' कार्पण्य तुम्हें हो, तो 'लेने में' है क्या सोच?'

उसकी तुलना में तो 'ब्राह्मण' ब्राह्मण है ही।

नवम्बर '३६



कवीन्द्र रवीन्द्र की उपेक्षिता

अधिकार का दुरुपयोग विश्वकवि ने अन्यान्य कृतियों के मुकाबले निबन्ध-बन्धन में कुछ कम नहीं किया है। यह हमारी ही गलती है कि हम चाँद की केवल चाँदनी देखकर बावले होते, अपनी निरीक्षण-शक्ति को कम या एकमुखी बनाते, और अपने को उत्कृष्ट-निरीक्षक या गुण-पक्षपाती बताते जाते हैं। विश्वकवि की भाषा का बहाव और अद्भुत भावभङ्गिमाएँ देखकर हम उन्हीं के प्रभाव से दब जाते हैं, विषयों का प्रभाव हम पर कम पड़ता है, हम मुग्ध हो जाते हैं, सचमुच यह हमारी मुग्धता है। विचार करने पर उनकी युक्तियाँ हमें काफी लचर जँचती हैं। हमें केवल रूप-रंग पर रीझना नहीं, और कभी दर्शन और कभी वेदोपनिषदों के बेढंगे-बेसुरे आलापों से विषय को बलात् गम्भीर नहीं, अपितु जटिल-दुरूह बनाने की चेष्टाओं पर खीझना भी नहीं, हमें मालूम है विषय स्वयं गम्भीर होते हैं, इसलिए यहाँ हमें सिर्फ उनके विचारों का मनन-मन्थन कर अपने विचारों को प्रौढ़ तथा प्राञ्जल बनाने का प्रयत्न करना है।

'काव्य की उपेक्षिता' विश्वकवि का एक अनुपेक्षित निबन्ध है, अब मैं भी उसकी उपेक्षा करने के पक्ष में नहीं हूँ। मैंने देखा, उससे प्रभावित होकर अनेक 'निरङ्कुश' कवियों ने अपनी सहृदयता-मन्दाकिनी में उन चिरन्तन कवियों की संकुचित दृष्टि-

ज्वाला से अधजली चिरतप्ता देवियों को शिशिरावगाहन-पुण्याभिषेक का सुअवसर दिया और देते जा रहे हैं। पर, मुझे आश्चर्य तब होता है जब देखता हूँ, उस अर्द्ध-स्फुरित, मुकुलित-दशा में जैसी सुरभि, जितनी मादकता और जो जीवन था उनके चित्रण-संकेत में, जिसकी अमिट छाप आप मेरे उर पर अङ्कित है, उसका लेश-विशेष भी इन वृथा विस्तृतियों में नहीं, जैसे शव की अर्चना की गई हो; मृन्मयी मूर्ति को जड़ाऊ गहने पहनाए गए हों; जुही के हार के भ्रम में, मालती-मालिका की शङ्का से ब्रह्म-बालिका के पृथु हृदय पर सुबासित कागजी कतरन समर्पित की गई हो। मेरा इशारा 'साकेत' की ऊर्म्मिला की ओर है।

सुप्रसिद्ध रामचरित्र का जैसा भ्रष्ट रूप साकेत में देखने को मिलता है, वैसा और कहीं नहीं। रामचरितमानस की वर्त्तमानावस्था में हिन्दी में रामचरित के अब वैसे ही रूप मिल भी सकते हैं। उसके कथानक को पढ़-पढ़ कर हँसी रोकना मुश्किल है। उसकी सीता जैसे देश के लिए कारागार में जाकर सुखी रहने वाली नायिका हैं—राष्ट्रसेविका, गाँधीवादी आन्दोलन के समय की। (वह जैसे 'राष्ट्रिय वन्य-नारी-सम्मेलन' में अध्यक्षा के पद से अपनी असंस्कृत, दलित बहनों को संबोधित कर कुछेक प्रगतिशील कवियों की भाँति नकली स्वर से पद्यबद्ध भाषण कर रही हों:—

"ओ भोली कोल-किरात-भिल्ल बालाओ,
मैं आप तुम्हारे यहाँ आगई, आओ,

मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ ,
सब ओर लाभ ही लाभ बोध-विनिमय में,
उत्साह मुझे है विविध-वृत्त-संचय में,
तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में !"

(यह सब क्या है ? उनकी अर्धनग्नता तो दरिद्रता-जन्य नहीं । वह मिल-मजदूरिनें नहीं, तापस-बालाओं-सी वल्कल-वसना हैं ।) बुद्धि को तिलाञ्जलि देकर यहाँ ऐसा भी तर्क किया जा सकता है कि सामयिक रचना होने के कारण उसकी सामयिक वर्णना अखरती क्यों है ? पर पौराणिक कथानक को पौराणिक, प्रामाणिक रूप में उतारना ही बुद्धिमत्ता है, अन्यथा सामयिक कथानक को ही अपनाना श्रेयस्कर होगा । कवीन्द्र-रवीन्द्र की रवि-प्रसूति से भी ऊपर पहुँचनेवाली प्रखर-प्रतिभा के प्रकाश में संस्कृत-साहित्य की सर्वाधिक उपेक्षिता म्लानमुखी ऊर्म्मिला दिखी । उनके विनम्र कवि-शब्दों में कवि-गुरु वाल्मीकि ने जहाँ उर्म्मिला के प्रति अनेक अविचार के काम किए हैं, वहाँ उनके भाग्य से ऊर्म्मिला का नाम माण्डवी या श्रुतकीर्त्ति न रखकर उन्होंने उनके विचार-पट पर अपनी कवि-गुरु की छाप अमिट रक्खी है । रवीन्द्रनाथ इस नाम मात्र के लिए वाल्मीकि के कृतज्ञ हैं, अहो भाग्य वाल्मीकि का !

हाँ, तो ऊर्म्मिला की इतनी जबर्दस्त उपेक्षा का एक प्रधान कारण विश्वकवि ने यह बतलाया है कि संस्कृत-काव्यों में

वैसा मधुर नाम कोई दूसरा नहीं है ! अवश्य नहीं है, दमयन्ती प्रियंवदा शकुन्तला प्रभृति नामों के सुनते समय कान के पर्दे फटने लगते हैं। 'ऊ' जैसे हारमोनियम के तीसरे सप्तक के कोमल स्वर के बाद रेफ का आना उर-उरमें मधुरता का खाका खींच जाता है, फिर डबल मकार के उच्चारण के समय ओष्ठ-संघर्ष से अधर माधुरी की स्मृति बिना आए रह नहीं सकती, और 'ला' कहते समय 'ऊर्म्मि' के दन्तक्षतजन्य 'सी' का आनन्द आता है, सचमुच ऊर्म्मिला मधु-मधुर नाम है। पर देखना तो यह है कि मधुरता के कारण सम्मानातिशय की सम्भावना ही अधिक हो सकती है, जैसे फलों में अंगूर सर्वाधिक मधुर होने के कारण बहुमूल्य है; कोयल की बोली सब चिड़ियों से ज्यादा मीठी होने की वजह से सब से ज्यादा तारीफें पाती है। और, उस रीति से ऊर्म्मिला सभी की एकमात्र प्रीतिपात्र बन जाती, यह उचित था। पर आपकी वितण्डा में तो विपरीत ही तर्क उठाया गया है ! इसके सम्बन्ध में मेरा यही निवेदन है कि रामचरित्र के साथ अगर उसका कोई सम्बन्ध होता तो उसी के लिए लिखी हुई रामायण में ऊर्म्मिला ऊर्म्मि की तरह उठते ही नहीं बैठ जाती, स्वागत के सुअवसर पर उसकी विदाई का राग कभी नहीं अलापा जाता, हमें वाल्मीकि की सूक्ष्मदर्शिता पर चिर-विश्वास है। आपके धन्यवाद-प्रदान से रामायण के कथानक की काल्पनिकता की जो गन्ध मिलती है;

दुःख है, हमें उसपर अत्यधिक अश्रद्धा है। हम राम और कृष्ण को राम और कृष्ण की तरह देखते हैं, रामायण या भागवत के 'कथा-नायकों' की तरह नहीं।

शेक्सपियर की तरह आपही नहीं, किन्तु हम भी नाम को नाममात्र माननेवाले नहीं हैं, सचमुच गुलाब की चक्रबद्ध सुरभि, माधुरी और सुषमा की तरह मनुष्य-माधुर्य्य के अनेक सूक्ष्म सुकुमार भाव सुस्पष्ट नहीं हैं, पर आपको यह भी मानना चाहिए कि जिनके नाम देवी-देवताओं या राम-कृष्ण की तरह अनेक नहीं होते, उनके नाम पहले रखे जाते और उनके चरित्र का विकास पीछे हुआ करता है। ऊर्म्मिला का कोई दूसरा भी नाम था, इसका प्रमाण नहीं है, फिर उसकी माधुर्य्याभिव्यक्ति के बहुत पूर्व्व से इसी नाम का होना एकदम स्वाभाविक है, ऐसी दशा में उसके नाम को नाम-मात्र में ग्रहण करना ही अधिक ग्रहणीय होगा। आप व्यास को जरा गौर से देखिए, (कथानक को काल्पनिक मान लेने पर भी) वह द्रौपदी का नाम ऊर्म्मिला नहीं रख सकते थे। (पर द्रौपदी नाम से भी आपकी अभीष्ट दीप्त-ओजस्विता की अपेक्षा राजा द्रुपद का राजकुमारीत्व ही अधिक व्यक्त होता है। अवश्य द्+र का संयोग माधुर्य्याभिव्यक्ति की शक्ति नहीं रखता, पर दीप्त ओजस्विता का भी उसमें लेश नहीं। 'कृष्णा' भी तो द्रौपदी का नाम है, जब इस नाम से कुछ लिखा जायगा तब तो शृङ्गार की मूर्ति ही सामने दीखेगी। केश दिखाकर सन्धि न करने की सलाह

उसकी स्त्रीमर्यादित बुद्धि के भीतर और स्वाभिमानता की द्योतक मात्र है। सच तो यह है कि द्रौपदी दीप्त ओजस्विनी नारी थी ही नहीं, अश्वत्थामा के द्वारा अपने पाँचों शिशुओं की हत्या होने के पश्चात् प्रतिहिंसा के स्थान पर उसकी अद्वितीय क्षमा मेरी उक्ति की प्रत्यक्ष युक्ति है। अर्जुन नाम में राम नाम की तरह न कोई माङ्गलिक भाव-प्रभाव है, और न भीष्म-द्रोण की तरह उग्र शौर्य्य-वीर्य्य की छाया-रेखा, पर उसकी अद्वितीय धनुर्धारिता त्रिलोकी को अभिज्ञात है; ठीक इसके विपरीत युधिष्ठिर नाम वाले की शान्तिशीलता और धार्मिकता में विश्वास करते हमें उष्ण-उच्छ्वास छोड़ना पड़ता है। 'दुर्योधन' नाम की सार्थकता के लिए 'युधिष्ठिर' का होना निःसंदेह अनिवार्य्य था, पर हमें कभी-कभी नाम को नाम मात्र में ग्रहण करते भी संकोच मालूम नहीं होता।

अब आपके दूसरे विचार पर हमें प्रथम विचार करना है। आपने विवाह के अवसर पर केवल बहू ऊर्म्मिला का मधुर-मुख देखा, बेचारी माण्डवी और श्रुतकीर्त्ति के मुख तब भी आपको अनाकर्षक जँचे, आपको देखने की इच्छा ही न हुई, और आपकी इच्छा ही संसार की उच्च इच्छाओं का मापदण्ड हो सकती है। पर मैं एकबार अपनी इच्छा की उँचाई नाप कर देखूँगा, वह उससे कितनी छोटी है।

भगवान् वशिष्ठ ने विश्वामित्र और शतानन्द के सामने ही प्रपा के मध्य में विधिपूर्वक वेदी बनाई और उसे सुगन्ध-

कुसुमों, सुवर्णपालिकाओं, अंकुरयुक्त चित्रित कुम्भों, साङ्कुर शरावों, अगुरु वर्त्तिकाओं से युक्त धूपपात्रों, शंख-स्रुवा अर्घ्यादि पूजन-पात्रों, तथा लावों से भरे बर्त्तनों, रँगे अक्षतों और कोमल कुशों से सजकर मन्त्रपूर्वक अग्निदेव का आराधन किया, साथ ही होमविधि भी चलती रही। उसी समय महाराज जनक ने सर्वाभरणभूषिता सीता को अग्नि के समक्ष रामाभिमुख कर राम से कहा—

"यह मेरी कन्या सीता है, अब से आपकी सहधर्म्म-चारिणी होकर छाया की तरह आपके पीछे-पीछे चलेगी, आप इसका पाणिग्रहण करें, आपका कल्याण हो", फिर क्रमशः लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न से भी उसी समस्वर से ऊर्म्मिला, माण्डवी तथा श्रुतकीर्त्ति के करग्रहणार्थ निवेदन किया—

एवं दत्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम्,
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः;
लक्ष्मणागच्छ भद्रं ते ऊर्म्मिलामुद्यतां मया,
प्रतीच्छ पाणिं गृह्णीष्व माभूत्कालस्य पर्य्ययः;
तमेवमुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत,
गृहाण पाणिं माण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन
शत्रुघ्नं चापि धर्म्मात्मा अब्रवीन्मिथिलेश्वरः,
श्रुतकीर्त्तेर्महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
सर्व्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः,
पत्नीभिस्सन्तु काकुत्स्था मा भूत्कालस्य पर्ययः।

—वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड ७३ सर्ग २७—३१

फिर मेरी समझ में नहीं आता कि ऊर्म्मिला की तरफ अधिक

आकर्षण का उस समय क्या कारण हो सकता है ? आपने वधूरूप में 'केवल' ऊर्म्मिला को कहाँ देखा, इसका पता लगाना वाल्मीकि रामायण में 'केवल' असंभव है, और रघुकुल के विशाल अंतःपुर में पैठते ही वही अदृश्य हुई ऐसी बात भी नहीं है। मेरे विचार से तो तीनों बहनें सीता में मिलकर 'चतुर्वेणी' हो गई हैं, सिर्फ मिलते वक्त उनके पृथक्-पृथक् दर्शन हो सके, बाद एकाकारता ही रही। जिस प्रकार यमुना सरस्वती के सङ्गमोपरांत भी 'गंगा' गंगा ही कहलाती रही, उनके चरित्र का न उभर पाना भी ठीक वैसा ही है। भवभूति के काव्य में इस विषय की कोई नई कल्पना नहीं है, चित्रदर्शन प्रसङ्ग में विवाह के समय की ऊर्म्मिला की यही तसवीर दिखाई गई है, पर मुझे प्रसन्नता है, माण्डवी और श्रुतकीर्त्ति भी वहाँ ज्यों की त्यों बनी हैं, चारो भाइयों की वैवाहिक दीक्षा का फिल्म तैयार किया गया है।

"एते खलु तत्कालकृतगोदानमङ्गलाश्चत्वारो भ्रातरो विवाह-दीक्षिता यूयम्" "इयमार्य्या, इयमपि आर्य्यामाण्डवी, इयमपि वधूः श्रुत कीर्त्तिः" "वत्स, इयमपरा का ? अये ! ऊर्म्मिलां पृच्छत्यार्य्या। भवतु, अन्यतः सञ्चारयामि" —'उत्तर रामचरित प्रथम अंक'।

आप रामचन्द्र की विचित्र सुख दुःखावलि में बलात् ऊर्म्मिला को क्यों देखना चाहते हैं, इसका रहस्य कल्पनातीत है। हमें महाकाव्यों की विशेषता की बात भलीभाँति मालूम है, हमारे आदर्शनायक भगवान् श्रीरामचन्द्र के उज्ज्वल चरित्र की कौन सी अपूर्णता ऊर्म्मिला के बिना रही जाती है ? उनके

किस चरित्र के साथ ऊर्म्मिला का साथ है ? और उस व्यर्थ की वर्णना से वंचित रखनेवाले वाल्मीकि अन्यायी क्यों हैं, सूक्ष्मदर्शी क्यों नहीं ? मान लें, वाल्मीकि ने कहीं-कहीं ऊर्म्मिला के लिए भी जगह निकाल दी, आप सन्तुष्ट हो गए, पर हम उनका यह पक्षपात सह नहीं सकते, हमारी दृष्टि में माण्डवी ऊर्म्मिला से जरा भी कम नहीं है ।

आपने पुनः पुनः आवृत्ति की है, ऊर्म्मिला सब दिन वधू ही बनी रह गई । क्या आपको रामायण में ऊर्म्मिला के पुत्र रत्नों से भेंट नहीं हुई ?—

(वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड १०२)

क्या आपही के चुने उत्तर रामचरित में वीर बाँका चन्द्रकेतु नहीं चमक रहा है ?

उत्तर रामचरित ४।५।६ अंक ।

फिर अपनी ही जिद क्यों ? क्या वह ऊर्म्मिला के नव सिन्दूर विन्दुवाले वधू-वेश का परिचायक है ?

जिस दिन रामराज्याभिषेक के मङ्गल साधनों का आयोजन करने में अन्तःपुरवासिनी ललनाएँ लगी हुई थीं, उस दिन न केवल ऊर्म्मिला, किन्तु सभी रघुकुलदेवियाँ मङ्गल-रचना में अस्त-व्यस्त रही होंगी, हाँ, घूँघटवाली आपकी सूझ जरूर मार्के की है, हो सकता है ऊर्म्मिला सबों से ज्यादा घूँघट खिसकार आती जाती होंगी, तभी तो आपकी दृष्टि बार-बार उसी की तरफ खिंच जाती है !

और जिस दिन अयोध्या में अँधेरा करके तपस्वियों का-सा वेश बनाए दोनों राजकिशोर सीता को साथ लेकर वनवास के लिए बाहर हुए, उस दिन वधू ऊर्म्मिला राजप्रासाद के किसी एकान्त कक्ष में वृन्तच्युत कुसुमकलिका की भाँति धूल में लोट रही थी; यह आपके अतिरिक्त और कौन जान सकता है ? क्योंकि राजप्रासाद के किसी कक्ष में धूल उड़ना एकदम नामुमकिन है। फिर ऊर्म्मिला के लिए वृन्तच्युत कुसुमकलिकावाली उपमा भी बिलकुल बेढंगी है। कारण, वृन्तच्युत कलिका को फिर वृन्तोत्संग को प्राप्ति की कदापि सम्भावना नहीं, और लक्ष्मणवृन्त का चिर आश्लेष चौदह वर्षों के बाद ऊर्म्मिला को अवश्य प्राप्य है, चन्द्रकेतु उसी प्रेमतरु का मधुर फल है। चौदह वर्षों में उसके कलिकात्व के विनाश की भी कोई आशा नहीं, कारण राम के ग्यारह हजार वर्षों तक राज्य करने की बात उसी रामायण में सुस्पष्ट अंकित है, मुझे तो इस उक्ति पर भी तनिक अश्रद्धा नहीं, पर सामान्य की सहानुभूति प्राप्ति के लिहाज से उसका अर्थ अत्यधिक वर्षों तक तो अवश्य किया जा सकेगा, ऐसी अवस्था में ऊर्म्मिला की अवस्था की व्यवस्था भी सहज ही अनुमेय है। और अगर वह धूल में लोटती भी रही होगी तो आपने यह कैसे समझा कि वह लक्ष्मण के आवश्यक-प्रवास की कहानी सुनकर ही ? जिसकी सास सुमित्रा जैसी त्याग-मूर्त्ति उदार हृदया थी, क्या वह साधारण वीरपत्नी थी ? उसकी आँखों में अपने पति की उस सौहार्द्द-बन्धुस्नेहभावना को देख-

देख कर पावन-प्रेम के, उद्दाम त्याग के आँसू न छलछला गए होंगे ? क्या वह साथ न ले चलने की बात का आन्तरिक-रहस्य समझ कर लक्ष्मण पर और अधिक प्रसन्न न होगी ? क्या वह खुद राम को उतना ही आदरणीय नहीं समझती थी ? और सीता क्या उसकी प्यारी बहन न थीं ?

पुनः राम के वनवास की श्रुतिशंकु कथा सुनकर केवल ऊर्मिला की ही वह दशा न थी, घर भर की, नहीं-नहीं साकेत-मात्र की। फिर आप यह क्या अप्रासङ्गिक, अनावश्यक अमाङ्गलिक वाक्य लिखते हैं—'जो ऋषिकवि क्रौञ्चविरहिणी के वैधव्य दुःख को क्षण भर भी नहीं सह सके, उन्होंने भी उसकी ओर आँख नहीं उठाई।' कैसे उठाते ? आखिर उन्हें वहाँ वैधव्य दुःख-जैसे किसी असाधारण या साधारण दुःख की कल्पना भी हुई होती तब न ? उन्हें मालूम था, लक्ष्मण के विप्रवास से ऊर्म्मिला का मधुर-हृदय पीयूष-स्यन्दन हो रहा था, अलौकिक आनन्द का वन्दनीय मन्दिर हो रहा था। आह वह कितनी सौभाग्यशालिनी है, उसके पति की वहाँ कौन प्रशंसा नहीं कर रहा, सुन-सुन कर उसके मानस को कितना उत्साह, कितना आश्वासन मिल रहा है। यों सबको रोदन-परायण देख, और अकारण, असमय तीनों के वन-गमन की बात से उसकी आँखों में भी गङ्गा उमड़ रही है, इस समय वह सुख-दुःख, त्याग-मोह दोनों का सम्मिश्रण, समन्वय हो रही है। लक्ष्मण ने अपना अस्तित्व राम के लिए एकदम खो दिया था,

यह गौरव कथा भारत में आज भी घर-घर कही जाती है, किन्तु सीता के लिए ऊर्म्मिला का अपना अस्तित्व खोना न संसार में और न काव्य ही में 'घोषित' हो रहा है। ध्वनित अवश्य हो रहा है, ऊर्म्मिला जैसे मधुरपात्र का मधुर चरित्र मधुरध्वनि के लायक ही तो है, संसार के अधिकांश लोग ऊर्म्मिला के नाममात्र से भी अपरिचित हैं, हाँ, उसके आदर्श त्याग की करुण-रागिणी सहृदयों की हृद्वल्लकी पर कभी-कभी अवश्य बज उठती है, इसीलिए घोषणा की जगह मैंने मधुर ध्वनि को दी है। लक्ष्मण ने अपने दोनों देवता सीता-राम के लिए केवल अपने को ही उत्सर्ग किया; और उर्म्मिला ने अपनी अपेक्षा भी अधिक अपने स्वामी को समर्पण किया। काव्य में यह कथा अवश्य लिखी नहीं गई, पर सीता के आँसुओं के जल से ऊर्म्मिला एकदम पुँछ गई, यह कहना भी अनुचित है, कारण, त्यागमय रामचरित्र में चौदह वर्षों तक (उसकी अवस्था के अनुसार) मातृ-पितृकल्प सीताराम के वन्द्य-पादपद्मों में सप्रेम समर्पित पति के लिए थोड़ा-सा त्याग करना नहीं के बराबर है, सच तो यह कि सीता के दुःख पारावार के समक्ष उसकी अश्रु-बूँदें बूँदों से ज्यादा महत्त्व की नहीं हैं।

'लक्ष्मण ने तो बारह वर्ष (चौदह वर्ष क्यों नहीं ?) अपने उपास्य प्रियजनों के प्रिय कार्य करने में बिताये, पर नारी जीवन के ये श्रेष्ठ बारहों (चौदहों) वर्ष ऊर्म्मिला ने कैसे बिताए ?' कैसे बिताए ? क्या उसके निकट प्रिय गुरुजन न थे ? क्या उसे

सेवा कार्य्य के द्वारा पति का अर्द्धांश पूरा करना उचित न था ? क्या उसे तब राग-रंग की चाह हो रही होगी ? सीता और राम वन-वन में भटकते फिरते, और वह लक्ष्मण का कर-किसलय गहे मटकती चलती ? चोरी के बाद राम "हा सीते" कहकर रोते चलते, और उसे घर में लक्ष्मण के साथ आँख-मिचौनी खेलने का शौक होता ?

["हार कर तुम क्या मुझे देते कहो ?
मैं वही दूं, किन्तु कुछ का कुछ न हो"
हाथ लक्ष्मण ने तुरंत बढ़ा दिए,
और, बोले—'एक परिरम्भण प्रिये।'
सिमट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपाङ्ग ही उसने दिया,
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया]

—साकेत

फिर श्रेष्ठजीवन भी कैसे ? अल्हड़ यौवन के ऊषाकाल का रंग चाहे जितना चटकदार हो, पर उसकी श्रेष्ठता किसी को स्वीकृत नहीं। फिर ऊर्म्मिला विलासिनी-नायिका थी, इसका सुबूत मेरे पास नहीं है, वह रघुकुल की मूर्त्त-देवी आदर्शत्यागिनी थी, इसकी कल्पना सभी कर सकते हैं। नाम, यशोलिप्सा तक को तिलाञ्जलि देकर किया गया त्याग गीतोक्त त्याग ही तो है। विश्वास नहीं होता, उस वीराने बन्जर-से साकेत के राजसदन में ऊर्म्मिला ढलती जवानी की चिन्ता से कृशकाय और मिलन की सुहागरात मनाने के लिए आकुलाकुल हो रही

होगी, शायद आप भी इसका प्रमाण न दे सकेंगे। लक्ष्मण के लौटने के बाद आपके कथनानुसार उसके प्रणयालोक-विरहित हृदय में चाहे वह पहली नूतनता न भी रही होगी, पर उसके तपःकृश प्राणों को जैसे अभिवाञ्छित सिद्धि मिली हो; त्याग का सर्वोत्कृष्ट फल प्राप्त हुआ हो; जीवन या सञ्जीवनशक्ति मिली हो, ऐसी नूतनता, ऐसा उत्साह और ऐसा विकासोल्लास अवश्य-अवश्य रहा होगा।

मार्च '३६



साकेत की ऊर्म्मिला

कवीन्द्र-रवीन्द्र के द्वारा उपेक्षिता कही जाने वाली देवियों का अर्द्धस्फुरित चरित्र—चित्रण ही हमारे साहित्य में अधिक सुचारु और भावपूर्ण समझा गया है। उस अर्द्धचित्रण के चन्द्र को आर्य-साहित्य ने अपने शिर पर रक्खा है, भगवान् चन्द्रमौलि की तरह। प्राचीन महाकवियों ने खूब समझ-बूझकर उनके जीवन के उतने ही अंशों को प्रकाश में लाकर उन्हें अमर कर दिया है। जिज्ञासुओं को चिर-प्रणयी बना दिया है। पिहित-सुरभि मुकुल के समान चित्रण कानन में उसकी (अर्द्धचित्रण की) चमक कतई कम आकर्षक नहीं; वस्तुतः उतने से अधिक उनके जीवन की महाकाव्योपयुक्त भावनात्मक पृथक् मौलिक सत्ता है भी नहीं। उन देव कवियों ने अपनी अतिशय संबद्ध (नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षित-मुच्यते) कृतियों में प्रतिपात्र की जीवनचर्य्या लिखना अनावश्यक समझा था। सच तो यह कि आधुनिक महाकवियों की तरह उन्हें किसी प्रकार (अस्सी पौंड के आर्ट पेपर पर छपाकर भी) ग्रन्थों का कलेवर बढ़ाना उद्दिष्ट न था। जिन्हें राम-चरित्र चित्रित करना था, उन्होंने उर्म्मिला का विस्तृत चित्रण अप्रासङ्गिक समझकर ही नहीं, किन्तु अनावश्यक समझकर भी छोड़ दिया। रामचरित्र के साथ लक्ष्मण का जितना घना सम्बन्ध है, सीता-चरित्र के साथ ऊर्म्मिला का उसका अंशमात्र

भी नहीं है। फिर राम और सीता को नायक तथा नायिका बनाकर लिखे जाने वाले महाकाव्य में लक्ष्मण की स्त्री ऊर्म्मिला का विरह वर्णन करना कहाँ का पाण्डित्य होता ?

जिन्हों ने यह दलील पेश की है कि सीता तो पति के साथ चल दी थीं, पर ऊर्म्मिला घर में ही घुलघुलकर मर रही थी, फिर उसका विरह वर्णन सत्य होने के कारण अभिवाञ्छित क्यों नहीं है ? क्या मैं उनसे यह पूछने की धृष्टता कर सकता हूँ कि शतशः प्रार्थना करने पर भी जब राम ने लौटना स्वीकार नहीं किया और भरत जी चौदह वर्षों तक नन्दिग्राम में अविरत तपस्या में निरत रहे, उस समय पतिप्राणा नववधू माण्डवी की भी वही दशा घर में नहीं हुई होगी ? लक्ष्मण राम की सेवा में साक्षात् तत्पर थे, पर भरत को तो वह सौभाग्य भी प्राप्त न था। उनकी मा ने वैसा घोर कर्म कर डाला था जिससे उन्हें लोगों के सामने आँखें उठाते भी लज्जा होती थी। और लक्ष्मण तो सब दिन लोक के प्यारे बने रह गए, राम के साथ रहकर। पर बेचारे भरत पर क्षणभर निरंकुश लोक ने दुर्भावना भी की थी, फिर उनकी (भरत की) मानसिक दशाओं का स्मरण कर नई बहू का क्या हाल होगा ? ऊर्म्मिला को तो इसलिए भी प्रसन्न होना था कि उसे उसके प्राणधन की तारीफें एक स्वर से सुनने का मौका हमेशा मिलता था, पर करुणामयी माण्डवी को क्या अवलम्बन था, 'यही न कि वह कर्कशा सास की पतोहू थी, उसके एकमात्र भरत ने भी कभी

किसी काम में उससे कोई सलाह न ली थी और राम-लक्ष्मण के बराबर प्यार करने के पहले ही ननिहाल चल दिए थे। उसी प्रकार कौशल्या की क्या दशा हुई होगी, जबकि सौत की वजह से उन्हें असमय वैधव्य-दुःख भोगना और उस विपत् के एकमात्र सहारे राम को भी चौदह वर्षों के लिए घोर जङ्गल में भेजना पड़ा था। आह! महाराज जनक की लाड़ली कुसुम सुकुमारी वधू सीता ऊँची नीची पर्वतमालाओं और ऊबड़ खाबड़ कँटीली जमीन में गिरती-पड़ती चढ़ती-उतरती चल रही थीं। उनके कोमल तलवे काँटों से छिद-छिद कर छलनी हो रहे थे, खून का फव्वारा छूटता चलता था। उनकी याद की हजार-हजार सुइयाँ कौशल्या के दिल में एकसाथ चुभोई जा रही थीं। उनका लड़का जङ्गलों में मारा-मारा फिरता और उन्हें राजमहल में कैद कर रक्खा गया था। क्या वह साँझ को चरागाह से लौटी वत्सोत्सुका गाय की तरह रँभाती और मूक करुण पुकार भरी चौदह वर्षों की उतनी लम्बी अवधि का एक-एक छन गिन-गिन कर तड़प-तड़प कर न रही होंगी, फिर उनकी दिनचर्या का वर्णनाभाव क्यों नहीं खटकता? और वह अभिमानिनी कैकेयी? जिसकी वजह से इतनी विपत्तियाँ खड़ी हुईं? हाय! जिसके आदर्श पुत्र ने भी वैसी माता से पैदा होने को कलङ्क माना, सारी प्रजा जिसे नीची निगाह से देख रही थी, क्या न चाहती होगी कि जल्द ही राम घर लौट आवें और उसका कलङ्क धुला सा हो जाय! इतना ही नहीं, विपत्ती प्रधान

ात्रों के विषय की पूर्ण कथाएँ कहने को भी बाकी ही रह गईं। ाब फिर ऊर्म्मिला ही क्यों ? एक-एक की मानसिक परिस्थिति ाथा वाह्य अवस्थाओं की सम्पूर्ण वर्णना न होने के कारण ाभी उपेक्षित हैं ? पर यही विचार पूर्वक देखा जाय तो ्रावश्यकतानुसार सभी के अपेक्षित चरित्र अङ्कित हैं, और ाससे जरा अधिक विस्तृत करने की वहाँ गुञ्जायश नहीं है। ासी लिए प्रबल-प्रतापी होने पर भी प्रतिपक्षी नायक का ्रपकृष्ट चरित्र अङ्कित किया जाता है। यदि कहीं उसके ाभुत्व की कुछ उत्कृष्टताएँ बताई जाती हैं, तो वह सिर्फ सलिए कि उससे चरितनायक की और अधिक उत्कृष्टता सिद्ध ोती है। अर्थात् इतने बड़े पराक्रमी तथा साधनालङ्कृत को ी मेरे नायक ने धर दबाया, बस इतना ही व्यक्त करने ं लिए।

जिस प्रकार किसी मनुष्य के वर्णन की परिपूर्णता के ाए अङ्गप्रत्यङ्ग की वर्णना अपेक्षित होती है, उसी प्रकार ायक के चरित्र की परिपूर्णता के लिए यथायोग्य उसके अङ्गों ्रात्रों) का वर्णन कर दिया जाता है ? पर जिस प्रकार हाथ ानुष्य का अङ्ग ही है, मनुष्य नहीं, उसी प्रकार वह अंग भी ायक नहीं हो सकते। और जिस प्रकार उस हाथ की ारिपूर्ण वर्णना में सम्पूर्ण शक्ति का ह्रास कर देने पर भी ानुष्य का वर्णन नहीं हो सकता, उसी प्रकार उन-उन अङ्गों ी विशद विवेचना से नायक पूर्ण चित्रित नहीं होता। साथ

ही जिस प्रकार उस हाथ का अपेक्षाधिक वर्णन देख सहृदय कह उठता है, 'इसे तो थोड़े में समाप्त करना था जब कि अङ्गों का पूर्ण वर्णन अभी बाकी है।' उसी प्रकार प्रति पात्र के चित्रण की वृथा विशदता सहृदयों को अखरने लगती है यह बेपर की क्यों उड़ाई? क्योंकि साङ्केतिक पात्रों से बहुत अधिक नायक का वर्णन करना अवश्य आवश्यक होता है ऐसी दशा में यथा लिखित रूप में रामायण का कलेवर गधे की सवारी के लायक है, यद्यपि (अपनी विशेषता के कारण) वह विद्वानों के काँधे पर चलती है। फिर उन व्यर्थ वर्णनों को जोड़ देने पर तो वह मूर्खों के मस्तिष्क से भी ज्यादा भारी हो जाती

इसलिए यह कहना कि जो बात बाल्मीकि या तुलसीदास के मस्तिष्क में न आई, वह रवीन्द्र और गुप्त के द्वारा आविष्कृत और परिष्कृत हुई है, सरासर अन्याय है। ऊर्म्मिला का विरहवर्णन रामायण के लिए एकदम अनावश्यक था, इसलिए छोड़ दिया गया। अगर साकेत में उसी की प्रधानता में वैसा लिखा गया है, तो वह ठीक है। उसी प्रकार माण्डवी के लिए भी लिखा जा सकता है, पर इतने ही से वह बाल्मीकि और तुलसी से प्रौढ़मस्तिष्क नहीं कहे जा सकते।

साकेत की ऊर्म्मिला का विरह-वर्णन निरर्थक है: इसका एक मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। बात यह है कि लक्ष्मण जी राम के साथ दास्य भाव से रहे हैं। उन्हें अहर्निश जाग कर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना तथा सांसारिक

विषयवासनाओं से पृथक रहना आवश्यक था, और इसी बल पर वही मेघनाद को मार सकते थे, राम नहीं। क्योंकि राम योगी का वेष धारणकर भी प्रियतमा के पास थे। और थे साहित्यिक, सम्भोगश्रृङ्गारवान्। उसके विरह में वह पागल हो सकते थे, झाड़ी झुरमुटों, पशुपक्षियों और जंगल पहाड़ों से पूछ सकते थे—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी,
तुम देखो सीता मृग नैनी ?

विचारने की बात है, वह योगिनी या तपस्विनी सीता को नहीं ढूँढ़ रहे थे, किन्तु मृग-नयनी को। राम की इसी तड़पन की अभिव्यक्ति सीता के—

तजउँ देह करु वेगि उपाई
दुसह विरह अब सहा न जाई।
पावकमय शशि स्रवत न आगी
मानहुँ मोहि जानि हतभागी।

में हुई है। उसी प्रकार—

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं
निपीय चाम्पेयमधीरया धिया
स धूमकेतुं विपदे वियोगिना
मुदीतमातङ्कितवानशङ्कत।
प्रतिमासमसौ निशापतिः
खग संगच्छति यद्दिनाधिपम्
किमु तीव्रतरैस्ततः करै
र्मम दाहाय स धैर्य्यतस्करैः।

नैषध के १—२ सर्ग में जो नल की मानसिक अवस्था चित्रित हुई है, वह दमयन्ती के विरहवर्णन में—

अतितमां समपादि जडाशयं
स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम्
अजनि पंगुरपाङ्ग निजाङ्गण—
भ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः
स्फुरति हारमणौ मदनोष्मणा
हृदयमप्यनलंकृतमद्य ते
सखि हताऽस्मि तदा यदि हृद्यपि
प्रियतमः स मम व्यवधापितः।

प्रतिफलित हुई है, और ऐसा होना ही आवश्यक था। पर प्रेम जैसा साकेत में चित्रित किया गया है, सांसारिकता से कतई खाली नहीं है। यहाँ मैं पूछना चाहता हूँ, जिसके विरह में ऊर्म्मिला तड़प-तड़प कर रातें बिताती थी, उसके स्वच्छ हृदय पर ऐकान्तिक सत्य प्रणय का कुछ असर पड़ता था या नहीं? यदि नहीं, तब तो वह ऊर्म्मिला का प्रेम कदापि सत्य नहीं हो सकता। और यदि हाँ, तो उस प्रणयरागिनी की मूकमूर्च्छना से लक्ष्मण को उन्मन होना अत्यन्त आवश्यक था। फिर क्षणमात्र की ऊर्म्मिला - विषयक जागी प्रेमभावना, उन्मिषितवासना से लक्ष्मण के दास्यभाव तथा अखण्डव्रत को गहरा धक्का पहुँच सकता था, चिरोन्मनष्कता की तो बात भी क्या की जाय? बाल्मीकि और तुलसी ने इसी मनोवैज्ञानिक असंबद्धता पर तथा व्रतविवेक पर विशेष ध्यान दिया। संस्कृत संस्कृति,

अप्रतिम प्रतिभा और आलोचनात्मक दृष्टि का गहरा परिचय दिया। और, उन्हों ने ऊर्म्मिला का विरह-वर्णन नहीं किया। इसलिए साकेत में ऊर्म्मिला के विरह-वर्णन में कवित्वशक्ति का वृहत् उपयोग करने पर भी लक्ष्मण-चरित्र की कोई विचित्रता या उत्कृष्टता नहीं सिद्ध होती है। और फलतः वह निरर्थक सा है। अगर यहाँ यह कहा जाय कि तड़पती-कलपती ऊर्म्मिला धीमे सुर से यह भी तो कहती थी कि 'तुम व्रती रहो मैं सती रहूँ' तब भी भारतीय सती वियोगिनी का यह एक अत्यन्त साधारण उद्गार समझा जाना चाहिए, इससे जगज्जननी जानकी की अनुजा की कोई विशेषता प्रकट नहीं होती। साथ ही अगर ऊर्म्मिला के चौदह वर्षों तक के रोने कलपने का प्रभाव लक्ष्मण पर नहीं पड़ा होगा तो इस नन्हें से आशीर्वाद (तुम व्रती रहो) का क्यों पड़ा होगा? हाय! क्या माता सीता की बहन अपने सतीत्व पर भी संशयालु हो उठी थी? फिर 'सती रहूँ' में कौन सा गर्व या गौरव था?

मार्च '३६



प्रमीला की कल्पना

सौभाग्यवश जिनकी आँखों की पुतलियाँ उजली पड़ जाती हैं, उन्हें 'स्वच्छ-दृष्टि' समझना गौर करने वाले की बारीकी का एक बड़ा सा नमूना होगा, अभाग्यवश अगर उसकी आँखें भी बारीक, मक्खी से होड़ करने वाली, यानी औरों की निगाह में झटपट न आ सकने वाली न हों! आखिर 'अन्तर्दृष्टि' का और अर्थ ही क्या है, यही न कि उसकी आँखें बाहर नहीं, किन्तु आधुनिक नवयुवकों के नयनों की तरह धँसती-धँसती अनन्त के अन्तराल में अन्तर्धान हो गई हैं?

आए दिन छायावाद के साए में आए, रहस्यवादी कवियों और आलोचकों को, बेचारे प्यारे पाठकों को समझने-समझाने के लिए, ऊपर के दोनों शब्दों (स्वच्छ दृष्टि और अन्तर्दृष्टि) को बार-बार प्रकाश में लाना पड़ता है। कहना पड़ता है, "प्रेमी पाठक 'स्वच्छ-दृष्टि' से हमारे गहन विचारों का अवलोकन और मनन करें; 'अन्तर्दृष्टि' से हमारे अन्तर के एकान्त स्वच्छ कक्ष को प्रत्यक्ष करें।" यानी इनकी स्वच्छदृष्टिता तथा अन्तर्दृष्टिता के प्रमाण में पेश किए गए इन ज्वलन्त अक्षरों में क्षत्व, अविश्वास या हिचक की जरा भी गुञ्जायश नहीं।

जिनके विचारों की कच्ची दीवार में बड़ी-बड़ी दरारें आरपार दीख पड़ती हैं, जिन्हें (दरारों को), 'अन्तर्दृष्टि' होने की

वजह से, देख सकने मे, उन्हें लाचारी महसूस करनी पड़ती है, उन्हीं की आकुल आत्माओं का निःशङ्क अङ्कन ऊपर की पंक्तियों में है। कह नहीं सकता, इस निबन्ध में बँधे मेरे मुक्त विचार उसी श्रेणी में परिगणित हो सकेंगे या नहीं, यद्यपि ये उपरिलिखित दृष्टिद्वय के दायरे के अन्दर भर में कैद होने के हामी नहीं।

प्रमीला माईकेल की कमनीय कल्पना का मनोरम निदर्शन है। अबला का इतना प्रौढ़-रूप साहित्य में एकदम कम अङ्कित किया गया है। राम-भक्ति की छाँह में ऊँघते हुए पाप-ताप-तप्त समाज को, मुमकिन, सीता ही का रुआब लाजवाब जँचे, पर साहित्य के प्रकाश में प्रमीला की उन्मीलित-मूर्त्ति कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। 'मेघनादवध' में रामपक्ष की कापुरुषता चाहे अनभिनन्दनीय हो, पर प्रमीला की प्रतिमा अवन्दनीय नहीं हो सकती। 'कल्याण' के विशेषाङ्क की तरह तुन्दिल; तगड़े, 'नैषध' में, सुप्रसिद्ध कलाकार श्रीहर्ष ने दमयन्ती के प्रस्तर-प्रतिमा-निर्माण में जैसी अजन्ता की कारीगरी दिखलाई है—प्रमीला की झलमलाती तसवीर पर माईकेल की अतुल तूलिका के रंग, वैसे ही, अमल कमल-दल पर वसन्त-प्रभात की स्वर्णिम किरणों के समान असमान मालूम पड़ते हैं।

जिसे बिच्छू की डङ्क का कोई खौफ-खतरा नहीं, वह योगी भी हो सकता है और जादूगर भी। स्वर्णलङ्काऽलङ्कार कर्बुर-वृन्द के व्यक्तित्व के आईने में अपने कवित्व की परिछाई देखने

वाला माईकेल साहित्य युग का कल्कि अवतार नहीं, बल्कि कवित्व ब्रह्म का परिपूर्ण अंशुमय अंश था, उसकी प्रमीला निशाचरीय मनोवृत्ति की प्रौढ़ कल्पना नहीं, पङ्क से उत्पन्न पङ्कज-प्रकृति देवीमूर्त्ति की कोमल कल्पना है; वह कल्पना, जो सचाई का नाज करने वाली महर्षि वाल्मीकि की रामायण, या भक्ति की भव्य भावनाओं से लबालब भरे रामचरित मानस के लिए सम्भव नहीं।

रूप, जो विश्व को रूपवान् बनाता है, स्वयम् अरूप है। प्रेम, जो अमरत्व प्रदान करता है, स्वयं निर्जीव है। और प्रमीला, रूप तथा प्रेम की साक्षात् देवी—राक्षसी है—

"कालनेमी नामे दैत्य विख्यात जगते
सुरारि, तनया तार प्रमीला सुन्दरी।"

कालनेमी, जो देवतों के खिलाफ़ आवाजे कसते रहने और हमेशा की बगावत की वजह से दुनियाँ में काफ़ी मशहूर हो चुका है, की खूबसूरत लड़की, इश्क और नजाकत की नाजुक पुतली नहीं, प्रेम की डगर में रूप के भार से डग भरती नाजनी नहीं—

"महाशक्ति-अंशे, देव, जनम वामार
महाशक्ति-सम तेजः। कार साध्य आंटे
विक्रमे ए दानवीरे?"

महाशक्ति के अंश से पैदा होने वाली और महाशक्ति ही की तरह तेजस्विनी, जिसका मुकाबला करना 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' की कौन कहे, बड़े-बड़ों के लिए भी बड़ा खतरनाक है।

—"दम्भोलि-निक्षेपी
सहस्राक्षे ये हर्यक्ष विमुखे संग्रामे,
से रक्षेन्द्र, राघवेन्द्र, राखे पदतले
विमोहिनी, दिगम्बरी यथा दिगम्बरे।"

लड़ाई में इन्द्र की इज्जत का कचूमर निकालने वाले राक्षसेन्द्र मेघनाद को पैरों तले रखती है, जैसे काली शङ्कर को।

यह है उस वीर-तनया, वीर-पत्नी, वीर-वधू और वीर-बाला का संक्षिप्त परिचय। प्रेम, शौर्य्य और सौन्दर्य्य की गरिमा पतिप्राणा प्रमीला का अपना अनूप रूप। पर स्त्री की कल्पना शौर्य्य से नहीं, प्रेम और सौन्दर्य्य से शुरू होती है। शौर्य्य उसका आहार्य्य गुण है, पर प्रणय की सहजन्मा है वह। उसका गरूर पति है, मजबूत बाजू नहीं। उसका वासन्तिक विकास सतीत्व है, यौवन नहीं। कहना चाहिए, अर्जित शौर्य्य उसके सतीत्व की रक्षा, और संसृति के सकल अन्तरायों पर विजय प्राप्त करते हुए पतिदेव के पावन पाद-पद्मों तक बेरोकटोक पहुँचने देने का मददगार भर है। सती प्रमीला भी ऐसी ही सुशीला है। है कोई हृदय-हीन, ऐसी, "प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता" के सुचारु-विचारों वाली वीर्य्यवती, मेघनाद की परम प्रेयसी प्रमीला को राक्षसी मानने के लिये जिद्द किए बैठा?

शौक के लिए किले के बहुत दूर बाहर प्रमोदवन बना हुआ था। यह लङ्का का स्वर्ग था। अपनी खास-खास सहेलियों के साथ प्रमीला आज यहीं, राह में निगाह गड़ाये बैठी है। उसका शौहर दुश्मनों के सामने जौहर दिखाने

गया हुआ है, इसलिए बहार के न होने से बाग का नक्शा ही बदल गया है। बेचारी बेताब हो रही है—"क्या वजह, वह अब तक लौटे नहीं, क्या लड़ाई में······?"

"प्रमोद-उद्याने काँदे दानव-नन्दिनी
प्रमीला, पति-विरहे कातरा युवती।
अश्रु-आँखि विधुमुखी भ्रमे फूलवने
कभु, व्रज-कुञ्ज-वने, हाय रे येमनि
व्रजबाला, नाहिं हेरि कदम्बेर मूले
पीतधड़ा-पीताम्बरे, अधरे मुरली।
× × ×
चारिदिके सखी-दल यत,
विरस-बदन, मरि, सुन्दरीर शोके!
केनो जाने फूलकुल विरसवदना,
मधुर विरहे यवे तापे वन-स्थली।"

वह सोचती है—"चलते ही वक्त मेरा मन जाने क्यों उन्मन हो रहा था, मैंने कितने कातर शब्दों में अपने विरह की बाबत बातें बताई थीं, पर उन्होंने तो मुसकुरा कर जवाब दे दिया था—'मैं तुम्हें छोड़कर, तुमसे प्रेम सम्बन्ध तोड़कर कहाँ कहीं जा रहा हूँ? मैं अभी-अभी राघव का विनाश कर लौटा आता हूँ—

इन्द्रजिते जिति तुमि सति,
बेधेछ ये दृढ़ बाँधे, के पारे खुलिते
से बाँधे? त्वराय आमि आसिव फिरिया
कल्याणि, समरे नाशि तोमार कल्याणे
राघवे। विदाय एबे देह, विधुमुखि!'

पर इतनी देर हो गई, यह दिन भी बीत चला, उनके लौटने का कोई लक्षण इस क्षण तक नहीं दीख रहा, अब क्या होगा ?

* * * *

रात भी आई, पर मेघनाद न आया ! अब शबे-फ़ुरकत की बेताबी की बारी आई। प्रमीला की प्रेमलीला वृद्धि पर रही। अत्यन्त अधीर हो सखी वासन्ती से कहने लगी, "यह देखो, काल भुजंगिनी के समान मुझे डँसने के लिए काली रात आ पहुँची। सखि, इस भयङ्कर समय में वह कहाँ होंगे ? वह तो तुरत आने के लिए कहकर गये थे, पर इतनी देर हो गई, लौटे नहीं ! मेरी समझ में तो यह बात कतई नहीं आ रही, अगर तुम्हें कुछ मालूम हो तो बताओ।" वासन्ती ने बताया, उसे इस किस्म से घबराने की कोई जरूरत नहीं। वह आते ही होंगे। इसलिए उन्हें विजयोपहार देने के लिए एक फूलहार तैयार करना चाहिए। सब फूल बीनने गईं। गजरा तैयार हो गया। पर पसीने से तर, लड़ाई की बातें बताता हुआ, हौसला पूरा कर मेघनाद विजय-हार पहनने नहीं आया। अब प्रमीला के धैर्य्य का बाँध टूट गया, कलेजे के टुकड़े आँखों की राह पानी-पानी होकर बह निकले। सँभालने की कोशिश करती हुई कुछ डग रपट कर ढ़ेर होती होती बची; और कातरता तथा शौर्य्य का सामञ्जस्य सी करती बोल उठी—

"एई त तुलिनु
फुलराशि ; चिकनिया गाँथिनु, स्वजनि,
फुलमाला ; किन्तु कोथा पाव से चरणे,
पुष्पाञ्जलि दिया याहे चाहि पूजिवारे !
के बाँधिल मृगराज बुझिते ना पारि ।
चल, सखि, लङ्कापुर याई मोरा सवे ।"

"सखियो, फूल तो चुन लिए और गूँथ-गूँथ कर गजरा भी बना डाला, पर उन चरणों का तो कहीं पता ही नहीं जिनकी पूजा कर यह पुष्पाञ्जलि अर्पित करती ! उफ, यह तो मेरी समझ में आता ही नहीं कि किसने सिंह के गले में जंजीर डाल दी ! सखियो, अब चलो, चलें लङ्का की ओर ।"

वासन्ती ने समझाया—"आज तुम लङ्का में किस प्रकार प्रवेश करना चाह रही हो, वहाँ तो राघवीय सेना अलङ्घ्य सागर के समान लहरा रही है । लक्ष-लक्ष रामपक्षीय सिपाही नगर के चारो ओर मँडला रहे हैं, हाथों में अस्त्र-शस्त्र धारण किये, साक्षात् यमराज के समान ।" यह सुन कर प्रमीला तो आग-बबूला हो गई । बोली—"क्या कहती हो, वासन्ति ? जब नदी सिन्धु से मिलने को निकल चलती है तो क्या दुनियाँ वालों में फिर यह ताकत है कि उसके प्रवाह को रोक दें ? मैं 'दानवनन्दिनी' हूँ, 'रक्षःकुल वधू', मेरा श्वसुर 'रावण', और पति 'मेघनाद' है । सुनती हो, मैं उस भिखारी राम से क्योंकर डरने लगी ? आज मैं अपनी भुजाओं के जोर से लङ्का के भीतर पैठूँगी और देखूँगी, किस तरह राम मुझे रोकते हैं ।

"कि कहिलि, वासन्ति ? पर्वत गृह छाड़ि
बाहिराय यवे नदी सिन्धुर उद्देशे,
कार हेन साध्य ये से रोधे तार गति ?
दानव नन्दिनी आमि; रक्षः कुल-बधू;
रावण श्वसुर मम, मेघनाद स्वामी:—
आमि कि डराई, सखि, भिखारी राघवे ?
पशिव लङ्काय आजि निज-भुज-बले;
देखिव केमने मोरे निवारे नृमणि ?"

वामा-दल-बल के साथ प्रमीला चल पड़ी। कुछ देर बाद लङ्का के पच्छिम फाटक पर पहुँची। एक ही साथ सैकड़ों शंख बजाये गये और स्त्रियों ने सैकड़ों धनुष एक ही साथ टंकुन किये। फिर क्या था ?

"काँपिल लङ्का आतंके; काँपिल
मातंगे निषादी; रथे रथी; तुरङ्गमे
सादीवर; सिंहासने राजा; अवरोधे
कुलवधू; विहङ्गम काँपिल कुलाये;
पर्वत-गह्वरे सिंह; बनस्थली बने;
डूबिल अतल जले जलचर यत।"

इस फाटक के पहरेदार हनूमान जी थे। उन्होंने अपने अधिकार के अनुकूल कुछ प्रतिकूल बातें कीं। 'नृमुण्डमालिनी' नामक सखी ने उन्हें गहरी फटकार बताई। आखिर रामके कानों तक प्रमीला की कामना पहुँची। उन्होंने उसके सती-भाव पर प्रमोद और विस्मय प्रकट करते हुए लङ्का-प्रवेश की अनुमति दे दी। नृमुण्डमालिनी ने दैन्य-भाव से प्रमीला की याचना राम के सामने नहीं बताई थी, साफ-साफ कहा था—

'हम हमेशा लड़ने को तैयार हैं, बाजू के जोर से लङ्का में पैठना है हमें।' पर राम ने लड़ने का नाम तक न लिया। हनुमान रास्ता दिखाने के लिए चले, तो प्रमीला के मुँह से उग्र शौर्य्य-वीर्य्य की स्वर्ण वर्णावली निकली—

"रघुवर पति-वैरी मम ;
किन्तु ता बलिया आमि कभू ना विवादि
ताँर संगे। पति मम वीरेन्द्र-केशरी ;
निज-भुज-बले तिनि भुवन विजयी ;
कि काज आमार यूझि ताँर रिपु सह ?"

"मुझे मालूम है कि राम मेरे पतिदेव के विरोधी हैं, फिर भी मुझे उनके साथ छेड़खानी करने की तबीयत नहीं होती, कारण, मेरे पति वीरेन्द्र-केसरी हैं, वे अपनी ही भुजाओं के बल से भुवन-विजयी हैं, मुझे उनके वैरी के साथ इस तरह लड़ाई कर मदद पहुँचाने की क्या जरूरत है!"

राह मिल गई। रात्रि का अज्ञानावरण चीर कर योगी की त ह प्रमीला ने पति-ब्रह्म का प्रकाश-पद प्राप्त कर लिया। मेघनाद की मानस-शुक्ति में प्रेम-मुक्ता की तरह प्रमीला संपुटित हो गई। स्वर्ण सिंहासन ने दम्पती को हृदयासीन कर जीवित की तरह मुसकिरा दिया। सारी शूरता प्रणय की छाया में सो गई। बिदाई के समय की विरह-भीरु प्रमीला चण्डी-सुलभ रोषावेश से अन्तराय के वीराने, वञ्जर देशों को पार कर मिलन मन्दिर में प्रेम की देवी-प्रतिमा की तरह प्रतिष्ठित हो गई। पास-पड़ोस के लोगों की, सखी-सहेलरियों की हँसी-खुशी का

ठिकाना न रहा। एक ही पलक में—

मुद्रित दृग खोलो;
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल
नव किरणों से धो लो।

का समय आ गया! कुञ्जबन के पक्षियों का कलरव सुन बीरकुञ्जर मेघनाद जगा और प्रमीला के पद्म-कर को अपने कर-पद्म में लेकर, प्रेम की रहस्यात्मक कथाएँ गूँज-गूँज कर नलिनी के कानों में कहने वाले भौंरे की तरह—

"डाकिछे कूजन
हैमवती ऊषा तुमि, रूपसि तोमारे
पाखी कुल! मिल, प्रिये कमल-लोचने!"

अन्तरङ्ग के अन्तिम-स्तर तक का स्पर्श करने वाला प्रणय-सङ्गीत अलापने लगा। अङ्गड़ाइयाँ ले-लेकर नींद की खुमारी उतारती हुई लट-पट सँभालती प्रमीला उठ बैठी, फिर मेघनाद ने—'चल, प्रिये, एवे विदाय हईव नमि जननीर पदे' कह कर प्रमीला को साथ चलने के लिए तैयार किया, क्योंकि मातृ-पद-वन्दना के पश्चात् तुरत ही उसे यज्ञशाला जाना था, आज इसी यज्ञ की मदद से उसे लड़ाई फतह करनी जो थी।

भगवान् शिव के मन्दिर में मन्दोदरी पुत्र-विजय की उच्चाकांक्षा से निराहार, अनिद्र, आराधना पर थी। दम्पती के आगमन की बात सुन बाहर आई। विदाई की बात से उसकी आँखें छलछला गईं। उसने राघव-पक्ष के प्रभुत्व का डर दिखलाया, पर अभिमानी मेघनाद ने उसकी भीरुता का

उपयुक्त समाधान कर दिया। फिर मन्दोदरी ने डबडबाई आँखों से पुत्र से एक याचना की कि उसके धैर्य्य के लिए वह प्रमीला को उसी के पास रहने दे। मेघनाद ने नाहीं नहीं की। प्रमीला भी राजी हो गई, वह पतिव्रतात्व के विज्ञापन की हठी न थी। जननी की पद-पूजा कर मेघनाद बाहर आया। रानी रोती हुई पतोहू के साथ घर के अन्दर चली गई। मेघनाद ने पालकी वहीं छोड़ दी, पैदल ही अकेला धीरे-धीरे यज्ञशाला की ओर बढ़ा।

"सहसा नूपुर ध्वनि ध्वनिल, पश्चाते
चिर-परिचित, मरि, प्रणयीर काने
प्रणयिनी-पद-शब्द ! हासिला वीरेन्द्र,
सुखे बाहु-पाशे बाँधि इन्दीवराननना
प्रमीला रे।"

अचानक चिरपरिचित मञ्जीर का मञ्जु शिञ्जन मेघनाद के उर के भीतर बजता सा मालूम पड़ा, वह वहीं रुक गया। हँसकर प्रमीला को बाहुपाश से कस लिया। वह फिर से मिलने आई थी—

"हाय, नाथ," कहिला सुन्दरी
भेवेछिनु, यज्ञगृहे याव तव साथे;
साजाइब वीरसाज तोमाय। कि करि ?
बन्दी करि स्वमन्दिरे राखिला शाशुड़ी।
रहिते नारिनु तबु पुनः नाहि हेरि
पद युग ! शुनियाछि, शशिकला ना कि
रवि-तेजे समुज्ज्वला; दासीओ तेमति,

हे राक्षस-कुल-रवि ! तोमार बिहने
आँधार जगत, नाथ, कहिनु तोमारे।"

रोकर कहने लगी कि मेरी साध आपके साथ यज्ञागार में जाने तथा वीरोचित सज्जा से आपको सज्जित करने की थी, पर क्या करूँ, सासु जी ने अपने मन्दिर में मुझे बन्दी बना लिया है। आपके चरणों के दर्शन न होने पर मेरे लिए दुनियाँ में अँधेरा ही अँधेरा है। जिस प्रकार सूर्य्य की रोशनी न मिलने पर चन्द्रकला म्लान पड़ जाती है, हे राक्षस-कुल-रवि, आपके बगैर अब मेरी भी ठीक वही हालत होगी।

मेघनाद ने धैर्य्य-पूर्वक समझा दिया कि राघव का विनाश कर उसे लौट आने में बहुत देर न होगी। फिर आज यज्ञ की मदद भी रहेगी। प्रमीला डबडबाई आँखों विदा दे देवी-देवते मनाने लगी।

दूसरी सुबह प्रमीला सोकर उठी तो उसे तरह-तरह की अमङ्गल-सूचक अनुभूतियाँ होने लगीं, क्षण-क्षण पति की विपदाशङ्का उसे सातङ्क करने लगी, फिर पुरवासियों के आर्तनाद ने तो उसे बहुत ही व्यग्र कर दिया, उसने अधीर होकर सखी वासन्ती से कहा, और कहा ही क्यों ? साथ चलने के लिए अनुरोध भी किया, फिर दोनों शिवालय चली गईं। पर प्रमीला के प्राणेश का तो अवसान हो ही चुका था। जहाँ-जहाँ यह दुस्सम्वाद पहुँचा था, वहीं-वहीं से आर्तचीत्कृति सुनाई पड़ने लगी थी। रावण को भी यह खबर बेखबर करने के लिए

मिली। ऐसे-ऐसे समाचार झूठे भी नहीं होते। और प्रमीला को? उसे यह बात न मालूम हुई होगी! हुई भी होगी, तो उसे तीव्र शीतलता का अनुभव हुआ होगा। इतनी तीव्र शीतलता कि उसे वह्नि की विषम-ज्वाला भी शीतल मालूम पड़ने लगी होगी, अब वह वह्नि में ही शिशिरावगाहन करेगी। जब सीता को यह बात मालूम हुई तो वे अपने ही भाग्य को कोसने लगीं कि "उन्हीं की वजह से आज इतने महान् व्यक्तियों का नाश हुआ है—

"मरिल वासवजित् अभागीर दोषे
आर रक्षोरथी यत, के पारे जानिते?
मरिव दानव-वाला अतुला ए भवे
सौन्दर्य्ये! वसन्तआरम्भे, हाय लो शुकाल हेन फूल!

वसन्त के आरम्भ में कुसुम सूख रहा है, जो सौन्दर्य्य की प्रतिनिधि प्रमीला अब भस्ममात् होने जा रही है।"

आज अग्निदेव का देव-रूप प्रकट होने वाला है। उनकी, सब कुछ जला देने वाली शक्ति की अभिव्यक्ति का यह समय है। संसार का असार अश्रु-जल उन्हें शीतल नही कर सकता। आखिर देव की ज्वाला ठहरी; प्रताप ठहरा!

"सुवर्णशिविकासने, आवृत कुसुमे
बसेन शवेर पाशे प्रमीला सुन्दरी,—
मर्त्ये रति मृतकाम सह सहगामी!
ललाटे सिन्दूर-बिन्दु, गले फूलमाला,
कङ्कण मृणालभुजे, विविध भूषणे
भूषिता राक्षसवधू।"

ललाट-पट्ट पर सिन्दूर-बिन्दु लगाए, गले में फूल-माला डाले, कोमल करों में कङ्कण पहने, और भी विविध विभूषणों से विभूषित होकर राक्षस-वधू सुन्दरी प्रमीला सती होने सिन्धु के किनारे गई। परिजन-पुरजनों के अतिरिक्त उसके साथ प्रबल वामा-दल भी था। सागर-तीर पर पहुँच कर निशाचरों ने यथा-विधि चिता रची। सुगन्ध चन्दन-काष्ठ ढेर के ढेर इकट्ठे किये गये, यही हाल घी का भी रहा। गङ्गा के पवित्र-जल से शव नहलाया गया। कौशेय-वसन पहिनाया गया। रक्षःपुरोहितों ने गम्भीर-स्वर से मन्त्रोच्चारण करना आरम्भ किया। प्रमीला ने भी उस महातीर्थ में स्नान कर अपने सकल रत्नालङ्कार उतार दिए और उन्हें दान कर दिया। गुरुजनों को प्रणाम किया और अपने दैत्यबामादल को मधुर सम्भाषणपूर्वक कहा—

"लो सहचरि, एक दिने आजि
फुराइल जीवलीला जीवलीलास्थले
आमार! फिरिया सबे जाओ दैत्यदेशे!
कहिओ पितार पदे ए सब वारता
वासन्ति! मायेरे मोर"

"लो सखियो, यह एक आज का दिन है, जब मेरी ऐहलौकिक जीवन-लीला समाप्त हो चली। तुम सब दैत्य-लोक वापस चली जाओ। सखि वासन्ति, वहाँ मेरे पिता से यहाँ की यह सब बातें बताना, और मेरी माँ से"—इतना कहते-कहते गला भर आया, वह चुप हो गई। और सकल

वामादल हाहाकार कर उठा। फिर क्षण ही भर में अपने शोक को संवरण कर बोली—

"हाँ, मेरी माँ से कहना कि 'मुझ अभागिनी के भाग्य में जो कुछ विधाता ने लिख रक्खा था, वह एक दिन घटित हुआ। और तुम लोगों ने मुझे जिसके हाथ सौंपा था— लो आज मैं उसी के साथ चली। पति के अतिरिक्त सती के लिए और कौन सी गति इस जगती में है? सखियो, और मैं अब क्या कहूँ? तुम सबों से मैं यही भिक्षा माँगती हूँ कि दुनियाँ की उलझनों में पड़ कर मुझे हमेशा के लिए भूल मत जाना।" फिर प्रसन्नमुख पति के पद-तल में जा बिराजीं। राक्षसों ने बाजे बजाए। वैदिकों ने तार-स्वर से वेदध्वनि की। सामूहिक हाहाकार आकाश में गूँज गया। चारो ओर पुष्पवर्षा होने लगी। दम्पती ने अग्नि-रथ से स्वर्गप्रस्थान किया।

प्रमीला की यह मौलिक-कल्पना पूर्व और पश्चिम की मिश्रित भावनामयी, आमूल-नवल है। उद्दाम-स्फूर्त्ति प्रेम की मधुर मूर्त्ति की प्राण बनकर महाप्राण हो गई है, प्रमीला इसीलिए जीवित है। माइकेल के समय का वङ्ग-साहित्य पातिव्रत्य की शिक्षा-दीक्षाओं से ओत-प्रोत है, प्रमीला के चारित्रिक विकास के करण-कारण इसीलिए अकल्पित हैं। प्रमीला की सरलता, तरलता, कवि की आत्मा से सहज अनुप्राणित हैं, अनल्प अनुभूति ही प्रमीला की कल्पना की विभूति है।

पर प्रमीला का चरित्र सब ओर से निष्कल्मष ही नहीं है। 'आमि कि डराइ सखि भिखारी राघवे' का गरूर राम की सहज सरल मनोवृत्ति के सामने वहाँ चूर-चूर हो गया है, जहाँ उसने निरर्थक उद्दण्डतापूर्ण व्यङ्ग्योक्ति की है—

"पति मम वीरेन्द्रकेशरी,
निज भुजबले तिनि भुवन विजयी
कि काज आमार यूझि ताँर रिपु सह !"

प्रमीला का सब अभिमान वहाँ अश्रुमय हो रहा है, जहाँ उसने मन्दोदरी की कातरतापूर्ण प्रार्थना पर सहवास स्वीकार कर पति के पास जाना स्थगितासन जाहिर किया है—

"कि करि ?
बन्दी करि स्वमन्दिरे राखिला शाशुड़ी !"

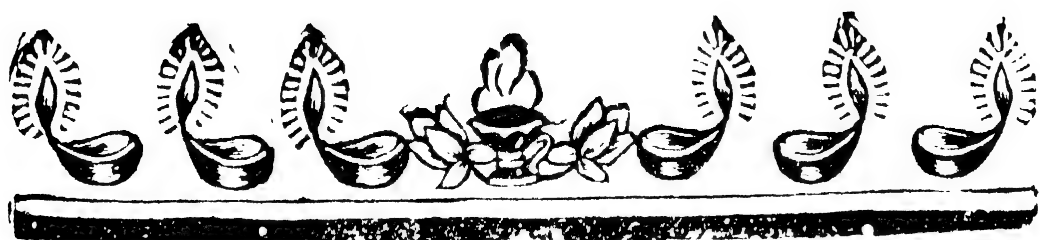
यहाँ भी सीता भी उसके (दम्पति के) विनाश की बात पर उग्रतर दीर्घोच्छ्वास छोड़ती और अश्रुधार बरसाती हुई उसके प्रगल्भ व्यक्तित्व को कम नहीं करतीं। इतनी उदारता प्रमीला के मानस-पटल में कहाँ ?

अगर तुलसी, भवभूति आदि की सीता सुकुमारी और रामप्राणा हैं, तो यहाँ की प्रमीला प्रचण्ड, रूपगर्विता और पतिजीविता है। वासना का अंश प्रमीला के चरित्र-व्योम पर नीलिमा की कूची भर फेर सका है, पर वही सीता में अंशु बन गया है, आश्चर्य है। फिर वाल्मीकि की सीता काफी प्रौढ़ भी हैं, सुन्दरता में तो वह अपना सानी नहीं रखतीं, जैसे-

"रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रम रुचि,
पलक तरल तम, मृग-दृग-तारे।"

तो भी प्रमीला की सृष्टि साहित्य का गर्व है। प्रमीला साहित्य-स्वर्ग की देवी की कल्पना है। सौन्दर्य्य, शौर्य्य और सतीत्व का सूक्ष्म सामञ्जस्य यदि नारीत्व के विकासोल्लास का स्वर्गिक चरम सोपान है, तो निस्सन्देह प्रमीला उसी पद पर प्रतिष्ठित है। प्रमीला 'मेघनाद' ही की नहीं, 'मेघनाद-वध' की भी प्राण है।

एप्रिल '३६।



विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की उपमाएँ

कवीन्द्र रवीन्द्र विश्व की उन विभूतियों में से एक हैं, जिनका परिपूर्ण परिचय प्राप्त करने पर ऐसा लगता है कि अमर भी मर-मर कर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं, नीरवता की जोरदार आवाज से संसार के सामने स्वर्ग को आसमान-सा असार साबित करते हुए। भारत ऐसे ही रत्नों को पाकर हमेशा से भारत रहा है, आज भी है, और साहित्य साहित्य। कालिदास के बाद भारत में अब तक कोई ऐसा विश्वजनीन कवि पैदा न हुआ जिसकी आवाज दुनियाँ के कोने-कोने ने सम-भाव से सुनी हो। निराला जी के शब्दों में रवीन्द्रनाथ बीस बड़े-बड़े कवियों का प्रबल बल आत्मसात् कर साहित्य-क्षेत्र में अग्रसर होनेवाले महाकवि हैं। आज हिन्दी के युगान्तरकारी साहित्य में नई-नई विशेषताओं की जितनी किस्में मौजूद हैं उन सब पर, गुप्त या प्रकट रूप से रवीन्द्रनाथ की पूरी-पूरी छाप है। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ही भारतीय साहित्य-युग की नवीनता के निर्माता हैं।

संस्कृत में 'उपमा कालिदासस्य' की बड़ी धूम है, और विचार करने पर यही बात सही जँचती है। कालिदास की उपमाएँ दिल पर जितना असर डालती हैं, जितना जीवन रखती हैं; जितनी बारीकियों से भरी-पूरी होती हैं; उतनी और किसी की नहीं। सौन्दर्य्याभिव्यक्ति की शक्ति, कालिदास की कमनीय काव्य-कला में जितनी उल्लेख्य है, उपमाओं की

अनुपमता भी उतनी ही विवेचनीय । कालिदास आर्य्य-कवियों के प्रतिनिधि हैं ।

पर मैं यहाँ कालिदास-से शक्तिशाली आर्य्यकवि रवीन्द्र-नाथ की जानदार कुछ उपमाओं की ओर अनजान पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिनकी विशिष्टता सुस्पष्ट दृष्टि से देखने पर उन्हें आप अपनी तरफ झुका लेगी। रवीन्द्रनाथ की, सौन्दर्य्य परखने की बारीक नजर, सहृदयता की अजस्र-रस सहस्र-स्रोतस्विनी, कल्पना की कमनीयता, आदि की तरह उपमाएँ भी अपना सानी नहीं रखतीं और इन सब के लोकोत्तर सामञ्जस्य ने, पीयूष-परिपाक ने, उनकी कविताओं को सँवारा है, सर्वश्रेष्ठ बनाया है ।

जिन एक-दो फबीले गहनों से किसी रमणी की रमणीयता द्विगुणित होती दीख पड़ती है, कविता में उचित स्थान पर प्रयुक्त उपमादि की उपमा उन्हीं से दी जा सकती है, पर जहाँ तमाम अलङ्कारों को एक ही बन्ध में बाँधने का प्रबन्ध किया गया हो, अमीरी के जोश में आकर जहाँ एक-एक अङ्ग में अनेक-अनेक गहने, जितनी तरह के वे हो सकते हैं, पिन्हाए गये हों, कवित्व या कामिनीत्व अलङ्कारों के बोझ से झुक गया हो, पिस गया हो, वहाँ उन्हें भूषण नहीं, दूषण ही कहना समुचित होगा। 'नमक सुलेमानी' के विज्ञापक 'जोकर' की सत्ताईस रंगों वाली पोशाक की तरह हास्योत्पादक मात्र। कालिदास वगैरह के बाद संस्कृत-साहित्य में अलङ्कारों का बाजार

कुछ ऐसा ही गर्म रहा है। ब्रजभाषा का तो जिक्र भी अप्रासङ्गिक होगा। अवश्य कुछ को छोड़ कर यह बात बताई जा रही है। पर कालिदास तथा रवीन्द्रनाथ की अधिकांश उपमाएँ अनुपम हैं, अन्य अलङ्कारों का सम्भार भी कविता को बेशकीमती बनाने भर के लिए। जैसे—

"किछु नाई, तबु बारबार देखो चाहि
अवगाहि हृदयेर सीमान्त अवधि
करह सन्धान, अन्तरेर प्रान्ते यदि
कोनो वाञ्छा थाके, कुशेर अंकुर सम
क्षुद्र दृष्टि-अगोचर, तबु तीक्ष्णतम।"
—विदाय अभिशाप'

वृहस्पतिपुत्र कच के स्वर्गप्रत्यागमन के समय दैत्यगुरु शुक्र की कन्या देवयानी की उक्ति है। शुक्र से सञ्जीवनी विद्या सीख कर कच स्वर्ग लौट रहा है, विदा माँगने के लिए गुरु-पुत्री के पास गया है। वह कहती है—"बड़ा अच्छा हुआ, सहस्र-वर्ष की दुस्साध्य साधना के अनन्तर तुम्हें अभिवाञ्छित-सिद्धि प्राप्त हो गई, अब तुम लौट रहे हो, पर जरा सोचकर देखो, अभी और कोई कामना तो तुम्हारे मन में नहीं?"

वस्तुतः देवयानी के हृदय में कच की विकच दीप्ति ने घर कर लिया था, वह चाहती थी कि उससे कच प्रेम का प्रस्ताव करे और वह आत्मसमर्पण कर अपने सौभाग्य को सफल समझे, पर उसे ऐसा मौका न मिला। अनवरत साधना से परिपूर्ण कच के हृदय में अब इतना क्षुद्र छिद्र भी कहाँ था,

जहाँ उसके प्रेम-परमाणु को प्रसर प्राप्त होता ? उसने झटपट उत्तर दिया—"अब तो कोई भी कामना नहीं है।" पर प्रणय-विह्वला देवयानी इसी शुष्क उत्तर से कैसे सन्तुष्ट हो जाती ? वह उपरिलिखित पक्तियों द्वारा अपनी व्याकुल स्नेह-पिपासा व्यक्त कर रही है—"कुछ भी नहीं ! तो भी जरा अपने हृदय का अन्तिम स्तर छूकर देखो, शायद कोई छोटी सी कामना वहाँ छुपी हो, कुश के बारीक, लेकिन तीखे अंकुर के समान।" हृदय के किसी एकान्त कोने ही में तो प्रणय का नुकीला और बारीक अंकुर भी छुपा हो सकता है। प्रणयांकुर के नुकीलेपन में सन्देह की कोई गुञ्जायश हो ही नहीं सकती। अध्ययन-शील पाठक देखें, इस उपयुक्त उपमा के द्वारा भावना की उँचाई में कितना सहारा पहुँचाया जा रहा है, कितनी भोली भावुकता भरी हुई है इसमें ! पर इससे भी अधिक उसकी ओचिती या सुपयुक्तता की जाँच के लिए यहाँ इसके मुकाबले कालिदास की एक उपमा पेश करता हूँ—

"शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन् आभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः।"

महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स, महाराज रघु के दरबार में गुरुदक्षिणा के लिए चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ माँगने आया हुआ है, तब तक विश्वविजय के उपरान्त रघु अपनी समस्त सम्पत्ति का दान कर चुके हैं। यहाँ अतिथि-सत्कार के लिए मिट्टी के बर्त्तन में पानी आया हुआ देख वह अकचका कर

जाना चाहता है, पर रघु की उदारतापूर्ण आग्रह की बातें सुनकर क्षण भर ठहरने को विवश होकर ऊपर की पंक्तियाँ कहता है कि—"हे राजन् , योग्य-योग्य व्यक्तियों में अपनी प्रभूत विभूतियों का वितरण कर, ऋषि-महर्षियों के द्वारा बालियाँ छिन लेने पर केवल धड़ के बल खड़े नीवार की तरह, अब तो आप देह भर से राजा रह गए हैं।" नीवार या किसी भी शस्य विशेष की सुषमा उसके फलों ही पर निर्भर करती है, फल निकल जाने के बाद केवल डण्ठल समग्र फल-सम्पत्ति लुटा देने वाले महाराज रघु से कितनी असमान समानता रखता है ! दोनों ही ने अपनी फल-सम्पत्ति का योग्यों ('तीर्थ' और 'आरण्यक' दोनों शब्दों से यही व्यक्त होता है) में वितरण कर सदुपयोग किया है, दोनों ही सफल फल वाले हैं। पर इस उपमा की सूक्ष्म विशेषता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती।

जब कवि स्वयं वक्ता होता है, तब उसे अपनी इच्छा के अनुसार वर्णन करने की कुछ अधिक स्वतन्त्रता रहती है, पर जब वक्ता कवि-कल्पित कोई अन्य व्यक्ति होता है तब उसे उसकी योग्यता, औचिती की अपेक्षा करना आवश्यक हो जाता है, यही कारण है कि भीम के मुँह से सरस या विनय-गर्भित कोमल-कोमल बातें कहलाने से (यद्यपि समय विशेष पर इसकी भी सम्भावना हो सकती है) कविता-श्री परिम्लान मालूम पड़ने लगती है। हालाँकि कवियों ने उच्छृङ्खलतावश सब किस्म की गलतियाँ की हैं, पर एक कलाकार के लिए वे गलतियाँ गुण

तो कहला नहीं सकतीं (यह ठीक है कि वे उनकी अलौकिक गुणगरिमा से कुछ दबी सी रहती हैं)। विशेषतया तब, जब कि कालिदास वगैरह ने इधर भी काफी ध्यान रक्खा है। हाँ, तो इस जगह कालिदास ने शिष्य के मुँह से और तरह की कोई उपमा न दिला कर अपनी उच्च कलाप्रियता व्यक्त की है, क्योंकि वह बेचारा बनवासी तपस्वी अपनी आँखों बिना वाली-वाला 'नीवार' बहुत बार देख चुका है, उसके मुँह से जैसे स्वभावतः, अनुभूतिवश, वह उपमा आप कढ़ गई है, गढ़ी नहीं गई है। उस जङ्गली के मुख से वह जङ्गलीपन की उपमा कितनी नागरिकतापूर्ण मालूम पड़ती है, कितनी खूबसूरत, कितनी उचित! यह है—'उपमा कालिदासस्य।'

यही बात रवीन्द्र वाली उपमा में भी है। देवयानी विजन वनवासिनी है। अतएव उसे कुश के तीखेपन की पहिचान, सुकोमल होने के कारण हमेशा हुई होगी, फिर उसके मुख से उसी अनुभूतिपूर्ण वस्तु की उपमा कितनी फबती हुई मालूम पड़ती है। वस्तुतः यह कुशांकुर वाली उपमा भी कुशांकुर ही की तरह चोखी उतरी है, सीधे हृदय में चुभ जाती है। आज देवयानी के हृदय में वह 'क्षुद्र' कामना उसी अंकुर की तरह चुभी हुई है, जिसे कच के प्रकाश-भास्कर नयन प्रयास करने पर भी नहीं देख पाते, इसीलिए 'कामः स्वतो पश्यति' के अनुसार उसे कच को दिल टटोलने के लिए बार-बार कहना पड़ रहा है। आगे चलकर कवि ने, कच को पिछली बातें याद

दिलाते समय उसके मुख से उसकी आवास-भूमि अरण्य-प्रकृति का बड़ा ही वरेण्य वर्णन करवाया है—

"सुन्दरी अरण्यभूमि सहस्र-वत्सर
दिएछे वल्लभ छाया तरु मर्मर
शुनाएछे विहङ्ग कूजन,—ता' रे आजि
एतई सहजे छेड़े यावे ? तरु-राजि
म्लान ह'ये आछे येन, हेर आजिकार
वनच्छाया गाढ़तर शोके अन्धकार,
कँदे उठे वायु, शुष्क पत्र झरे पड़े

[कालिदास ने भी शकुन्तला की विदाई के वक्त प्रियंवदा के मुख से इतनी ही खूबसूरत बात कहलाई है—

"न केवलं त्वमेव तपोवनविरहकातरा, त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि अवस्थां प्रेक्षस्व तावत्—

उद्गीर्णदर्भकवला मृगी, परित्यक्तनर्त्तना मयूरी
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चंत्यश्रु इव लताः ।"]

तुमि शुधु च'ले यावे सहास्य अधरे
निशान्तेर सुख-स्वप्न सम ?"

यहाँ भी प्रकृति की इस विकलता का बखान करते हुए देवयानी कहती है—"और तुम मुसकराते हुए चुपचाप सुबह के मीठे सपने की तरह चले जाओगे ?" 'यहाँ सहास्य अधरे' के द्वारा, कच की सहृदयता के प्रति जितना गूढ़ और कटु व्यङ्ग किया गया है, उतनी ही स्फुट तथा मधुर उपमा दी गई है—'निशान्तेर सुख-स्वप्न सम ।' एक तो स्वप्न स्वयं सुमधुर है, फिर 'निशान्त' के कोमल-कान्त 'सुख' के सपने का क्या कहना

है ? उतना ही छबीला, उतना ही फबीला, उतना ही मधुर, देवयानी की सतृष्ण आँखों में है कच, जो अब सचमुच स्वप्न ही की तरह ओझल हुआ चाहता है। उफ ! उस दुःख का क्या ठिकाना, 'सुख' ही का जब जाना ठहरा, बेचारी क्यों न वेकल हो जाय। कितनी कोमल भावना की कितनी कोमल उपमा !

उपमाओं की उपयोगिता चमत्कृत करने से अधिक प्रभावित करने में है। जहाँ 'शेली' ने—

"May have broken the woof of my tent's
thin roof,
The stars peep behind her and peer;
And I laugh to see them whirl and flee,
Like a swarm of golden bees,"

कहा है, वहाँ हम इस कल्पना-पूर्ण उपमा से चमत्कृत ही अधिक होते हैं, पर जहाँ उसी ने—

"Like a poet hidden
in the light of thought,
Singing hymns unbidden,"

या

"Around its unexpanded buds;
Like many a voice of one delight"

आदि भावुकता भरी उपमाएँ दी हैं, वहाँ हम गद्गद हुए बिना रह नहीं सकते। भारतीय, खास तौर से कालिदासीय उपमाओं में इसी शक्ति की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। रवीन्द्रनाथ का भी इसी किस्म का प्रदर्शन प्रशंसनीय है।

२—मैं पहले ही लिख चुका हूँ, उचित स्थान का एक ही 'अलङ्कार' अनेक अच्छे-अच्छे अलङ्कारों की जगमगाहट ला देता है, अब यहीं कवि की अक्लमन्दी देखनी होती है कि वह अलङ्कारों का 'कैटलग' ही तैयार करना जानता है या कुछ सजाने की सहूलियत भी रखता है। पिछले उदाहरण में उपमा के द्वारा भावना के उत्कर्ष की बात बतलाई जा चुकी है, अबके उसके उसी किस्म के एक शिल्प का, कुछ नवीनता के साथ, नमूना दे रहा हूँ—

"तुमि सद्य स्नान करि'
दीर्घ आर्द्र केशजाले, नवशुक्लाम्बरी
ज्योतिस्नात मूर्तिमती ऊषा, हाते साजि
एकाकी तुलितेछिले नव पुष्पराजि
पूजार लागिया।"

कच कहता है—"हाँ, मुझे आज भी याद है, उस दिन तुम तुरत नहाकर, नई उजली साड़ी पहने, ज्योतिस्नात साक्षात उषा के समान, हाथ में फूल-डाली लिए पूजा के लिए तुरत के खिले फूल तोड़ रही थीं, तुम्हारी लम्बी केशराशि अभी गीली ही थी और तुम अकेली थीं।"

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि कच के मन में किसी भी प्रकार की कलुषित वासना नहीं है, उसे देवयानी अब भी देवी ही मालूम पड़ रही है, फिर यह चारु चर्चा तो प्रथम दिवस की है, इसलिए उसके पवित्र मानस के अनुरूप गजब की उपमा भी निकलती है—ज्योतिःस्नात मूर्तिमती ऊषा की तरह। इससे

देवयानी के ललित-लावण्य की अनन्य कल्पना भी सहज ही की जा सकती है—और जिस प्रकार इस उपमा से कच के हृदय की पवित्रता व्यक्त हो रही है, उसी प्रकार यह देवयानी को भी परम-पवित्र देवी बना रही है। इसी उभयपाक्षिक सौन्दर्य की झलक ने इस उपमा को अलौकिक बना दिया है। यही सौन्दर्य निराला जी की—

"वह सुरसरिता सैकत सी गोरी बाला"

में अङ्कित है। यह एक ही उपमा बाला की गोराई और पवित्रता साथ ही कवि-हृदय की निष्कल्मषता का भी अभिव्यञ्जन कर रही है और सीधे 'गङ्गा' न कह कर 'सुरसरिता' का प्रयोग इस पावन-भावना की परिपुष्टि। इसी प्रकार 'विधवा' कविता में निरालाजी ने 'वह दीपशिखा-सी शान्त' लिखकर द्विगुणित सौन्दर्य झलकाया है। कवि विधवा की तुलना दीप-शिखा से सिर्फ शान्ति-समानधर्म की वजह से कर रहा है, पर उसकी (विधवा की) रूप की आग और अन्तर्ज्वाला आदि उपमा की अलौकिकता के कारण आप अनुमित हो जाते हैं। उपयुक्त स्थान में प्रयोग ही की यह सफलता है।

३—"अन्धकार गर्त्ते थाके अन्ध सरीसृप
आपनार ललाटेर रतन-प्रदीप
नाहीं जाने नाहीं जाने सूर्य्यालोक-लेश!
तेमनि आँधारे आछे एई अन्ध देश
हे दण्डविधाता राजा,—ए दीप्त रतन

परायें दिएछे भाले ताहार यतन
नाहीं जाने, नाहीं जाने तोमार आलोक !"

कवि देश की वर्तमान दशा का दिग्दर्शन कराता है कि "जिस प्रकार अँधेरे गड्ढे में पड़े साँप को उसी के माथे की मणि की चमक का कोई पता नहीं रहता और बाहरी सूरज की चारों ओर फैली रोशनी के जर्रे का भी उसे कोई अन्दाजा नहीं होता, उसी प्रकार आज हमारा देश भी अँधेरे में पड़ा हुआ है, हे दण्डविधाता भगवान, [यह विशेषण जैसे देश की बढ़ी मूर्खता को और बढ़ा देता है, अभिप्राय है कि यद्यपि इसे (देश को) मालूम है कि इस बेवकूफी का दण्ड (जिसे तुम जरूर दोगे) भुगतना ही पड़ेगा, तो भी वह भूला हुआ है] तुमने जो दीप्तमणि उसके ललाटपट्ट पर अङ्कित की है, उसकी इज्जत करना उसे आता ही नहीं और न उसे तुम्हारे प्रकाश ही का कोई पता है !" इस उपमा से भी कोई प्रभावित हुए बगैर न रहेगा—अज्ञानगर्त्त में गिरे-पड़े, आत्म-ज्ञान-शून्य देश की तुलना अन्धसरीसृप से बड़ी ही खूबसूरत बन पड़ी है। सर्प की उपमा विविध-भङ्गियों के साथ विविध स्थानों पर रवीन्द्रनाथ ने दी है। कहना न होगा, सर्वत्र विविध-सौन्दर्य का प्रदर्शन भी हुआ है। जैसे 'उर्वशी' कविता में—

"तरांङ्गत महासिन्धु, मन्त्र-शान्त भुजङ्गेर मत
पड़े छिलो पदप्रान्ते, उच्छ्वसित फणा लक्ष शत करि अवनत।"

यहाँ तरङ्गायित सिन्धु की लक्ष फणाधर फणी के साथ

तुलना अत्यधिक सौन्दर्य-समवेत हुई है।

वृन्तहीन पुष्पसम आपनाते आपनी विकशि
कवे तुमि फुटिले ऊर्व्वशि !"

चूँकि उर्वशी का सौन्दर्य क्रमशः विकासोन्मुख नहीं रहा, किन्तु प्रारम्भ से ही सौन्दर्य की प्रौढ़ि लिए हुए है, इसलिए उसकी उपमा बिना डण्ठल के फूल से दी जा रही है, क्योंकि डण्ठलवाले फूल तो निस्सन्देह कोरक से कुसुम की ओर बढ़ते दृष्टिगोचर होते हैं। और फूल, कोंपल आदि की उपमा भी रूप के लिए, कालिदास-काल से ही मशहूर है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः।

फिर 'फुटिले' कह कर तो उसका पूर्णकुसुम-रूपत्व ही जैसे स्फुटित किया गया है।

"द्विधाय जडितपदे कम्प्र वक्षे, नम्र नेत्रपाते,
स्मितहास्ये नाहिं चलो सलज्जित वासरशय्याते
स्तब्ध अर्द्धराते, उषार उदय-सम अनवगुंठिता,
तुमि अकुंठिता !"

यहाँ भी 'ऊषा' के उदय के समान उसका (उर्वशी) अनवगुण्ठित होना कमाल कर रहा है। ऊषा-सा विश्व-जनीन सौन्दर्य उर्वशी का भी है, ऊषा की तरह उसके सौन्दर्य का भी विश्व, समान-रूप से निरीक्षण कर सकता है, और वह भी ऊषा ही की तरह Super-human है।

इस तरह की उपमाओं की सरस-राशियाँ रवीन्द्र-साहित्य में भरी पड़ी हैं। मेरा उद्देश्य तो इस छोटे से लेख में उस

सौन्दर्य-सिन्धु का एक छींटा ही दिखाना है, आगे कभी मैं 'उपमा कालिदासस्य' नामक लेख में शेली और रवीन्द्र की उपमाओं की विशद विवेचना करने की कोशिश करूँगा।

इन उदाहृत उपमाओं में भारतीय दृष्टि से कुछ न कुछ कमजोरियाँ भी अवश्य अवगत होती हैं, पर यहाँ उनका दिग्दर्शन अरोचक तथा अप्रासङ्गिक होगा, लेख की कलेवर-वृद्धि भी होगी। रवीन्द्र तथा कालिदास आदि भारतीय साहित्य के प्रतीक ही हैं। इन अलङ्कारों से साहित्य की पर्य्याप्त श्री-वृद्धि हुई है। नहीं तो 'पन्त' जी की तरह शतशः "सा-सा सी-सी" करने भर से किसी आन्तरिक आनन्द का उद्रेक नहीं होता, किसी भाव की सुन्दर मूर्ति सामने नहीं आती, उन्हें मैं 'उपमा' मानता हुआ भी 'उपमा-अलङ्कार' नहीं मानता, यद्यपि वे हिन्दी के दरिद्र भण्डार में अलङ्कार ही के नाम से संगृहीत हुए हैं।

एप्रिल '३६



निराला की काव्य-कला

अनवरत अपराजिता आधुनिक हिन्दी-कविता के सम्मानोन्नत ललाट-पट्ट पर आज जो अनुपम सुषमामयी सौभाग्यरेखा अङ्कित है, उसमें कुछ निराला की प्रतिभा के प्रतिभासमान कुङ्कुम-कण भी सम्मिलित हैं।

यह समूल सत्य है कि पन्त-प्रसाद-निराला की लोकप्रियता की उभय-कूल-प्लाविनी कल्लोलित त्रिवेणी में निराला की पाटल-सलिला काव्य-धारा 'सरस्वती' का पद पूर्ण करती रही हैं, पर विशेषता के तात्विक अनुसन्धान के समय उनकी यही रहस्यमयी गोपन-प्रवृत्ति लोक की कलुषित—राग-द्वेष-दुष्ट दृष्टि की ज्वाला से परे, चिर-द्रुति और चिर-शीतलता का कारण हो सकती है।

कटुता और कठिनता का कलङ्की निराला का काव्य कितना कोमल या कितना कमनीय है—यह भविष्यत् के समीक्षकों की अन्तर्दृष्टि तथा अन्तःशक्ति की अपेक्षा करने वाली बात है, पर इस समय तो उसकी ओर दृष्टिपात करने पर संस्कृत के एक अपरिचित कवि के वही शब्द मेरे मुँह से अकस्मात् निकल पड़ते हैं, जो उसने मरुस्थल को लक्ष्य कर कहे थे,—"हे मरु! इस विशाल विश्व का वैसा कोई भी अनर्थ बाकी नहीं बचता, जो तुम्हारे बाँटे नहीं। तुम्हें खुद हमेशा भीतर ही भीतर जलते रहना—अन्तःसन्ताप का अविरत अनुभव करना पड़ता है। कोई बटोही तुम्हारी तरफ

रुख तक नहीं फेरना चाहता। लेकिन् हाँ, यह सब कुछ होने पर भी तुम निरर्थ—निष्फल नहीं हो। तुम्हारी वजह से एक बहुत बड़े अर्थ की सिद्धि होती दिखती है। और वह यह कि थोड़ी सी बूँदों की पूँजी पर इतराते चलनेवाले बादलों की असलियत तो तुमने भलीभाँति समझा ही दी है कि तुम्हारे माथे पर गरजने-तरजने के अलावा वे और क्या-क्या कर सकते हैं।"

जबकि जमाने से जमाने का साहित्य "छबीली भठियारिन, तोता-मैना" रहता आया है। राधेश्यामी रामायण की लाख-लाख प्रतियाँ बाजारों में हाथों-हाथ खरीदकर जनता अपनी परिमार्जित रुचि तथा मानसिक उच्च-स्तर (Standard) का पता बताती रही है। तब जरा यह गैरमुमकिन मालूम पड़ता है कि इस "जनता-जनार्दन" के युग में, जन-साहित्य की रीति-नीति के कतई खिलाफ—

"भारत के नभ का प्रभापूर्य्य
शीतल-च्छाय सांस्कृतिक-सूर्य्य
अस्तमित आज रे, तमस्तूर्य्य दिङ्मण्डल,
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान,
है ऊर्म्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल!"

जैसी रचना में कोई 'शिरस्त्राण' या 'तमस्तूर्य्य' जैसे पदों का मार्मिक सौन्दर्य्य, काव्यगत ऊर्जस्वित् ओज; अथवा "है ऊर्म्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल", में शब्दों के बेरोक बहाव के भीतर से सचमुच ही लहराती हुई लहरों को देखने

के लिए अपने अमूल्य समय को नाहक खतरे में डालना पसंद करे। विशेषतया तब, जबकि बिना किसी अड़चन के, प्रसाद-गुण और वैदर्भी रीति से युक्त गुप्त जी का परिपुष्ट साहित्य प्राप्त होता हो—

"पवन कुसुम-पट झटक रहा है,
भौंरे को यह खटक रहा है,
दोनों का मन अटक रहा है,
इनमें ही अनुकूलो!"

सो कोई कारण नहीं कि समष्टि (Majority) से बगावत की साध न रखते हुए भी मैं निरालाजी की कविता-सिकता से 'नव उज्ज्वल जल-धार' निकालने की फालतू कोशिश करूँ। पर एक बात है, मुझे ढाक के हरे-भरे घने जंगलों से उतनी खुशी नहीं होती, जितनी 'तुर्की' (मुजफ्फरपुर) स्टेशन के पास खड़े उस अद्भुत, एकाकी पेड़ को देखकर होती है, जिसका नाम किसी को नहीं मालूम, जिसके फल से किसी का भी मुँह मीठा नहीं हुआ, पर जिसके जोड़ का एक ही पेड़ कहीं इतनी बड़ी दुनियाँ में पाया जाता है।

संस्कृत में कालिदास की कविता के जितने प्रशंसक हैं, उतने समझदार नहीं। हो भी नहीं सकते। कारण, तारीफें कुछ Superstition की तरह फैलती जाती हैं, जाँच के वक्त सचाई की आँच के आगे वह मोम की तरह पिघल पड़ती हैं। मैं अपवाद पर विवाद करना नहीं चाहता। हाँ, तो कालिदास की कविता के हल्केपन की तारीफ में जो आप दूर-

दूर उड़नेवाले हैं, वे उसकी गुरुता कैसे समझ सकते हैं? इसीलिए हमारे आलोचना-ग्रन्थों ने कविता को हमेशा सहृदय-हृदय-संवेद्य ही कहा है। और तब भी कवि को यह कहने का सम्पूर्ण अधिकार है कि—

"कौन जान सका किसी के हृदय को?
सच नहीं होता सदा अनुमान है!"

साहित्य में चाहे समाज की मूर्त्ति ही विराजमान रहती हो, कवि चाहे समाज का प्रतिनिधि ही हो, पर साहित्य—उच्च तथा प्रौढ़ साहित्य कभी भी जन-साधारण की—सर्व समाज की वस्तु होने लायक नहीं, क्योंकि साहित्य और समाज में जितना सामञ्जस्य है, उतना ही भेद भी है, साहित्य समाज से हमेशा उन्नत स्तर पर रहता है।

यदि कालिदास की कविता समाजवादियों को धारणा-सी केवल सरल होती, तो जब संस्कृत के अहलेजबां लोग भी थे, न तो उसके अर्थ का अनर्थ किया जाता और न मल्लिनाथ को यह लिखने को जरूरत पड़ती—

"कालिदासस्य कविता दुर्व्याख्या-विष-मूर्च्छिता,
एषा सञ्जीवनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति।"

और फिर उतने बड़े विद्वान् टीकाकार को इस नन्हें से काम के लिए आत्म-प्रशंसा करने की, जबर्दस्ती उसे पेंचदार या अत्यन्त दुरूह बताकर यह ऐसा पद्य लिखने की भी कोई आवश्यकता न होती—

"कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती,
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशाः !"

इसे केवल नम्रता-निदर्शन नहीं कहा जा सकता। कहना हास्यास्पद भी होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि ऊँची कविताएँ सर्व-सुगम नहीं होतीं, और यह भी कि सिर्फ सादगी ही ऊँची कविताओं की पहचान नहीं है।

वर्ण-विन्यास-कला

१

सुन्दर शरीर के माध्यम से उदात्त आत्मा का अवतार अत्यन्त दुर्लभ है। कृष्ण की मोहिनी मूर्त्ति में ईश्वर की सकल-कलाओं का समावेश मानना सौन्दर्य्योपासना का ऐसा ही आवेश है। "अकेली सुन्दरता कल्याणि, सकल ऐश्वर्य्यों का आधान।" सुन्दर भाषा ही कविता की शरीर-सुषमा है। भीतरी गुणों के सम्यक् परिचय से वञ्चित रहने पर भी वाह्य-सौन्दर्य्य अपनी ओर आकृष्ट किए विना नहीं रहता।

"ललित-लवङ्ग-लता-परिशीलन-
कोमल-मलय-समीरे,
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-
कूजित-कुञ्ज-कुटीरे"

सुन कर शायद ही कोई व्यक्ति व्याख्या के लिए अड़ा रहेगा। इसीलिए 'सुबन्धु' ने 'वासवदत्ता' में बताया है—

"अविदित-गुणाऽपि सत्कवि-भणितिः
कर्णेषु वमति मधु-धाराम्,

अनधिगत-परिमलाऽपि हि हरति
दृशं मालती माला।"

अन्तर्दर्शन से पहले मैं उसी—काव्य के शरीर-स्वरूप 'भाषा' गत सौन्दर्य्य, अर्थात् वर्ण-विन्यास-कला से यहाँ आरम्भ करता हूँ।

काव्य की भाषा 'भारवि' के शब्दों में 'प्रसन्न-गम्भीर-पदा' हो या 'जयदेव' की उक्ति के अनुसार 'मधुर-कोमल-कान्त-पदावली' वाली, किन्तु उसे Pope की अनुभूति के अनुरूप—
"It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo to the sense."
होना ही चाहिए। मेरा खयाल है कि निराला जी ने अपनी कविताओं में अधिक से अधिक भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। वह कालिदास या वर्ड्सवर्थ की भाषा की भाँति सरल या स्वाभाविक भले ही न हो, पर टेनिसन या भवभूति की भाषा के समान 'ध्वनि-प्रधान' तो है ही।

वह जब ओजस्वी छंद लिखते हैं, माइकेल और मिल्टन से एक कदम आगे बढ़ते दीख पड़ते हैं, केवल आन्तरिक अधिकार वा आकार-प्रकार के कारण नहीं—अजस्र विद्युत् प्रवाह और सजल-मेघ-मन्द्र ध्वनि (Sound) के कारण भी। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' उनकी इस शक्ति के उज्ज्वल उदाहरण हैं। माइकेल या मिल्टन में यदि उद्दाम उद्वेग है तो निराला में आँधी-तूफान; उनमें अगर बिजली की कड़क है तो इनमें वज्र का निर्घोष।

"ये अश्रु राम के" आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार,
हो श्वसित पवन-उनचास, पिता-पक्ष से तुमुल,
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरङ्ग भङ्ग उठते पहाड़,
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष,
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव,
वज्राङ्ग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।"

—राम की शक्तिपूजा

समग्र 'पैराडाइज लॉस्ट" या "मेघनाद वध" में सन्तुलित भाव-भाषा के आवेग से उन्मत्त इसके मुकाबले का ओजस्वी 'बन्द' मिलना मुश्किल है।

"करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर द्वार
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय,
लड़ना विरोध से द्वन्द्व-समर
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।
कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्म्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध द्वार का छाया तम तरने को,
करने को ज्ञानोद्धत प्रहार

तोड़ने को विषम-वज्र-द्वार
उमड़े भारत का भ्रम अपार हरने को !"
—तुलसीदास

यह है निराला की ओजस्विनी, तेजस्विनी अपनी वाणी। जैसी उच्छल उद्भावनाएँ, वैसी ही चुस्त-दुरुस्त भाषा! भादों के उमड़े काले बादलों में शरद् के सूर्य्य की कितनी प्रखर ज्योति कैद है! कैसी अग्नि-वीणा में कैसा आग का राग!

मैं इसे ही वर्ण-विन्यास-कला कहता हूँ। यह शब्द-कला अनुप्रास या यमकादि से विशेष बहुमूल्य है। यह कष्ट-क्लिष्ट या अधम काव्य कह कर टाल देने की चीज नहीं।

"एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयः"

यहाँ गकार या दकार के अनुप्रास मात्र के लिए कवि भवभूति ने गद्गदनदद् नहीं लिखा है, वरन् उसके इन्हीं वर्णों ने गद्गद शब्द करती हुई गोदावरी की नीर—धार की साफ और सच्ची तसवीर उतार दी है।

"नजरुल इस्लाम" की तमाम नहीं तो अधिकांश काव्य-कृतियों में इस कला का प्रभुत्व है; और निराला जी में तो 'The sound must seem an echo to the sense' का मर्म प्रत्येक पद-विन्यास पर मालूम किया जा सकता है।

१— झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन-घोर,
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।
अरे वर्ष के हर्ष,
बरस तू बरस-बरस रस-धार.

पार ले चल तू मुझको,
दिखा मुझको भी निज गर्जन-भैरव संसार।
उथल-पुथल कर हृदय मचा हलचल
चल रे चल
मेरे पागल बादल !
धँसता दल-दल
हँसता है नद खल.खल—
बहता, कहता कुलकुल-कलकल-कलकल !
—"परिमल"

२— मौन रही हार
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते शृङ्गार !
कन-कन कर कङ्कण
प्रिय किन-किन रव किङ्किणी
रणन-रणन नूपुर उर लाज लौट रङ्किणी
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार
प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृङ्गार !
"—गीतिका"

३— अस्ताचल रवि जल छल-छल छवि
स्तब्ध विश्व-कवि जीवन उन्मन,
मन्द पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन !
—"गीतिका"

४— घोर शिशिर, डूबा जग अस्थिर,
तिमिर-तिमिर हो गए दिशा-पल,
प्रति-तरङ्ग पर सिहर अङ्ग भर,
व्याकुल तरणी तरणी चंचल !
*   *   *   *
सौध-शिखर पर प्रात मनोहर

कनकगात तुम अरुण चरण धर,
सरणि-सरणि पर उतर रही भर
छन्द-भ्रमर गुञ्जित नीलोत्पल !

—"गीतिका"

५— मधु ऋतु रात, मधुर अधरों की
पी मधु सुध-बुध खो ली
खुले अलक, मुँद गए पलक-दल
श्रम-सुख की हद हो ली !

—"गीतिका"

प्रत्येक कविता के शब्द अपने भावों को आत्मनैव निवेदित कर रहे हैं। खुले दल की सुरभि आप अपनी पहचान—अपने कुसुम के रूप-नाम बता रही है।

प्रथम पद-वन्ध के गाते समय ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे सचमुच सामने के आसमान में बादल-दल झूम रहा, मँड़ला रहा, गरज रहा हो, सचमुच पास ही कोई उन्मद नद कल-कल कुल-कुल करता बह रहा हो ! इसमें 'टेनिसन' की—

I chatter over stony ways,
In little sharps and trebles
I buble into eddying bays,
I babble on the pebbles.

—The Brook.

I bable on the pebbles *जिस प्रकार 'ब्रूक' की अपनी ही बोली जान पड़ती है, उसी प्रकार का* Sound *'धँसता दल-दल, हँसता है नद खल-खल,' में मिलता है।*

नद की 'खल-खल' हँसी, कुल-कुल, कल-कल, कल-कल' कहते बहना अनमोल है।

दूसरे में, 'कङ्कण-किङ्किणी और नूपुर की धुन सुन रुक-रुक कर डगमग पग रखती, सहृदय वधू की मुग्ध आशङ्काओं से किसे सहानुभूति न होगी! कन-कन,-किन-किन,-रणन-रणन की ध्वनि-तरङ्गें मुखर आभूषणों की खुली बगावतें हैं।

तीसरे में, सन्ध्या-समय सूर्य्य के अस्ताचल पर पहुँचते ही एक अजीब उदासी, सन्नाटा छाया हुआ है, धीरे-धीरे बयार डोल रही है, पानी जैसे 'छल-छल' रो रहा है। ऐसे स्तब्ध-उदास धूम्र-धूमिल वातावरण की सृष्टि करने में ध्वनिमय—'अस्ताचल रवि, जल छल-छल छवि' पद कितना सफल है! इसके सामने 'शेली' की

"The sun is warm, the sky is clear,
The waves are dancing fast and bright."

या 'वर्डसवर्थ' की

"It is a beauteous evening, calm and free,
The holy time is quiet as a Nun
Breathless with adoration; the broad sun
is sinking down in its tranquility."

ये पंक्तियाँ प्रचुर-भाव-भरित रहने पर भी कैसी सूनी-सूनी सी लगती हैं!

चौथे में, "प्रति-तरङ्ग पर सिहर अङ्ग भर" या "सौध शिखर पर प्रात मनोहर, कनक गात तुम अरुण चरण धर"

पढ़ते समय जयदेव के—'निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्' विद्यापति के—'काम कम्बु भरि कनक सम्भु परि ढारत सुरसरि धारा' की सारी माधुरी मुँह में भर जाती है।

और पाँचवे में, "खुले अलक, मुँद गए पलक-दल" प्रणय की खुशबू-भरी साँस से हौले-हौले हिलती मोती की ललित लड़ी की तरह अपनी शृङ्गार-सुषमा को स्फुट कर रहा है।

ऐसे शब्दों के सञ्चयन में, सुगुम्फन में कितनी तन्मयता, कितनी बारीकी है—यह कवि के साथ एकतान होकर आप अनुभव करना चाहिए। कहीं ओज, कहीं माधुर्य्य, कहीं शृङ्गार और कहीं कारुण्य की यह सर्वत्र सफल सृष्टि कवि की कितनी सच्ची साधना की परिचायिका है—यह भी निष्पक्ष भाव से विचार करना चाहिए। मैंने उदाहरणों में इसीलिए Variety का आश्रय लिया है। ओज और माधुर्य्य का तो निराला जी ने समान-रूप से सृजन किया है–जैसे शृङ्गारिक और दार्शनिक भावों का।

इसके प्रमाणार्थ सिर्फ 'जागो फिर एकबार' की दोरुखी तसवीर देखना भी काफी होगा। "माधुर्य्य की स्फूत्ति में" कवि कहता है—

"प्यारे! जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार
जागो फिर एक बार!

आँखें अलियों-सी किस मधु की गलियों में फँसी
बंद कर पाखें ?
पी रही हैं मधु मौन ?
अथवा सोई कमल-कोरकों में ?
—बंद हो रहा गुञ्जार ?
जागो फिर एक बार !

और दूसरी बार "ओज की ज्योति में" जगाता है—

"समर में अमर कर प्राण
गान गाए महासिन्धु से
सिन्धु-नद-तीर-वासी,
सैन्धव तुरङ्गों पर
चतुरङ्ग चमू संग
—सवा-सवा लाख पर एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्द सिंह निज नाम जब कहाऊँगा !
किसने सुनाया यह वीर-जन-मोहन
अति भैरव संग्राम राग ?
फाग का खेला रण बारहों महीनों में ?
शेरों की माँद में आया है आज स्यार !
जागो फिर एक बार !

एक ओर से सुकुमार शृङ्गार का सुन्दर रंगीन चित्र देता है—

"अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में चित्रित हुई है देख,
यामिनी-गन्धा जगी,
एकटक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय
आशाओं भरी, मौन भाषा—बहु-भावमयी,
हेर रही चन्द्र को चाव से,

शिशिर-भार-व्याकुल कुल खुले फूल झुके हुए,
आया कलियों में मधुर
मद-उर-यौवन-उभार
जागो फिर एक बार !

दूसरी तरफ से दर्शन का सूर्य्योज्ज्वल प्रकाश दिखलाता है—

सत् श्री अकाल
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल
तीनों गुण, ताप त्रय
अभय हो गए थे तुम
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान
अमृत-सन्तान तीव्र भेद कर सप्तावरण मरण-लोक
पहुँचे थे वहाँ, जहाँ आसन है सहस्रार !
जागो फिर एक बार !!

यह द्विविध निर्माण "प्रिय-प्रवास" और "चोखे चौपदे" की भाषा की तरह केवल द्विविधा में डाल देनेवाला नहीं, रस-सिद्ध कवि के शाब्दिक तथा आर्थिक सन्तुलन; (Balance) साहित्य तथा दर्शन के मर्म-स्थान पर समान अधिकार—एक शब्द में महाकवित्व का व्यञ्जक है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने छन्द-बन्धन में क्षणिक विश्राम दे-देकर स्वर-व्यञ्जनों की आवर्त्तमयी एक ऐसी कल्लोल-ध्वनि दी है, जिससे उनके काव्योद्यान में हमेशा मधुमास कोयल की कूक, और भौंरे का गुंजार भरता रहा है। मेरा कदापि यह अभि-प्राय नहीं कि वैसे ध्वनि-सौन्दर्य्य पर उनसे पहले या बाद के

अन्य कवियों ने दृष्टिपात किया ही नहीं, किन्तु उन्हों ने अपनी समस्त रुचिर रचनाओं के भीतर उसे गौरव देकर उसके सङ्गीत-माधुर्य्य या अङ्ग-भङ्गि के प्रति जो अपना आन्तरिक आग्रह प्रकट किया है, इसलिए मैं उन्हें ही इस सूक्ष्म-सौन्दर्य्य का पहला पारखी मानता हूँ। वैसा शब्द-बन्ध भावों को सँवार कर उन्हें और अधिक स्पष्ट तथा आकर्षक बना देता है। मैं उसे महज अनुप्रास न कह कर सौन्दर्य्य ही के अम्बुधि की स्वर्णाभ तरङ्ग कहूँगा, यों रूप में हाड़-चाम की तरह वह भी शब्दों की आवृत्ति या curl के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

"अमन्द-मिलदिन्दिरे निखिल-माधुरी-मन्दिरे
मुकुन्द-मुख-चन्दिरे चिरमिदं चकोरायताम्।"
"कलिन्द-नग-नन्दिनी-तट-सुरद्रुमालम्बिनी
मदीय-मति-चुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी।"
"तावत्कोकिल! विरसान्
यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्
यावन्मिलदलिमालः
कोऽपि रसालः समुल्लसति!"
"विलोलद्वानीरं तव जननि तीरं श्रितवताम्।" इत्यादि।

इनमें 'इन्दिरे' के स्वल्प-विराम के अनन्तर 'मन्दिरे' और 'चन्दिरे' की आवृत्ति-भङ्गि; 'नन्दिनी' के श्रवण-सुखद उच्चारण करने पर 'लम्बिनी' 'चुम्बिनी' और 'कादम्बिनी' का सरस सङ्गीत; 'विरसान्' के बाद 'दिवसान्' 'अलिमालः' के पश्चात् 'रसालः' का रसना-रसाल अधर-स्पर्श; और 'वानीरं' के साथ 'तीरं' का धीर-मिलन सहृदयों के लिए विशेषतया प्रमोद-प्रद है।

ऐसे Curl का सुन्दर उपयोग Shelley ने भी अपने Cloud में किया है—

"I bring fresh showers for the
thirsting flowers"
"From my wings are shaken the
dews that waken".

यहाँ भी 'शावर्स' और 'फ्लावर्स', 'शेकेन' और 'वेकेन' में वैसी ही सङ्गीत-माधुरी मिलती है। तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ प्रभृति महान् से महत्तर कवियों से भी यह कला अछूती नहीं रही है। किन्तु निरालाजी ने तो अपनी समस्त कमनीय कृतियों में इसकी प्रतिष्ठा की है।

(क) "यौवन की माया सा आया
मोहन का सम्मोहन ध्यान"
"किस विनोद की तृषित गोद में"
"कह, सोया किस खंजन-वन में
उन नयनों का अंजन-राग ?"
"चमक रहे अब किन तारों में
उन हारों के मुक्ता हीर ?" (परिमल)

(ख) "जग के रंगमंच की संगिनि"
"प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत मन्त्र नव"
"वहाँ स्नेह की प्रतनु देह की बिना गेह की बैठी नूतन"
"काट अन्ध उर के बन्धन स्तर"
"बजे सजे उर के इस सुर के सब तार !"
"वर्ण गन्ध धर मधु मरन्द भर"
"नील डोर का हिँडोर चढ़ी-पेंग रहता।" (गीतिका)

(ग) "अन्ध-प्रगति-बन्ध, किया
सिन्धु को प्रयाण,"
"लता-कुञ्ज में मधुप-पुञ्ज के गुन-गुन-गुन गुञ्जन में"
"श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन"
"जैसे पार कर क्षार सागर
अप्सरा सुघर
सिक्त-तन-केश, शत लहरों पर
काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर।"
"मैं जीर्ण-साज बहु-छिद्र आज,
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन!"

(अनामिका)

विशेष विवरण की आवश्यकता नहीं, स्वयं पढ़कर ऐसे छन्द-बन्द की विशेषता उच्चारण की सुलभता और मिठास के द्वारा अनुभूत हो सकती है। मैं अपनी ओर से इतना ही कहना पर्य्याप्त समझता हूँ कि यहाँ जिस वर्ण-विन्यास कला पर लिख रहा हूँ, वह कपोल-कल्पित, केवल कृत्रिम या अशास्त्रीय नहीं है। महाकवियों ने "शब्दार्थौ च तुलाधृताविव"—शब्द और अर्थ को बराबर पैमाने पर तोला है। उन्होंने शब्द-सौन्दर्य को तरह देनेवाले के लिए महत्त्व-प्रदर्शन न कर लिखा है—'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।' यानी सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा समानरूप से करता है। "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" का विशकलन करते समय स्वयं पण्डितराज ने "काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः" उदाहरण

देकर शब्द की महत्ता प्रकट की है। जब श्रवणमात्र से किसी शब्दावली को काव्य कहा जा सकता है, तो निश्चय ही उसमें ओज, माधुर्य्य, सन्तुलन, संगीत रहने चाहिएँ।

"वक्रोक्ति-जीवितम्" के रचयिता कुन्तल ने इस कला का 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' 'नाम-करण' किया है। उन्होंने लिखा है—

'एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः
स्वल्पान्तरास्त्रिधा प्रोक्ता वर्ण-विन्यास-वक्रता
वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः द्विरुक्तास्तलनादयः
शिष्टाश्चरादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः
क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना
सा स्वराणामसारूप्यात्परां पुष्णाति वक्रताम्।"

—द्वितीयोन्मेषे

ऊपर जिन अनेक उदाहरणों में मैंने इस कला के वैशिष्ट्य या बारीकी की ओर संक्षेप में संकेत किया है, वहाँ गूँजते हुए श्रुति-सुखद शब्द भावों के आवरण नहीं, आभरण हैं। पर निरालाजी ने अपनी रचनाओं में निर्माण-शक्ति का दुरुपयोग भी किया है। भाषा पर स्थापित अपने अखण्ड आधिपत्य को असंयत भी होने दिया है। उसे यमक या अनुप्रास को अन्वेषण का आयास कहते किसी भी सहृदय को हिचक न होगी। संस्कृत में 'भारवि' और 'सुबन्धु' ने भी कुछ ऐसा तमाशा किया है पर मैं इसे पन्तजी की शतशः 'सा-सा-पी-पी' की भाँति नीरस तथा निरर्थ समझता हूँ।

जहाँ शब्द भावों की प्रतिध्वनि न करते हुए भी वाचाल रहते हैं, वहाँ वे कौतुक से अधिक कोप का कारण बन जाते हैं।

"तरु गत-किसलय, जीवित मिस लय,
विसमय विषमय सलिल अनिल चल"

शब्दाडम्बर से शून्य नहीं समझा जा सकता। इसमें सिर्फ "सलिल अनिल चल" सुप्रयुक्त है। इसका प्रवाह ठीक हवा से हिलती जल-धार जैसा है।

काव्य की भाषा ओजस्विनी हो या मधुर, किन्तु उसे सुन्दर तो होना ही चाहिए। निराला जी ने जहाँ सुन्दर से सुन्दरतर भाषा के नमूने हिन्दी को दिए हैं, वहाँ पिछले खेवे के कुछ कवियों की तरह वृथा यमक और अनुप्रासों का भी जगह-जगह दुष्प्रयोग कर डाला है। निश्चय ही वैसी पंक्तियाँ उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं, किन्तु वे उनकी हैं, इसीलिए क्षम्य नहीं हो सकतीं।

"जटिल जीवन-नद में तिर-तिर
डूब जाती हो तुम चुपचाप
सतत द्रुत-गति-मयि अयि फिर-फिर
उभर करती हो प्रेमालाप!"

"देख दिव्य छवि लोचन हारे।
रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रम रुचि,
पलक तरल तम मृग-दृग-तारे!"

जैसी विकसित भाषा लिखनेवाला कवि जब—

"जलद नहीं, जीवनद, जिलाया
जब कि जगज्जीवन्मृत को,

तपन-ताप-सन्तप्त तृषातुर
तरुण-तमाल-तलाश्रित को"

लिखता है तो दुलारेलाल के दोहों की दुःखद याद आ जाती है।

कविवर आरसी ने भी शायद काव्य में ओज लाने के खयाल से स्थान स्थान पर ऐसी ही नीरस तथा असंस्कृत भाषा का प्रयोग किया है :—

"कहो कौन तुम अंध सुरापी
गन्ध सुरापी रक्त
लुप्त ज्ञप्ति हो सुप्त पीवरी
निद्रासक्त अशक्त !" आदि।

कहना न होगा, कविता की सत्य-सुषमा को सुरक्षित रखने के लिए ऐसे शब्द-कंकाल कितनी बुरी तरह वर्जनीय हैं !

(३)

भारतीय समीक्षा-पद्धति के अनुसार ध्वनि कविता की आत्मा कहलाती है। जिसके काव्य में जितनी ही अधिक ध्वनि-प्रवणता होगी, वह उतना ही महान् कवि माना जायगा। आचार्य्य आनन्दवर्द्धन का कहना है—

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु
निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम्
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति
प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभा-विशेषम् ।"

—ध्वन्यालोके

ध्वनि का मर्म मालूम किए बगैर शब्दों की कीमत समझ में

नहीं आ सकती। और जिसने शब्दों की कीमत नहीं जानी, आँधी की तरह एक की जगह ग्यारह शब्दों को उड़ाया किया, वह जनता का प्रतिनिधि कवि होकर भी सत्साहित्य की दृष्टि से नगण्य ही रहेगा। आज बाजार में जिस प्रकार की कविताएँ गाजर-मूली की तरह टके सेर बिक रही हैं, उनमें ध्वनि-तत्व का नाम तक नदारद है। उनके सिद्धहस्त रचयिता इस व्यर्थ 'पदार्थ' की जिज्ञासा भी नहीं रखते। मजाक यह कि उलटे वे ही ध्वनि-प्रवण गभीर काव्य लिखनेवालों को कृत्रिम कह कर अपनी ओर Born poet होने का इशारा करते हैं। अस्तु। यहाँ मैं निरालाजी की, सार्थक शब्दों का चरितार्थ प्रयोग करनेवाली अन्तर्दृष्टि के कुछ नमूने पेश कर रहा हूँ। सहृदय पाठक देखें, उन शब्दों से भावों को कितना उत्कर्ष, कितना प्रकर्ष प्राप्त हुआ है!

१—"सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर पथ से चली।"

—'सन्ध्या-कुमारी'

२—"डोलती नाव प्रखर है धार
सँभालो जीवन-खेवन-हार।"

—'खेवा'

३—"ऐ त्रिलोकजित् इन्द्र-धनुर्धर"

४—"आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास।"

—'बादल'

५—"क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं
पथिक, वे कोमल कुसुम हैं ?—कौन हैं ?"

—'नयन'

इत्यादि । पहले पद्य में 'नीरवता की सखी' शब्द 'सन्ध्या-कुमारी' की प्रशान्त प्रकृति व्यक्त कर रहा है, और 'कुमारीत्व' भी । महत्कुल (बल्कि स्वर्गलोग) की बालिका होने के कारण वह प्रकृति से गम्भीर है, तभी तो उसने 'शान्ति' को सखी बनाया है ! और फिर चूँकि कुमारी है, उसे किसी सखी की भी जरूर जरूरत हुई ।

'कंधे पर डाले बाँह' कहने से उसका 'नवयौवनात्व' प्रतीत होता है । तभी तो वह सखी के काँधे से काँधा जोड़े, लिपटी-लिपटी सी चल रही है, और तभी तो उसमें शैशव-सुलभ चपलता की अपेक्षा गाम्भीर्य्य-गरिमा ही अधिक है । 'छाँह सी' कहने से यह ज्ञात होता है कि वह कितनी तन्वङ्गी तथा सुकुमार है ! एक कुमारी के लिए सुकुमारी होना सहज स्वाभाविक है । इसीलिए वह अकेली चल भी तो नही रही, सखी के कँधे पर बाँह डाले हुए है ।

'अम्बर-पथ से चली' से उसका 'परी' होना मालूम पड़ता है । जिस रीति से वह आसमान से उतर रही है, वह मानुषी हो ही नहीं सकती । फिर 'अम्बर-पथ' शब्द उसके चरणों —तलवों की कोमलता भी बतलाता है । वह जैसे सूखी जमीन पर चलने के लायक नहीं, सिर्फ अम्बर-पथ से ही चल सकती है । एक बात और । आकाश का पर्य्यायवाची कोई भी अन्य शब्द यहाँ उतना नहीं फब सकता, जितना 'अम्बर' शब्द । ऐसा लगता है, जैसे वह धुनी-रुई-वाले सफेद,

मुलायम, गलीचेदार (अम्बर) रास्ते से चली है।

'गीतिका' के

"अम्बर-पथ से मन्थर सन्ध्या श्यामा
उतर रही पृथ्वी पर कोमल-पद भार !"

में भी इसी भाव की रक्षा की गई है। इसी प्रकार 'रे कुछ न हुआ तो क्या" वाले गीत में—

"सब छाया से छाया,
नभ नीला दिखलाया"

कह कर 'नभ' शब्द की कीमत जाहिर की गई है। वहाँ पर अम्बर या व्योम शब्द सुपयुक्त नहीं हो सकता था। कारण, 'नभ' ऐसा श्रीहीन मालूम पड़ता है, जैसे सचमुच ही उसकी चमक (भा) छीन ली गई हो। इसीलिए तो वह नीला-नीला दिखलाई पड़ता है।

दूसरे में—'जीवन-खेवन-हार' का जीवन शब्द इतना अधिक जीवन रखता है कि कोई भी दूसरा प्रतिशब्द उसका मुकाबला नहीं कर सकता। इसी प्रकार 'गीतिका' के—

"गर्जित जीवन - झरना
उद्देश्य—पार पथ करना"

या 'अनामिका' के—

"पथ पर मेरा जीवन भर दो,
बादल हे अनन्त अम्बर के,
बरस सलिल गति ऊर्म्मिल कर दो !"

में 'जीवन' का सजीव सुप्रयोग किया गया है। इसे 'श्लेषालङ्कार' मात्र कह कर नहीं हटाया जा सकता, क्योंकि यह तो

हृदय से आश्लेष करने वाला साक्षात् जीवन (प्राण) है, बाहरी चटक-मटक के लिए अलङ्कार मात्र नहीं।

तीसरे और चौथे में—बादल पर अर्जुन का सुरूप रूपक खड़ा कर "त्रिलोकजित् इन्द्र धनुर्धर" विशेषण दिया गया है। कवि कहना चाहता है कि अर्जुन ने कठिन तपस्या के बाद त्रिलोक-विजयी इन्द्र का धनुष प्राप्त कर अब श्यामा (द्रौपदी) के अधरों की प्यास मिटाने के लिए लौटा आ रहा है।

यह वही श्यामा है जो उसके प्रस्थान के समय खुल कर रो भी न सकी थी, आँसुओं को अमङ्गल की निशानी समझ रही थी। और यह वही श्यामा है जिसकी एक चितवन को, आँसुओं की मुसकान से गीली चितवन को अर्जुन पाथेय की तरह लेकर चला था। [कवि भारवि ने उस समय की कैसी साफ तसवीर दी है—

"तुषार-लेखाकुलितोत्पलाभे (पङ्कज-कोष ओस-गन जैसे)
पर्यश्रुणी मङ्गल-भङ्ग-भीरुः
अगूढ-भावाऽपि विलोकने सा
न लोचने मीलयितुं विषेहे।
अकृत्रिम-प्रेमरसाभिरामं
रामार्पितं दृष्टि-विलोभि दृष्टम्,
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं
जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः।"]

रूपक भी बादल पर है, जो सचमुच इन्द्र-धनुष धारण किए हुए है, सचमुच ही जो श्यामा (पृथ्वी) की प्यास मिटाने के लिए आया है। और "श्यामा" से भी ज्यादा फबीला तो यहाँ

"प्यास" है, जो प्राकृतिक सत्य की हैसियत से भी वस्तुतः पानी लिए हुए के प्रति है।

और पाँचवे में—"कौन हैं" शब्द का मूल्य कौन दे सकता है? पथिक से नयन कहना चाहते हैं कि अगर वे (जिनके लिए वह ग्रीष्म, वर्षा, शीत के दिन गिनते रहे हैं) कुसुम-सुकुमार नहीं, तो पत्थर-दिल जरूर होंगे? पर वह ऐसा कहें कैसे, कितनी जबर्दस्त ममता है उन पर! इसी सुन्दर, सुगभीर भाव को कवि "कौन हैं" कहकर बतला रहा है। इसी प्रकार—

"सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्त्तुं किमप्युद्यतः।"

में "किमपि" शब्द के द्वारा बहुमूल्य भाव की स्फूर्त्ति हुई है।

जब उदयन को यह कहा गया कि पद्मावती का पाणि-ग्रहण किए बिना उन्हें उनकी प्रियतमा वासवदत्ता नहीं मिलने की, तब उसे पाने की आकुल उत्कण्ठा ही से जैसे उन्हों ने व्याह के बचन दे दिए। पर वासवदत्ता के प्रति अपने खुले दिल के उमड़ते हुए प्यार की सुध आते ही वह हैरान होगए। सोचने लगे, नए व्याह के लिए झटपट हामी भर कर उन्होंने प्यार की कैसी सच्ची पहचान बताई! ऐसे ही अन्तर्द्वन्द्व के समय उन्होंने उपर्य्युक्त पंक्ति कही है—"प्रिये! तुम्हारे परम प्रेम का दम्भ करनेवाला मैं आज कुछ ('किमपि' जो महापाप से भी बढ़कर होने के सबब जैसे जबान पर लाने के लायक है ही नहीं) और ही करने को उतारू हो गया हूँ।"

जो हृदय की वेदना बहुत-बहुत भावों से भी नहीं व्यक्त हो

सकती थी, उसे ही सुप्रयुक्त एक शब्द–'किमपि' सुस्पष्ट कर रहा है। इस कला का नाम कुन्तल ने 'संवृतिवक्रता' बतलाया है। "कौन हैं" में भी निश्चय ही इसी का प्रदर्शन हुआ है।

अबतक प्रकाशित निराला जी की चारों काव्य-कृतियों (परिमल, गीतिका, अनामिका और तुलसीदास) में इस तरह के अनेक-अनेक उदाहरण वर्तमान हैं। मेरा आभास दिग्दर्शन मात्र के लिए है। अस्तु। 'प्रसाद' जी का एक प्रशंसित गीत है :—

"बीती विभावरी जाग री
अम्बर-पनघट पर डुबा रही
तारा-घट ऊषा नागरी।"

इसमें सुखद पदों का कोमल कलरव है। ऊषा नागरी का गगन के पनघट पर तारा रूपी घट डुबाना कमाल का चित्र है। फिर 'भैरव' राग का यह मधुर रूप भी कम प्रशंसनीय नहीं। पर जहाँ तक उपर्युक्त अन्वर्थ-शब्द-प्रयोग की कला का सम्बन्ध है, यह उस सुषमा से वञ्चित ही है। कारण, 'विभावरी' 'अम्बर' आदि शब्द सार्थक नहीं, केवल उच्चारण-संगीत की संगति के लिए आए हुए हैं। इसके साथ निराला जी का एक गीत देखें—

"यामिनी जागी
अलस पङ्कज-दृग अरुण,
मुख तरुण अनुरागी।"

इसमें शब्द-संगीत तो प्रीत करने वाला है ही, अर्थ-गाम्भीर्य्य भी वरेण्य है। एक शब्द है 'यामिनी'। इसका अर्थ है प्रहरों वाली। बताया जा रहा है कि उसे (प्रेयसी को) वह रात जगकर बितानी पड़ी है, जिसके प्रहर-प्रहर पहाड़ हो रहे थे। अब प्रातःकाल उसके पङ्कज-दृग अरुण तथा अलस हो रहे हैं, जिनमें प्रिय के (तरुण) मुख-दर्शन का अनुराग भरा हुआ है।

एक तो वे रात भर (जिसके प्रति प्रहर पर उसका ध्यान रहा है। यह प्रहर भी क्षण-क्षण, पल-पल का उपलक्षण मात्र है।) जगने के कारण लाल थे ही, फिर उनमें प्रिय का राग भी भरा है, जैसे इसलिए उनकी ललाई और गाढ़ी हो गई है।

इसके अतिरिक्त रूपक में स्वाभाविक सत्य भी है। रात बिताने के बाद प्रातःकाल पङ्कज अरुण (सूर्य्य) के तरुण-मुख के अनुरागी होते ही हैं।

दूसरा शब्द है 'पङ्कज'। यह इङ्गित करता है कि इस समय उसकी आँखें 'अरविन्द' या 'इन्दीवर' नहीं, 'पङ्कज' हो रही हैं। वह वाष्प-कलुषित या अश्रु-पङ्किल होने के कारण कमल की नहीं, पङ्कज की प्रभावाली दीख रही हैं। क्या 'अरविन्द' या 'इन्दीवर' इस भाव को व्यक्त कर सकता था?

तीसरा शब्द 'अरुण' और चौथा 'अनुरागी' है। यहाँ 'रक्त' या 'प्रेमी' कहने से जो विद्रूपता आती, वह कल्पनैकगम्य है।

इस प्रकार सार्थक शब्दों की उज्ज्वल तूलिका से काव्य-

भावना की जो तसवीर तैयार होती है, उसे झटपट देख लेने या over look करने से कैसे काम चल सकता है !

सोने का पानी या रंगीनी देखकर खरीदी जानेवाली तसबीर नन्दलाल बोस या अवनीन्द्रनाथ के धुँधले-मटमैले पेंसिल स्केच से मुकाबला करने की चीज नहीं। पजनेस और निराला की तुलना कैसी गजब की सूझ है !

(४)

निरालाजी ने सभी रसों में कविताएँ लिखी हैं, और सर्वत्र रसानुसारिणी भाषा का प्रयोग कर यह अच्छी तरह दरसा दिया है कि शब्द-संकलन-कला में वह अपना सानी नहीं रखते। जहाँ भाषा का ओज भाव की तेजस्विता का व्यञ्जक नहीं, वहाँ भरसक उन्होंने उन्मद पदों का प्रयोग नहीं किया। समस्त-शब्दों द्वारा ओजः-सृष्टि करने की रूढ़ि के भी वह कायल नहीं हैं। कवि की आन्तरिक शक्ति के बिना पदों में विद्युद् गति आ नहीं सकती। निरालाजी कोष के जकड़े शब्दों को अपनी शान से शान चढ़ा, जगमगा कर प्रयोग में लाए हैं। इसीलिए उनके समस्त और असमस्त—दोनों प्रकार के पद अपने सहज ओजस्वी स्वरूप में दीख पड़ते हैं।

समस्त-पद—

राघव-लाघव,—रावण-वारण,—गत-युग्म-प्रहर
उद्धत-लङ्कापति-मर्दित-कपि-दल-बल-विस्तर

असमस्त-पद—

लौटे युग दल, राक्षस पदतल पृथ्वी टलमल

विँध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल
—राम की शक्तिपूजा

दिनकर ने अपने 'ताण्डव' और 'हिमालय' में कुछ-कुछ ओजस्वी शब्दों का गुम्फन किया है। यद्यपि भाव बहुत ऊँचे तो क्या, अत्यन्त साधारण कोटि के हैं, फिर भी उद्भट शब्दों द्वारा ओजःसृष्टि की अच्छी कोशिश है।

"नाचो अग्निखंड भर स्वर में
फूँक फूँक ज्वाला अम्बर में
अनिल-कोप द्रुम-दल जल-थल में
अभय विश्व के उर-अन्तर में
डिमडिम डमरु बजा निज कर में
नाचो नयन तृतीय तरेरे
ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो
चिता-भूमि बन जाय अरेरे।"
—'ताण्डव'

इसके समक्ष संस्कृत के 'ताण्डव' की केवल एक पंक्ति रख रहा हूँ। यहाँ कल्पना की उच्चता तथा शब्दों की गौर गरिमा पर भी दृष्टिपात करना होगा।

"प्रचलित-करि-कृत्ति-पर्य्यन्त-चञ्चन्नखाघात—
भिन्नेन्दुनिःष्यन्दमानामृतश्च्योत-जीवत्कपालावली
मुक्त-चण्डाट्टहास-त्रसद्-भूरि-भूत प्रवृत्त-स्तुति !"
—भवभूति

अर्थात् गज-चर्म ओढ़ कर जब भगवान शङ्कर ने नृत्य करना आरम्भ किया, उनके भावमय चञ्चल हाथों-उँगलियों के चोखे नाखून सिर पर रहनेवाली चन्द्रमा की कला में चुभ गए, जिससे

अमृत-बिन्दुओं का फुहारा छूटने लगा। फिर क्या था? उनके गले के मुण्ड-मालयों ने अमृत पीना शुरू कर दिया। उनमें फिर से नई जान आ गई, और वे जोर-जोर से हँसने—अट्टहास करने लगे। अब तो शङ्करजी के गणों—भूत-प्रेत-पिशाचों में बड़ी भारी खलबली मची। वे मारे डरके उनकी स्तुति करने लगे।

कितना अद्भुत और महान् भाव प्रकटित किया गया है इसमें! कैसी भयानक तसवीर आँखों के आगे खिँच जाती है!

निरालाजी का, ऐसे ही भयानक चित्रण में, दिशाकाश को कँपाते हुए ओजस्वी शब्दों का यह 'स्टेंजा' भी कितना उज्ज्वल, कितना उदात्त उतरा है!—

"मोगल-दल-बल के जलद यान
दर्पित-पद उन्मद नद पठान
हैं बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शर खर तर
छाया ऊपर घन अन्धकार
टूटता वज्र दह दुर्निवार
नीचे प्लावन की प्रलय-धार ध्वनि हर-हर।"

—तुलसीदास

इसमें तुलसीदास के समय की भारतवर्ष की स्थिति का संक्षिप्त वर्णन है—चढ़ी हुई मोगलों की सेना बादल की तरह है; जमीन पर पठान लोग जैसे दर्प से बढ़ते हुए नद हैं। वे ऐसी तीर-जैसी प्रखरतर गति से यहाँ के लोगों के दिशा और देश के ज्ञान को बहा रहे हैं। इस प्रकार ऊपर गहरा

अँधेरा छाया हुआ है और न रोका जानेवाला वज्र टूटता है, नीचे (पटानों द्वारा) बाढ़ की प्रलय की धारा बह रही है, 'हर-हर' (हरण कर, हरण कर) की ध्वनि आ रही है।

निराला के अलावा इस युग का और कौनसा कवि हिन्दी-कविता की आत्मा ही नहीं, अङ्गयष्टि को भी इतना प्रौढ़ तथा सबल बना सका है ?

भावों का तारतम्य

भावों का अनिन्द्य सौन्दर्य्य, आन्तरिक उल्लास झंकृतिपूर्ण, सुललित शब्दों को सफल बना सकता है। यदि रमणीयता शब्दों ही भर में रही, भाव उनके आनुपातिक न हुए तो उस काव्य की तुलना उस वाचाल व्यक्ति से की जा सकती है, जो जो बोलता तो खूब है, पर करता कुछ भी नहीं। यानी गरजता भर है, बरसता कभी नहीं, शरत्काल के बादल-सा है। सुन्दर से सुन्दर भावों को प्रकट करने के लिए सुन्दर से सुन्दर शब्द उपकरणमात्र हैं। शब्दों की यहीं तक वास्तविक प्रशंसा है, यहीं तक सफलता है। हम सुन्दर शब्दों के द्वारा सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति पसंद करते हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि हमारा लक्ष्य भावों का सुनना ही होता है।

मैं एक अपने अधिक घनिष्ठ व्यक्ति से बहुत दिनों तक उसका नाम न पूछ सका था, उसकी उपाधि भर से सन्तुष्ट रहता, वार्त्तालाप आदि में काम चला लेता था। क्योंकि मुझे भय था कि कहीं उसका नाम 'झींगन' या 'दमड़ी' न हो।

पर परमात्मा की परम कृपा; उसका नाम 'रामचन्द्र' निकला, तब कहीं मैंने सन्तोष की साँस ली। बस मेरी शब्द-प्रियता यहीं समाप्त हो जाती है। उसके भावों ने मुझसे पहले ही मैत्री कर ली थी। हम 'काव्य' को 'रामचन्द्र' के नाम भर में देखने के लिए कहाँ अड़े रहते हैं, भावों के साथ हमारी अनायास ही आन्तर मैत्री-स्थापना जो हो जाती है। अगर नाम भी ठीक रहे तो और अधिक अच्छा है। 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।' किन्तु आकृतिमात्र को "गुणाः" रूप से ग्रहण करना ठीक नहीं। इसीलिए आचार्यों ने कहा है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' निरालाजी का वर्ण-विन्यास जितना सफल-निर्मल है, भावों का तारतम्य भी उतना ही सजल।

अगर ऊँची उड़ान लेनेवाला ही कवि कहलाता तो घुग्घू वगैरह को कवित्व के दायरे के चारों ओर मँड़लाने के लिए छोड़, चील वगैरह पंछी कभी से महाकवि पद पर प्रतिष्ठित होते। और यदि सुदूरदर्शिता ही काव्य-कला का मापक-यन्त्र होती तो निःसन्देह जटायु के वंशज सर्वश्रेष्ठ कलाकार सिद्ध होते। मतलब यह कि चिड़ियों से बढ़कर जल-चर या थलचर कभी कवि होने का दावा नहीं कर सकते, विशेषतः 'छायावाद' का सवाल सामने आने पर; क्योंकि विहग-वृन्द अनादि काल से 'अनन्त-पथ-पथिक' होने की सचाई पेश कर सकते हैं। तो क्या कवित्व का सारा रहस्य इसी चिड़िया होने में है?

आर्य्य-समाजी और आर्य्य-धर्म्मियों में यह विवाद कभी नहीं हो सकता कि वे दोनों वेदों के अनुगामी नहीं हैं। पर सब के अनन्तर उनमें इतना अन्तर अवश्य रह सकता है कि एक ही मंत्र पर दोनों अलग-अलग राग अलापते हैं। वह शङ्कर या रामानुज की भाँति नहीं, सूर या कबीर की अपार भक्ति और ज्ञान-धार की पारदर्शिता के समान भी नहीं, महज ढोल और ढोलक की तरह। इनमें कौन अर्थ और कौन अनर्थ करता है—यह कहना न ज्यादा मुश्किल है और न बहुत आसान। हाँ, तो चील ने ऊँची उड़ान लेने के बाद आज तक कौन सा विश्वजनीन सन्देश विश्व को सुनाया, या विश्व उससे निकट भविष्यत् में सुनने की आशा रखता है, यही समझना होगा, और जटायुवंशी दूरतर प्रदेश से किस वस्तु का निरीक्षण करता है, इसका भी निरीक्षण करना होगा। उत्पतन और दर्शन की इसी विभिन्नता ने एक को पंछी और दूसरे को कलाकार बनाया है। यों भी कल्पना की आँखें और उसके पर अबतक नजर नहीं आए, पर उसकी ऊँची उड़ान को सूक्ष्म-दृष्टि वालों ने निहाल हो-होकर देखा है। मतलब यह कि केवल उड़ान भरने या अणु-वीक्षण-यंत्र को मात करनेवाली करामाती पाँखोंवाली आँखों की बदौलत कोई चिड़िया तो आसानी से बन सकता है पर कवि हर्गिज नहीं। और उत्पतन या दृष्टि की उपयुक्त शक्ति के अनुपात से प्राप्त प्रौढ़ि का प्रकर्ष मनुष्य को विद्वान्, अधिक से अधिक कवि भी बना

दे सकता है, पर महाकवि नहीं;—महाविद्वान् भी नहीं, कारण, देखकर लिखी चीजें चाहे जितनी खूबसूरत हों; तोते की टें-टें वाली विद्वत्ता चाहे जितनी भी व्यापक हो, वह जीवित कदापि नहीं। जीवन तथा प्रकृति के वाह्य और आन्तर सौन्दर्य्य की अनुभूतियाँ वास्तविक विद्वता की विभूतियाँ हैं। फलतः एक महाकवि के लिए कल्पनाएँ, अनुभूतियाँ—और उनके औचित्य-अनौचित्य, उपादेय-अनुपादेय आदि का संयम, विवेक, विभेद करनेवाली प्रयोगोन्मुखी विद्वत्ता—सब अपेक्षित हैं। मैं जानता हूँ कि इन तीनों गुणों का सामञ्जस्यपूर्ण संमिश्रण (Harmonious Combination) बहुत कम देखने को मिलता है। कालिदास की उक्ति है कि गुण-राशि के एकत्र राशीकरण में विधाता की कृपणता विख्यात है—'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।' पर यह विचार भी तो सर्व-वादि-सम्मत है कि महाकवि होना सर्व-सुलभ नहीं। "येनास्मिन्नतिविचित्र-कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।" इसीलिए राशि-राशि कवियों के बीच भी दो ही चार कालिदास आदि महाकवि कहे जाते हैं।

मुझे यह लिखते हुए गर्व-मिश्रित हर्ष होता है कि आज हिन्दी के असंख्य नवीन कवियों में जो दो-चार महाकवि कहलाने लायक हैं, उनमें निरालाजी का उच्चतम स्थान है। इनकी कविताओं में अलौकिक कल्पना, अनुभूति तथा प्रौढ़ विद्वत्ता प्राप्त होती है। काव्य के तीन समुदित हेतु 'प्रतिभा',

'लोक, शास्त्र तथा प्राचीन काव्यों के अनुशीलन से प्राप्त निपुणता,' और 'अभ्यास'—इनके मननीय काव्यों में प्रत्यक्ष प्राप्त होते हैं। हृदय तथा मस्तिष्क—क्रमशः काव्य और विज्ञान का उद्गम-क्षेत्र माना जाता है। दूसरे शब्दों में विचार-प्रधान प्रत्येक शास्त्र को मस्तिष्क तथा अनुभूति-प्रधान केवल काव्य-साहित्य को हृदय कहने की परिपाटी चल पड़ी है। पर मेरा खयाल है कि ऐसा कहना किसी भावुक व्यक्ति का भावुकता के प्रति ललित उद्गारमात्र है। अवश्य रस मानस-गोचर होने के कारण काव्य की आत्मा की हैसियत से काव्य को भी हृदय की वस्तु बना देता है, पर जिस सामग्री से रस का परिपाक होता है, उसका सङ्कलन तो बिना बुद्धि का सहारा लिए, बिना मस्तिष्क को सम्मान दिए, होने लायक नहीं। इसलिए यद्यपि काव्य सरस गुलाब के फूलों का हृदयहारी हार है; कलाकार का उद्देश्य यद्यपि फूलों ही का गुम्फन करना है, किन्तु तथापि गुलाब के फूलों का सञ्चय कँटीली डार से होने के कारण कोमल उँगलियों को क्षत-विक्षत कराना ही होगा। शुष्क कह कर उपेक्षित बुद्धि या मस्तिष्क को बाद देने पर भावुकता प्रलाप का अपर पर्य्याय हो जायगी। त्रिकाल-दर्शिनी बुद्धिः। वर्त्तमान के साथ ही अतीत तथा अनागत को देखने की शक्ति बुद्धि में है। अतएव कवि को 'क्रान्तदर्शी' कहा जाता है। 'कवयः क्रान्तदर्शिनः'। 'क्रान्त' का अर्थ दृष्टि से अतिक्रान्त, आँखों से ओझल वस्तुजात है, जिसे कवि देखता है। निश्चय ही यह

बात बुद्धि, मस्तिष्क या कल्पना ही से साध्य है। शकुन्तला-नाटक के सप्तमअङ्क में कालिदास ने विमान द्वारा स्वर्ग से उतरते हुए दुष्यन्त का चित्रण किया है। 'शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी' इत्यादि। क्या उन्होंने विमान पर चढ़कर इसका अनुभव किया था? कदापि नहीं। किन्तु आज कोई विमान पर चढ़कर उस चित्रण की सचाई का अंदाजा कर सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कला-पक्ष में केवल भावुकता से काम नहीं चल सकता। शेक्सपियर की कला-कृतियाँ कल्पना शक्ति की प्रबलता पर सुस्थित हैं। मिल्टन का "पैराडाइज लॉस्ट" प्रौढ़ कल्पना-शक्ति का प्रत्यक्ष आदर्श है। संस्कृत के सफल काव्य-नाटक तीन-चौथाई कल्पना, मस्तिष्क या बुद्धि तथा एक हिस्सा हृदय मिलाकर निर्मित हुए हैं। आज के उच्छृङ्खल भावुकता-वादी चाहे अपने को कालिदास, शेक्सपियर, मिल्टन, रवीन्द्रनाथ सब से बढ़कर समझें—पर उनकी समझ वास्तविकता से कोई वास्ता रखती नहीं मालूम पड़ती। अस्तु। निराला जी ने बुद्धि और हृदय—दोनों को समान रूप से सम्मानित किया है। कहना न होगा, इसीलिए उनका काव्य, स्थिर तथा गम्भीर हुआ है। मैं यहाँ उनके कुछ भावों का संक्षिप्त परिचय दूँगा।

(क) "अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अञ्चल को करता है छन-छन,
कुसुम कपोलों पर वे लोल शिशिर कण!
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,

नव प्रभात जीवन में भर देते हो !"

—परिमल'

कवि कहता है—अन्धकार में मेरे आँसू पृथ्वी के श्यामल अञ्चल को प्रतिपल सिक्त करते रहते हैं। उसके(पृथ्वीके)कपोल-कुसुमों पर वही तो चपल ओस-कण बन कर झलमल करते हैं ! किन्तु तुम अपनी किरणों (कर) से आँसुओं को पोंछते और जीवन में नवल प्रभात ला देते हो।

दुःख-निशा के अन्धकार में जब कवि रोता है—तो उसका रोदन किसी कोने में छुपकर नहीं होता, उससे समस्त प्रकृति सिक्त हो उठती है। (Personified) पृथ्वी का गीला आँचल, पृथ्वी के खिलेखिले गालों—फूले फूलों पर काँपते हुए ओस के बूँद,–उसी के आँसुओं के कण हैं तो। (१) अर्थात् कवि के आँसू किसी व्यक्ति के आँसू नहीं—समस्त विश्व-प्रकृति के प्रतिनिधि आँसू हैं। उसके आँसुओं से अशेष पृथ्वी के उर-नयन भीगे हुए हैं। (२) अर्थात् कवि का दुख अपना दुख नहीं, उसके अन्तर में समाए हुए सम्पूर्ण जगत् का दुख है, इसीलिए उसके आँसू पुँछते ही पृथ्वी के आँसू पुँछ जाते हैं, वह प्रकाश में विहँस उठती है; इसीलिए उसके जीवन में नव-जीवन आते ही समस्त संसार में स्वर्णिम प्रभात फैल जाता है। (३) अर्थात् कवि के आँसू भी व्यर्थ नहीं बहते, उससे सारा संसार सिक्त होता है; सहानुभूति पाता है, संवेदनशील बनता है, नहीं तो वह महज मिट्टी-पत्थर ही का रह जाता।

हाँ, वह 'रात' के 'अन्धकार' में रोता है, विश्व में अपने अश्रुओं का प्रदर्शन करने के लिए प्रभात की प्रभा में नहीं। उस समय—पृथ्वी पर स्वर्गीय सजल प्रभात के उतरते ही तो वह भी फूलों में खिलखिलाने लगता है।

कैसा आदर्श आशावाद! ईश्वर पर विश्वास रखकर ही अश्रु-सिक्त उच्छ्वास! फिर प्राकृतिक वैज्ञानिक सत्य भी, रात के अँधियाले में ओस का गिरना, सुबह सूरज की किरनों से पुँछ जाना! साथ ही अश्रु की विश्वजनीनता को विशद करने के लिए सुप्रयुक्त 'धरा' में आँचल, कपोल के सिंचन द्वारा कैसा सर्वाङ्ग-सुन्दर चित्र!

(ख) "दे मैं करूँ वरण!
जननि! दुख-हरण पद-राग-रञ्जित मरण!
लांछना इंधन, हृदय तल जले अनल,
भक्ति-नत-नयन मैं चलूँ अविरत सबल,
पार कर जीवन-प्रलोभन-समुपकरण।
प्राण-सङ्घात के सिन्धु के तीर मैं—
गिनता रहूँगा न कितने तरङ्ग हैं!
धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा तरण।
दे मैं करूँ वरण।"

—'गीतिका'

मा, सकल दुःख-द्वन्द्वों को मेटनेवाला, अपने चरण-राग से रञ्जित मरण मुझे दो, मैं उसे वरण करूँ। मैं उसी मरण को वरण करूँगा जो तुम्हारे अरुण-चरणों के रंग में रँगा हुआ होगा।

मेरे हृदय तल में जलते हुए अनल के लिए लाँछनाएँ

इंधन हों ; मैं अपनी ही आग में अपने सकल कलङ्क-कल्मषों को जलाकर खाक कर सकूँ । मेरे नयन विनय-नत रहें, और मैं जीवन के प्रलोभनों को पार करता हुआ, सबल होकर निरन्तर सत्य-पथ से चलता रहूँ ।

प्राण-सङ्घात के सिन्धु के किनारे पहुँच कर मैं लहरें नहीं गिनने लगूँगा, मैं तो धीर-समीर के समान उसे अनायास ही तिर कर पार कर लूँगा—मा, तुम मुझे अपने चरणों के रंग में रँगा हुआ मरण वरण करने के लिए दो ।

भक्ति-वेदना-विकल इस गीत के प्रत्येक पद की सार्थकता, पद और भाव का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध-सौन्दर्य आत्म-निरीक्षण की वस्तु है । गीताञ्जलि के किसी भी श्रेष्ठ गीत के साथ तुलना करने पर यह लघु न होगा ।

(ग) "सुमन भर न लिये सखि, वसन्त गया ।"

* * * *

विवश नयनोन्मादवश हँस कर तकी
देखती ही देखती री मैं थकी
अलस पग, मग में ठगी-सी रह गई
मुकुल-व्याकुल-श्री-सुरभि बह कह गई
—सुमन भर न लिये सखि, वसन्त गया !"
—'परिमल'

अर्थ सुस्पष्ट है । पर भावों की भङ्गिमाएँ विशेषतया अनु-शीलनोपयुक्त ! "सखि, वसन्त बीत गया, पर तूने फूल तो चुने ही नहीं !" कितना द्रावक है । एक 'भर' शब्द के द्वारा कवि उसकी कितनी भारी भूल की ओर इशारा करता है,—

जहाँ उसे न केवल फूल चुनने थे, किन्तु उन्हें भर-भर कर रखना था (कितनी आकुलता का अभिव्यञ्जन है !) वहाँ उसने जबर्दस्त चूक की। आँखों के नशे से पागल हो हँसती-हँसती बहार का रोशन ही देखती-देखती अलसा उठी, थक गई। और तबतक, जबतक उसके पैरों में थकान रही, वह खोई हुई की तरह अकचका कर रास्ते में खड़ी ही रही कि वलियों की नाजुक खूबसूरती, तेज खुशबू यह कहती हुई बह गई, गुजर गई—"री सखी ! अब वसन्त तो बीत गया, पर तू ने कुछ भी फूल न चुने।"

यह ऐसा पछतावा हमलोगों के जीवन के कितना अधिक निकट है, भला हम यह कैसे न कहें कि जीवन का अतिशय सन्निकर्ष पाकर ही कोई ऐसी पंक्तियाँ लिख सकता है !

रवीन्द्रनाथ के "भैरवी गान" के भावुक नायक ने भी इसी प्रकार अपना अविकच, आकुल उद्गार प्रकट किया है—

"शेष देखिब, पड़िल सुख-यौवन फूलेर मतन खसिया
हाय वसन्त वायु मिछे चले गेल श्वसिया,
सेइ ये खाने जगत् छिल एक काले
सेइखाने आछे बसिया।"

अर्थात्—फिर अन्त में देखूँगा कि मेरा ही सुखद यौवन फूल की तरह चू पड़ा; झर गया, वसन्त-समीर व्यर्थ ही उच्छ्वास छोड़ता हुआ चला गया, और तब भी संसार ज्यों का त्यों अपनी जगह पर मौजूद है।

किन्तु उसके ऐसे चिंतन में Mental conflect से

अधिक उपर्युक्त सखी की सखेद वेदना की मार्मिकता नहीं है।

(घ) "सखि, वसन्त आया।

किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर-प्रिय-उर तरु-पतिका
मधुप-वृन्द वंदी, पिक-स्वर नभ सरसाया
सखि वसन्त आया।"

—'गीतिका'

री सखी, देखो न, वसन्त आगया! कोंपलों की गुलाबी सारी पहनकर, नवयौवना लतिका अपने प्रियतम पति तरु की छाती से लिपट गई (यह जैसे राजा-रानी का वैवाहिक प्रणय-मिलन हुआ, इसीलिए—) झुंड के झुंड भौरें—ये वन्दी-जन गान करने लगे। और इतना ही क्यों? वन के राजा-रानी का यह मङ्गलमय विवाह केवल भूतल ही में उछाह फैलानेवाला नहीं, देखो न, स्वर्ग में भी कितना सजीव उल्लास छाया हुआ है। आसमान में कोयल की मतवाली पञ्चम तान उसी स्वर्गीय आनन्द-गान का प्रतीक है तो!

कितना मधुर तथा मनोहर भाव-चित्रण है यह। संस्कृत-साहित्य में इस आशय के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में लिखा है—

"नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता
करम्बिताङ्गी मकरन्दसीकरैः
दृशा नृपेण स्मित-शोभि-कुड्मला
दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे।"

अर्थात्—नई उम्रवाली लता मलयानिल (किन्तु यहाँ 'गन्धवह'

शब्द उसकी विलासिता, व्यसन-प्रियता व्यक्त कर रहा है, मतलब कि वह खुशबू का शौकीन है, खूब इत्र वगैरह लगाए है) से चूमी जाने पर पसीने-पसीने हो गई है। ये मकरन्द-विन्दु पसीने ही की पहचान हैं। कलियों में मुसकिराने वाली है वह, और रागावेश से मानो जरा झूम भी रही है। राजा नल की आँखें उसे भय और प्रेम दोनों प्रकार से निहारती रहीं।

कालिदास का भी एक सरस पद्य है—

"पर्य्याप्त-पुष्प-स्तवक-स्तनाभ्यः
स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापु
र्विनम्रशाखा-भुज-बन्धनानि।"

—कुमारसम्भव

फूलों के गुच्छे जिनके नवोदित स्तन हैं, मन्द-मन्द हिलते हुए लाल पल्लव ही फड़कते हुए होंठ,—ऐसी रूपसी बहुओं-सी बाल-वल्लरियों का आलिङ्गन (झुकी डालों की भुजाओं का बन्धन) पेड़ों ने पाया।

इन दोनों संस्कृत-पद्यों से, भावों की गरिमा की दृष्टि से, 'गीतिका' का गीत सुन्दर है। कालिदास ने लता के स्तन, होंठ और बाजुओं का जैसा वर्णन किया है—उसे स्थूल चित्र ही कहा जा सकता है। श्रीहर्ष का चित्रण उससे अधिक सूक्ष्म, सुन्दर एवं सुकोमल है। 'मकरन्द-सीकरैः करम्बिता' और 'दरकम्पिनी' में छवि की बारीकी देखते ही बनती है। किन्तु गीतिका की 'नव-वय-लतिका' अतिनवीन है। उसकी

गुलाबी साड़ी में जितनी चमक है, उतनी ही तरु को पति-रूप से वरण करने में उसकी भाव-स्वच्छ पवित्रता, सादगी। श्रीहर्ष की लता वारवनिता-सी जैसे अपनी छवि छटा की छुरी से आप ही घायल है पर यह ललित लतिका अपने मङ्गलमय वैवाहिक गान-वाद्यों से जैसे जमीन और आसमान दोनों को गुञ्जित कर रही है; स्वर्ग और पृथ्वी दोनों में उल्लास फैला रही है।

(ङ) "खुले केश अशेष शोभा भर रहे
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु उर पर तर रहे
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे
ज्योति की तन्वी, तड़ित-द्युति ने क्षमा माँगी,
यामिनी जागी।"

कवि कहता है कि उसके केशों की अशेष छवि का भला कौन बखान करता, जो गुच्छ के गुच्छ खुल-खुल कर उसकी पीठ, गरदन, छाती और बाजुओं पर तैरते-से (floating hair) दीख पड़ने थे (अङ्गों का कैसा सजल सौन्दर्य्य, पिच्छल छवि ध्वनित होती है!) और उनके बीच में उसका गोरा-गोरा चमचम चमकता मुखड़ा, ऐसा मालूम पड़ता था, जैसे श्यामल बादलों की राशि सूरज को घेर रही हो। वह तो जैसे ज्योति ही की बनी हुई थी, तभी तो विजली की छन भर चमक उठने वाली रोशनी ने उससे माफी माँग ली थी। वह उसका क्या मुकाबला करती? संस्कृत के एक कवि ने—

"तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ"

अर्थात् "अपने ही उच्छल उज्ज्वल लावण्य के लहराते हुए समुद्र

में उसके अंग-अंग तैरते-से लगते हैं" लिखकर 'पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु उर पर तिर रहे' से अत्यधिक सौन्दर्य्य की सृष्टि की है।

रवीन्द्रनाथ के—

"अङ्गे-अङ्गे यौवनेर तरङ्ग उच्छल
लावण्येर माया-मन्त्रे स्थिर, अचञ्चल"
—विजयिनी

मे संस्कृत-पद्य से भी ज्यादा बारीकी और गहराई है। संस्कृत की सुन्दरी के अंग-अंग अपने 'लावण्य-जलधि' की तरंगों पर तैरते हैं, तो रवीन्द्र की रूपसी के अंग-अंग में यौवन ही तरंगित हो रहा है, वह स्वयं तो सौन्दर्य्य के जादू से जैसे हिलती-डोलती तक नहीं,—अजान-सी उस चपल-रहस्य के पहचानने में ध्यान-मग्न हो गई है। इधर निराला जी ने भी इतनी ही सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं—

"घेर अङ्ग-अङ्ग को
लहरी तरङ्ग वह प्रथम तारुण्य की !"
—प्रेयसी

(च) "चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?"
"किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछतीं वे दृग-नीर ?"
—यमुना

(छ) "हम अगर बहते मिले
क्या कहोगी भी कि हाँ पहचानते
या अपरिचित खोल प्रिय चितवन
मगन बह जावगे पल में—

परम प्रिय सँग अतल जल में।"

—निवेदन

(ज) किसके स्वर से आज मिला दोगी वर्षों का गान ?
आज तुम्हारा किस विशाल वक्षःस्थल में अवसान ?
आज जहाँ छिप जाओगी
फिर न हाय! तुम गाओगी।"

—तरङ्गों के प्रति

(झ) "नीड़स्थ पक्षी की, तम-विभावरी गई,
विस्तृत अनन्त पथ गगन का मुक्त हुआ
मुक्त-पंख उज्वल प्रभात में
ज्योतिर्मय चारों ओर
परिचय सब अपना ही!
स्थिर मैं आनन्द में चिर-काल जाल-मुक्त
ज्ञानम्बुधि वीचि-रहित।"

—'जागरण'

(ञ) "सुमन चुने जाने के ज्यों भय
भीरु थर-थराते तरु-किसलय"

* * * *

"मेरा दुख अरण्य, किसलय दल—
ज्वाल, जली काली तुम कोयल
दैन्य-डाल पर बैठी प्रतिपल
सुना रही हो तान!"

* * * *

"खो न जाय वह चपल बाल-गति
डरती हुई चली यौवन प्रति।"

* * * *

"दीपित दीप-प्रकाश, कञ्ज-छबि
मञ्जु-मञ्जु हँस खोली।"

—'गीतिका'

(च) इस पद्य में कवि 'यमुना' से पूछता है कि—"बता, वह वृन्दावन क्या हुआ, जहाँ तेरे पनघट पर कभी अगणित गोप-गोपियों के चञ्चल चरण दीख पड़ते थे?" पर इस भाव की स्फुरणा इतनी ही ऋजु-रीति से नहीं हो रही, कवि ने 'चल चरणों का व्याकुल पनघट' कह कर इसमें 'कुछ और' जोड़ दिया है। अर्थात् उस जड़ पनघट में तब इतनी चेतन सरसता आ गई थी कि वह उन चरणों की प्राप्ति का जैसे स्वयं अभ्यासी हो गया था; उन सुकुमार चरणों की स्पर्श-सुषमा का स्वयं आनन्द लूट लेता था, तभी तो वह उसके लिए व्याकुल था। 'पनघट' की ऐसी व्याकुलता सहृदयों को सचमुच ही शान्ति प्रदान करने वाली है।

यह भी कवि की 'यमुना' ही के प्रति उक्ति है। "ऐ यमुने! जिन गोप-बालाओं को कभी यहाँ श्याम के विरह में तड़पते देखता था; जलते देखा था, आज वे कहाँ बैठ कर आँचल में आँसू पोंछ रही हैं?" यहाँ उक्त पूर्व से भी बढ़ कर अपूर्व भाव-भङ्गी है। कवि कहता है, वे ग्वालिनें किस विनोद की प्यासी गोद में (अर्थात् जो गोद आश्लेषादिजन्य आनन्द की पिपासा लिए हुए थी, जिसे सिर्फ हँसी-खुशी, राग-रंग ही पसंद था) आँखों का नीर पोंछ रही हैं! यह जैसे उसकी प्यास मिटाने का करुणापूर्ण प्रयत्न है! जब कि श्याम के विरह-ताप से सारा शरीर ही तप्त हो रहा था, गोद का प्यासा होना कितना नैसर्गिक, सुकुमार तथा कलापूर्ण है, फिर आँसुओं से

उसकी प्यास बुझाना तो और भी अधिक चमत्कारकारी touching है।

(छ) प्रेमी, जिसकी प्रेमिका प्रेमिकामात्र है, अपनी नहीं, कल ही किसी दूसरे की भी हो सकनेवाली, उससे कहता है कि "कुछ दिनों के बाद, जब हम दोनों की जीवनधारा समय-समीर से आन्दोलित होकर दो विभिन्न दिशाओं की ओर मुड़ेगी, तुम किसके साथ होगी, यह कौन जाने? पर ऐ प्रिये! अगर उन दिनों मैं कहीं बहता हुआ—अति पतित दशा में, तुम्हें मिल सका, तो क्या तुम मुझे पहचानोगी?—यह सोचोगी कि कभी इससे मेरा प्रेम नहीं तो परिचय अवश्य था? या इस अपरिचित (अपरिचित नहीं, तो क्या? यह ऐसी पहचान इस प्रकृति-चपल चितवन के लिए कितनी स्थायी होगी? आज मुझे हेर रही है, कल दूसरी तरफ रुख फेर लेगी, अगर मैं यही समझता कि कि आज की मैत्री चिरन्तन है, तो मुझे इस प्रकार अविश्वास या आशङ्का प्रकट करने की क्या आवश्यकता होती?) गैर-पहचानी प्यारी चितवन को खोलती,—दूसरी ओर मुड़कर मुसकिराती हुई अपने 'परम-प्रिय' के साथ नवीन-सुख के अतल जल में डूब जाओगी?

इस पद्य में 'बहते' तथा 'परम-प्रिय'—पदों द्वारा भावों को प्राप्त होनेवाली उद्दाम उत्तेजना, उज्ज्वल उत्कर्ष पर क्षण भर दृष्टिपात करना चाहिए। कवि कहलाना चाहता है, "यह जो उच्छृङ्खल प्रेम की परम प्रखर धार है, आज हम दोनों जिसकी

ललित लोल लहरियों पर लहरा रहे हैं, तैर-तैर कर किलोल कर रहे हैं, निश्चय ही कभी नित्य-सुख की साधक नहीं हो सकती, इससे मुझे मानव-जीवन का लक्ष्य-कूल कदापि नहीं मिल सकता, मुझे भविष्य में उत्थान-कल्याण या सुख-भोग की कल्पना नहीं करनी चाहिए, विशेषतया तब, जब कि तुम्हारा साथ भी छूटने वाला है—इसलिए अगर मैं कहीं 'बहता' हुआ मिला।

"परम-प्रिय" में बड़ा ही मार्मिक व्यङ्ग छिपा हुआ है। वह कहता है कि 'उसके भाग्य की बात कौन करे, मुझे छोड़कर तुम जिसके पास चली जाओगी, जिसकी वजह से भविष्यत् में मेरे बहने तक की सम्भावना है। इसलिए वह तो जरूर ही प्रिय (मुझ से) से बढ़कर परम-प्रिय होगा। जिसे पाकर तुम आनन्द के अपार पारावार में डूब जाओगी, अपने आज के इस परिचित—प्रिय को पहचानने लायक भी शायद नहीं रह सकोगी, उसके परम-प्रिय होने में भला संशय ही क्या है? इस कविता में पश्चिमी-शैली के स्वतन्त्र प्रेम (Free love) का वर्णन है। भावों में भारतीय अपनापन नहीं; पर उच्छ्वसित भावुकता है। कम से कम शब्दों में कितना अधिक अर्थ-गौरव भरा हुआ है!

(ज) कवि तरङ्गों से पूछता है—"तुम जिस उमंग, उल्लास से बहती चली जा रही हो, बताओ तो सही, आज

अपनी समस्त साधना किसे समर्पित करोगी ? आज किसके स्वर से अपना वर्षों का एकान्त-गान मिला दोगी ? आज किस विशाल वक्षःस्थल में विश्राम ग्रहण करना चाहती हो? जहाँ तुम छिप जाओगी, और हाय ! अब से यह तुम्हारा गान मुझे सुनने को नहीं मिलेगा ?" इस पद्य में कवि की भाव-तन्मयता विलोकनीय है। यह 'हाय' शब्द जैसे उसके हृदय की अपनी ही पुकार है। ये तरंगें जैसे उसकी अपनी हैं कोई-प्रकृति के साथ उसके हृदय की ऐसी ही एकाकारता है, उनके छिपने पर जैसे उसकी कोई प्रिय वस्तु खोई जा रही है। वह अधीर होकर उच्छ्वास छोड़ता है—'हाय अब से तुम गाओगी भी नहीं।'

(झ) कवि विशुद्ध दार्शनिक—योगी के समान जब आत्म-साक्षात्कार करता है, तो उसके प्रवुद्ध हृदय में केवल ज्योति, केवल विश्वजनीनता ही शिष्ट रह जाती है। कहा गया है कि—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।" अर्थात् उस 'पर तथा अवर' के दर्शन होते ही हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सभी संशय-संदेह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, साधक के सब वाह्य कर्म भी क्षीण हो जाते हैं; तभी 'एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।' इसी स्थिति का वर्णन है। घोसले में पड़े हुए पंछी की अँधेरी रात चली गई। [अपनी ही दैहिक मर्यादा में सीमित 'आत्मा' (अहम्) का अज्ञानान्धकार दूर हुआ] गगन का विस्तृत

अनन्त पथ मुक्त हो गया। अखिल - निखिल विश्व को आत्माकार देखने लगा। इस उज्ज्वल प्रभात में मुक्त-पंख होकर उड़ान भरते ही कोई अनजान नहीं नजर आता। एक ही पहचान सब की है—ज्योति, अर्थात् सब ओर केवल ज्योति ही ज्योति दीख पड़ती है। [यही 'भूमा' का स्वरूप है, "यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति"—जहाँ अपने से अतिरिक्त न और कुछ दीख पड़ता है, न सुन पड़ता है और न ज्ञात ही होता है। और जहाँ अपने से विभिन्न और कुछ दीख पड़ता है, वही 'अल्प' है, अज्ञान है, दुःख है। सुख केवल ज्ञान में—भूमा में है। ज्ञान आनन्दमय है।

"जौ निज मन परिहरै विकारा
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख
संसय, सोक अपारा"]
—तुलसीदास

मैं द्वन्द्व-रहित आनन्द में आत्म-रूप से स्थित हूँ। ज्ञान का समुद्र वीचि-विहीन है। यहाँ ज्वार-भाटे, उत्थान-पतन की तनिक भी आशङ्का नहीं। यह जिस स्थिति (Mood) का द्योतक पद्य है, निरालाजी, Browning-जैसे दार्शनिक कवियों के जीवन में उसकी अनेकशः सम्भावना होती है। 'गीताञ्जलि', 'नैवेद्य' 'खेया' 'सोनारतरी' आदि के अनेक गीत कवीन्द्र रवीन्द्र के किसी ऐसे ही 'मूड' विशेष के हैं। उनके लोक-जीवन से उन अलौकिक भावों की तुलना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि तब वे दिव्य-भाव केवल हवाई कल्पनाएँ, स्वर्णिम स्वप्न ही मालूम पड़ेंगे।

(ञ) १ यद्यपि हवा के हल्के झोंके से पेड़ के कोंपल हिल-डोल रहे हैं, पर कवि कहता है कि ऐसा नहीं, कँपने का कारण कुछ और ही है, उन्हें इस बात का बड़ा डर है कि कहीं उनके प्यारे फूल चुन न लिये जायँ। 'भीरु' और 'थरथराते' इस आलङ्कारिक भाव को और भी अधिक रमणीय बना रहे हैं। जैसे सुकोमल किसलय-दल सचमुच ही डर गये हों, सचमुच थर-थर करने लगे हों—कितनी बहुमूल्य निधि की लूट का खौफ है उन्हें !

२ "तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान"—नामक गीत में दुःखित हृदय से कवि अपनी व्यर्थता बताता हुआ—किसी अज्ञात शक्ति को सब श्रेय प्रदान करता है। उसका कथन है कि वह केवल यन्त्र-परिचालित, निमित्तमात्र है। वस्तुतः किसी दूसरे ही के द्वारा गान गाया जाता है, और गान भी उसीका अपना है। यह पारमार्थिक तथ्य तो है ही, पर यहाँ कवि के Melanchollic mood का उच्छ्वास-उद्गार 'कविता' को लक्ष्य कर है। वह कहता है—मेरा दुख अरण्य है, घनघोर जंगल, जिसका कहीं ओर-छोर नहीं,—नवोदित ताम्र किसलय—पेड़ों की टहनियों में नए निकले लाल-लाल कोंपल, मेरे ही अन्तर के अंगारे हैं। और तुम मेरी दीनता की विनत लता पर कूकनेवाली कोयल, (मेरी कविता !) उसी अँगारे में जल कर काली पड़ गई हो।

३ एक रूपसी की वयस्सन्धि का वर्णन है। वह अभी

बालिका भी है और जरा जवान भी। जवानी की तरफ धीरे-धीरे कदम बढ़ा रही है। इसी धीरता पर कवि की कमनीय कल्पना है कि—उसे अपने शैशव से ऐसा सहज स्नेह है, बचपन पर इतनी जबर्दस्त ममता है कि वह उसकी चाल छोड़ना चाहती ही नहीं, उसका साथ छोड़ते झिझकती है, जैसे इसीलिए हौले-हौले, डरती-डरती, जवानी की ओर पग बढ़ा रही है,—फिर एकाएक युवती कैसे हो जाती ?

४ होली—मधुयामिनी में प्रेयसी का प्रिय के साथ शृङ्गार वर्णन है। पहले कहा जा चुका है कि वह रात भर रति और राग का रंग घोल कर पति के साथ होली खेलने के लिए जगी रही है। अब इस पंक्ति में उसकी, अनन्तर की एक चेष्टा बतलाई जा रही है। रंग महल में एक ओर चिराग जल रहा था और वह हँसती-हँसती धीरे-धीरे अपने मुख-कमल को प्रकाश में ला रही थी। पद्य में है—'कंज-छबि मंजु-मंजु हँस खोली,' अर्थात् मधुर-मधुर हँसती हुई उसने कमल की छवि खोली, कमल को शोभा को विकास दिया। यों तो चिराग को सामने देखकर उसे अनायास हँसी आगई फिर धीरे-धीरे उसका खिला हुआ, कमल-सा मुखड़ा सामने आया। पर यहाँ वह चिराग सूरज का प्रतीक-सा प्रतीत होता है। इसीलिए उस ओर नजर पड़ते ही उसका मुख-कञ्ज मृदु-मृदु खुलता और खिलता जाता था। कैसी सुन्दर कल्पना है! यह कञ्ज का स्वभाव है कि वह सूर्य्य ही के सामने खुलता-खिलता है। और यहाँ

तो चिराग को देखते ही वह शर्मिन्दा होकर मुसकिरा देती थी—यही जैसे उस छवि का खुलना है।

इस प्रकार के शत-सहस्र उदाहरणों से भी किसी महाकवि की आन्तरिक महत्ता नहीं आँकी जा सकती, उसके लिए उसे साद्यन्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखना होता है, व्यक्ति, समाज तथा जीवन के प्रति उसके अपने दृष्टि-कोणों को परखना होता है, उसका व्यक्तित्व, उसकी मौलिकता, उसकी नवीनता—सबको सम्यक् रीति से समझना पड़ता है। ढूँढना पड़ता है कि आखिर ऐसी कौनसी वस्तु उसके पास है जिससे वह हमें प्रभावित करता है, वशंवद बना लेता है। पर मैं तो यहाँ आरब्ध क्रम पर ही चलना चाह रहा हूँ। ऐसी एकरसता को क्रम-भङ्ग-भीरुता मात्र नहीं, कवि के काव्य की विशदता, विवेकपूर्णता की पूरी-पूरी पहचान पाने, उसकी आत्मिक गम्भीरता तक उतरने के लिए प्रेरणा प्रदान करने वाला एक चपल-चटुल लघु स्पन्दन भर समझना चाहिए। अस्तु। आगे मैं काव्य-गत भावों की सम्बद्धता पर कुछ लिखूँगा। क्योंकि कविता में किसी उच्च तथा सुन्दर भावना का आरम्भ उतना कठिन नहीं, जितना कठिन उसका आनुपूर्विक निर्वाह, सर्वाङ्ग-सुन्दर परिपोष होता है। निराला जी ने भावों के परम्परित निर्वाह, एकतानता-स्थापन में कमाल हासिल किया है, यह उनकी अपनी, और आधुनिकों में अद्वितीय विशेषता है।

२

उद्यान में भाँत-भाँति के फूल खिले हुए हों, उनकी छबि देखने लायक ही होती है, पर अगर एक कविता में अनेक भाव हों, और वे सब पृथक्-पृथक्, परस्पर असम्बद्ध हों तो उनकी बदसूरती भी देखने ही लायक होगी,—वे भाव क्यों न जनक-नन्दिनी के लावराय के लिए ही लाये गये हों, पर उनकी कीमत शूर्पणखा के इन्हीं विद्युत्स्फुरित भावों की तरह आँकी जायगी—

"प्रकृति की सारी सौन्दर्य्य-राशि लज्जा से
सिर झुका लेती जब देखती है मेरा रूप
वायु के झकोरे से वन की लताएँ सब
झुक जातीं, नजर बचाती हैं—
अञ्चल से मानों हैं छिपाती मुख
देख यह अनुपम स्वरूप मेरा।"

—'पञ्चवटी-प्रसङ्ग'

आधुनिक अनेक कवियों की कविताओं में भावों के परस्पर असम्बन्ध का दोष प्रायः पाया जाता है। परन्तु निराला जी ने विभिन्न भाव-सुमनों की पावन वनमाला बड़े ही कौशल से बनाई है, वह कविता-देवी के गले में बहुत-बहुत फबती है, उन्हें खुद भी विश्वास है—

"लखो दिया है पहना
किसने यह हार बना
भारति उर में अपना
देख दृग थके!"

—'मित्र के प्रति'

परन्तु इसके पूर्व उन्होंने बड़ी कड़ी साधना की है, कठिन

श्रम किया है,—'तुलसीदास' 'राम की शक्तिपूजा' प्रभृति महत्कविताओं में उनका श्रम सुस्पष्ट लक्षित हो जाता है। जहाँ तक वे classical हैं, सर्वत्र ही उन्हें नियम-संयम, शास्त्र-अभ्यास की उच्च अनुवर्त्तिता करनी पड़ी है, चतुरस्र सौन्दर्य्य की सुरक्षा के लिए संनद्ध शैली का आश्रय ग्रहण करना पड़ा है। उनके प्रखर पाण्डित्य तथा प्रदीप्त प्रतिभा का सार्वभौम परिचय भी वहीं प्राप्त होता है। 'सरोज-स्मृति' 'सेवा-प्रारम्भ' आदि कविताएँ उनके कवि-हृदय के मधुरतर-स्तर से अपने आप आविर्भूत हुई हैं, यहाँ हृदय-पक्ष ही प्रबल है, इसलिए इनमें पूर्वोक्त कविताओं-जैसी अलौकिक चमत्कार-कारिता नहीं, मर्मस्पर्शिनी प्रिय भावना है।

कुछ लोगों की उग्र सम्मति पाण्डित्यपूर्ण कविताओं के विरोध में होती है। माघ-मिल्टन-माइकेल अतएव, उनके विचार से बहुत बड़े नहीं,—यहाँ मेरा मत उनसे नहीं मिलता। मेरा कहना है कि जो पाण्डित्य रस-पोषक, दोषों को दूरतः परिहार कर निरवद्य सौन्दर्य्य की सृष्टि करने में सर्वथा समर्थ हो, कवि को उसकी अपेक्षा अवश्य करनी चाहिए, पर जो केवल प्रदर्शन के लिए,—कमजोरों पर रोब गालिब करने भर के लिए हो, उसकी, उसे रस-व्याघात-हेतु समझ कर उपेक्षा कर देनी चाहिए। जो कुछ हो, मुझे शिशुपालवध, स्थल-विशेष को छोड़ कर नीरस नहीं लगता, 'मेघनादवध' में 'हृदय' से अधिक 'शक्ति' देखकर भी द्रुति कम नहीं होती,

They also serve who only stand and wait'
का विद्वान कवि मिल्टन हृदयहीन नहीं प्रतीत होता और सबसे बढ़कर यह कि सस्ती भावुकता का मैं दीवाना नहीं। मैं उच्चकोटि के काव्य को जनता (अपढ़, निरक्षर भट्टाचार्यों) की वस्तु नहीं मानता, पहले लिख चुका हूँ, और सरलता के कारण सुप्रसिद्ध कालिदास आदि को भी तथाकथित जनता नहीं समझती, खूब समझ चुका हूँ। निरालाजी ने कठिन से कठिन तथा सरल से सरल निर्माण कर दोनों ही मतों की मान्यता स्वीकृत की है। दोनों ही प्रकार के पाठक उनसे परिचित होंगे। अब भाव-सम्बद्धता के कुछ उदाहरण यहाँ प्रसङ्ग-प्राप्त हैं।

'बादल' कविता में "सव्यसाची (अर्जुन) से तुम अध्ययन अधीर" से आरम्भ किया हुआ रूपकात्मक भाव, "तुम आये; रथ का घर्घर-नाद, तुम्हारे आने का संवाद" प्रभृति पंक्तियों से पुष्ट होता हुआ "आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास" पर परिसमाप्त होता है। इन २२ पंक्तियों में कहीं भी क्रम-भङ्ग या असंयम नहीं। 'जुही की कली', 'जागृति में सुप्ति थी' 'शेफालिका' 'जागो फिर एक बार' 'कवि' 'प्रेयसी' आदि मुक्तवृत्तों की सृष्टि तो और भी अधिक भाव-क्रम से संघटित है, वहाँ छन्दों भर की मुक्ति है, भाव परस्पर सम्बद्ध, जकड़े ही हुए हैं।

निरालाजी की सब से बड़ी कविता 'तुलसीदास' है। इसका आरम्भ मुगलकाल के भारत का वर्णन करते हुए,

तुलसीदासजी के आविर्भाव से होता है। उस समय हिन्दू-संस्कृति को मुसलमानों के आक्रमण से जो सांघातिक चोट पहुँची थी, प्रथम उसी का संक्षेप में दिग्दर्शन है। कवि कहता है—

" 'भारत' के आकाश-मण्डल को प्रभामय बनानेवाला हिन्दू-संस्कृति का सूर्य्य क्रमशः ठंडा पड़ता हुआ आज अस्त हो गया। अब सब ओर अन्धकार ही अपनी विजय-दुंदुभि बजाने लगा है, उसीका एकच्छत्र साम्राज्य अशेष दिशाओं में स्थापित हो चुका है। हिन्दुओं के शिर की रक्षा करते हुए मुसलमान उनके हृदय पर शासन कर रहे हैं—वह हिन्दुओं को एकबार ही मारना या मरने देना नहीं चाहते, उनके हिन्दुत्व को—'निज की' मानसिक भावनाओं को कुचल देना चाहते हैं। इस प्रकार भारतीयता की जलधारा ऊपर-ऊपर से तो लहरें ले रही है पर उसके प्राण-स्थान कमल में स्पन्दन नहीं है। सन्ध्या-समय शतदल की भास्कर-विकस्वर सुषमा दुष्प्राप्य होगी ही।

"यह शत-शत वर्षों की भारतीय संस्कृति की आकुंचित भ्रुकुटि और कुटिल भाल वाली संध्या सघन जलदावली की भाँति भारत के सम्पूर्ण गगन-मण्डल को व्याप्त किए हुए है, उसी की छाया में देश के सब प्रान्त क्रमशः पराजित होकर घिर-घिरकर आ रहे हैं। पहले पंजाब हारा, तब कोशल, बिहार और फिर तो सभी हारते चले गए।

कालिंजर; जो वीरों का दुर्गम गढ़ था, अब उन्हीं 'सिंहों' के लिए वह पिंजड़ा—बंदी-गृह बन गया है। हाँ, इस सङ्कट के समय सब सोए ही नहीं रह गए, हिन्दुओं ने चुपचाप इस्लाम का प्रभाव नहीं स्वीकृत कर लिया। आर्य्य संस्कृति के सम्मान की रक्षा के लिए, आन-बान-शानवाले कितने-कितने वीर बाँके अपनी-अपनी जान पर खेल गए। कुछ नपुंसक, नामर्द राजों ने वश्यता, दासता भी स्वीकृत करली! इस प्रकार अन्ततोगत्वा इस्लाम की विजय हुई, भारतीय जीवन विदेशी सस्कृति से प्रभावित होकर धीरे-धीरे उसी के अनुरूप ढल चला। दूसरे शब्दों में भारतीय सस्कृति के सूर्य्य के अस्त होने पर इस्लाम संस्कृति के चन्द्रमा का उदय हुआ—देश में वैदेशिक विलासिता अट्टहास करने लगी। जैसे पानी में बहता हुआ फूल लक्ष्यहीन, उद्देश्यच्युत होता है उसी प्रकार यह देश भी नवीन सभ्यता के प्रवाह में गति-विधि-हीन होकर बह चला। इसने अपना मौलिक ज्ञान एकदम ही खो दिया। उस प्रवाह का जल यद्यपि इसे बार-बार 'छल' 'छल' 'छल' कह रहा था, पर अब यह इतना मोह जड़, वासना-वधिर, या मन्त्र-मुग्ध हो चुका था कि इसे कल-कल रव ही सुनाई पड़ता था। छल की बात सुनकर भड़क उठने की शक्ति एकदम ही नष्ट हो चुकी थी। अब यह उस प्रवाह की शोभा बढ़ानेवाला, किनारे पर की चट्टान-जैसा था। ठीक इसी समय तुलसीदास जी का राजापुर में आविर्भाव हुआ। तुलसीदास जी का शैशव, कैशोर सब उज्ज्वल, प्रतिभापूर्ण

रहे। आरम्भ-भविष्य सौभाग्य-सुषमा का सूचक निकला। प्रभात दिवस की दशा का दिग्दर्शक हुआ। उन्होंने शनैः-शनैः शारीरिक, मानसिक सब प्रकार का विकास प्राप्त किया। अपने समवयस्कों में प्रमुख रहे, सर्वश्रेष्ठ हुए।

"युवकों में प्रमुख रत्न-चेतन,
समधीतशास्त्र काव्यालोचन
जो, तुलसीदास, वहीं ब्राह्मण-कुल-दीपक,
आयत-दृग, पुष्ट-देह, गत-भय,
अपने प्रकाश में निःसंशय,
प्रतिभा का मंद-स्मित परिचय, संस्मारक।"

एक दिन वह अपने सखाओं के साथ चित्रकूट गए। वहाँ की पावन वन-भूमि देख कर उनके हृदय में एक अति नवीन प्रकाश आया। उन्हें मालूम हुआ, जैसे वहाँ के अणु-अणु उनसे कुछ निवेदन कर रहे हैं—पर उनकी अस्पष्ट भाषा के धूमिल प्रकाश में लुकते-निखरते भावों को वह साफ-साफ पढ़ नहीं सके। चिन्ता में डूब गए। जैसे प्रकृति के ये मनोभाव पूर्व-परिचित हों, उन्हें सही-सही पहचानने की कोशिशें करने लगे। उन्हों ने देखा, प्रकृति उन्हें छाती से लिपटा लेने के लिए जैसे अपनी बाहु-वल्लरी फैला रही थी।

"भर लेने को उर में, अथाह
बाहों में फैलाया उछाह!"

वह कह रही थी, "कवि! क्या देख रहे हो? मैं तो अब पहली-सी नहीं रही, मेरी छवि छिन गई, धूल में मिल गई,

दासता-पाश में बँध कर मेरे अंग-अंग झुलस गए। तुम मुक्ति के अमृत गान गाओ ना। फिर एक बार जड़ देश में नव-जीवन का सञ्चार करो। सब दुखी हैं, अज्ञान-जन्य यातनाएँ भोगते हुए करुण-क्रन्दन कर रहे हैं, तुम इन्हें अपने ज्ञानालोक में ले आओ, सुख-शान्ति के सन्देश सुनाओ, इनका उद्धार करो।"

"वह कर समीर ज्यों पुष्पाकुल
वन को कर जाती है व्याकुल
हो गया चित्त कवि का त्यों तुल कर उन्मन,
वह उस शाखा का वन विहंग
उड़ गया मुक्त-नभ निस्तरङ्ग
छोड़ता रंग पर रंग, रंग पर जीवन।"

फूलों की खुशबू से लदी हुई हवा जैसे वन के मन को व्याकुल कर देती है, तुलसीदास का हृदय भी प्रकृति का यह ऐसा मूक-मुखर सन्देश सुन कर उसी प्रकार उन्मन हो गया। वह पंछी जो पार्थिव-पिंजड़े के सीखचों से घिरा था, उन्मुक्त आकाश की ओर अबाध गति से उड़ चला, अगोचर सत्य के सन्धान में, उज्ज्वल प्रकाश-प्राप्ति की आस से धीरे-धीरे रंगीनियों को छोड़ता हुआ, पार करता हुआ।

किन्तु उसी क्षण वहाँ अनन्त आकाश में उन्हें अपनी ि यतमा की प्रेममयी प्रतिमा दिखलाई पड़ी, जो इस दुष्पार पथ पर दुस्तर नदी की भाँति ज्ञात हुई। उसी के प्रेम-पाश में पड़ कर उनका मन असिद्ध साधक के समान विचलित हो गया। सम्पूर्ण प्रकृति अपनी प्रेयसी के रंग में रँगी लगने

लगी। रास्ते भर वह उसी मोह-सुषमा का ऊहापोह करते सखाओं के साथ घर वापस आ गए।

इधर रत्नावली का भाई उसे लिवाने आया। वह तुलसीदास के प्रेमाम्बुधि में ऐसी तीव्र वासना से डूब गई थी कि उसे कभी नैहर (मातृकुल) की याद तक नहीं आती। जब भाईने व्यङ्ग्य और उपालम्भ सुना-सुना कर उसकी सुषुप्त शालीनता को जागरित किया, वह अवसर मिलते ही नैहर जाने को प्रस्तुत हो गई। और ज्योंही तुलसीदास कुछ सामान खरीदने के खयाल से बाजार की ओर गए त्यों ही वह भाई के साथ भाग गई। लौटने पर तुलसीदास ने सूना घर देखा और तुरंत ताड़ लिया कि वह मायके चली गई। फिर क्या था ? वह भी उसी समय ससुराल चल दिए।

और, नीरव निशीथ में सखियों, सलहजों के मृदु-मधुर हास-परिहास के अनन्तर विदा लेने पर, रत्नावली तुलसीदास के पास आकर खड़ी हुई। इसके पहले वह भौजाइयों की फब्तियाँ सुन-सुन कर ऐसे कामुक पति की गति पर सिर धुन चुकी थी। कमरे में छन भर सन्नाटे का आलम रहा। फिर,

"कुछ समय अनन्तर, स्थित रह कर
स्वर्गीयाभा वह स्वरित प्रखर
स्वर में झर-झर जीवन भर कर ज्यों बोली;
अचपल ध्वनि की चमकी चपला,
बल की महिमा बोली अबला,
जागी जल पर कमला, अमला मति डोली—

"धिक् ! धाए तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुलधर्म धूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाए ;
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ—हाड़, चाम !
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए !"

पपीहे ने स्वाती की बूँदों की जगह जब वज्र-प्रहार पाया तो उसके होश दुरुस्त हो गए। वह यौन अज्ञान अंगारों-से जलते अक्षरों से क्षर ही नहीं, क्षार-क्षार हो गया। और, तुलसीदास के मन का मानव, जो मरा जा रहा था, उस अलौकिक आलोक के प्रिय स्पर्श से केवल जी ही नहीं उठा, अमर हो गया, चिरन्तन हो गया।

रत्नावली ने जैसे अपनी ही ज्वाला से अपनी रूप-राशि जला डाली थी, तुलसीदास उसकी वह अरूपता देख विनत हो गए। उन्होंने उससे उसी के दिए हुए ज्ञानालोक को बाह्य-लोक में विकीर्ण करने के लिए जैसे, हमेशा के लिए विदा ले ली। और, तब 'आविष्ट देवी' को 'सहज नारी' की आँखों में आँसू की बूँदें छलछला आईं। लेकिन अब तुलसीदास के चरण तो अशरण, अवश-से अनन्त अज्ञात की ओर बढ़े चले जाते थे।

सम्पूर्ण काव्य का यह ऐसा संक्षिप्त सार मनोयोग पूर्वक देख लेने के बाद मेरे विचार से यह कहना असार ही होगा कि यह कविता किस प्रकार मनोवैज्ञानिक सूत्र से अनुक्रम

गुँथी हुई है !

अब मैं निराला जी की सरल-सजल कविता 'सरोज-स्मृति' से कुछ पंक्तियाँ, जो सम्बद्ध-भावों, और अनुपम भावों से भादों की घन-घटा की भाँति उमड़ी-घुमड़ी हैं, लिखकर इस प्रसंग को यहीं समाप्त करूँगा। भावों की संख्याएँ तो करनी नहीं। आगे मैं कविता-समाप्ति की कला पर कुछ लिखूँगा। 'सरोज-स्मृति' कवि की १८$\frac{१}{४}$ वर्षों की एकमात्र कन्या, सरोज-कुमारी की मृत्यु पर लिखी हुई कविता है। ऐसे अवसर की कई अँगरेज कवियों (ग्रे, आर्नल्ड आदि) की कविताएँ मैंने पढ़ी हैं, पर यह अत्यन्त सरल, अत्युक्तिहीन सत्य है कि 'सरोज-स्मृति' की कला उनमें से किसी में भी नहीं है।

"ऊनविंश पर जो प्रथम - चरण
तेरा वह जीवन - सिन्धु - तरण
तनये, ली कर दृक् - पात तरुण
जनक से जन्म की बिदा अरुण !

गीते मेरी, तज रूप - नाम
वर लिया अजर शाश्वत विराम
पूरे कर शुचि - तर सपर्याय
जीवन के अष्टादशाध्याय,
चढ़ मृत्यु - तरणि पर तूर्ण-चरण
कह, "पितः, पूर्ण-आलोक-वरण
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण
सरोज का ज्योतिश्शरण - तरण

अशब्द अधरों का सुना भाष,
मैं कवि हूँ पाया है प्रकाश—

मैंने कुछ, अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर।
जीवित कविते, शत-शर-जर्ज्जर
छोड़ कर पिता को पृथ्वी पर
क्या गई स्वर्ग तू यह विचार
"जब पिता करेंगे मार्ग पार
यह अक्षम अति, तब मैं सक्षम
तारूँगी कर गह दुस्तर-तम।"
कहता तेरा प्रयाण सविनय
कोई न अन्य था भावोदय
श्रावण-नभ का स्तब्धान्धकार
शुक्ला प्रथमा, कर गई पार।"

ये पंक्तियाँ लगातार कही गई हैं, पर कहीं-कहीं विशृंखलित-सी भी लगती हैं, पर बात ऐसी है कि बीच-बीच में कवि का अपनी ओर मोड़ लेना विशृंखलता नहीं, कला-प्रदर्शन है। यह कला पन्तजी ने भी अनेकशः दरसाई है। सूक्ष्म निरीक्षण आवश्यक है।

"किस छवि, किस मधु के मधुर भाव ?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव ?
कवि से रे किसका क्या दुराव !"
—गुञ्जन

यहाँ पर 'कवि से रे किसका क्या दुराव' बिलकुल बेसुरा मालूम पड़ता है, पर वह वैसा है नहीं। कारण, कवि अपनी ओर मोड़ लेते हुए—जैसे, "देखूँ सबके उर की डाली" का

अपना अधिकार जतलाना चाहता है। वह यह बतलाना चाहता है कि कवि से किसी का क्यों वैमनस्य होगा ? इसलिए उसे सब दिखलायेंगे अपना दिल खोल-खोलकर और वह देखेगा। यद्यपि यह शक्ति उसे जन्म-प्राप्त है, पर ऐसा कहना ही तो कला है। अन्यथा—

"जीने मरने में खेद नहीं
हँसने-रोने में भेद नहीं
यह शाश्वत इसमें छेद नहीं"
—कश्चित्

को भी कविता कहने की कसम खानी पड़ेगी, जहाँ हृदय के सच्चे उद्गार शृङ्खलित शब्दों में झटिति प्रतीत्यर्थ व्यक्त किए गये हैं।

२

जिस तरह निरालाजी की कविताओं के आरम्भ, परिपाक परम-प्रतिभामूलक हैं, उसी प्रकार उनकी सुन्दर परिसमाप्ति भी। व्रजभाषा-काल में घनाक्षरी और मनोहरण की अन्तिम पंक्ति ही पूरी कविता की जान होती थी, पर यह बात संस्कृत-साहित्य में बहुत कम, प्रायः नहीं है। अँगरेजी में Finishing touch की बड़ी कद्र है। आधुनिक कविताएँ उसी से प्रभावित हैं। रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' 'भैरवी' और 'अभिसार' तथा अन्य अनेकशः कविताओं की परिसमाप्ति बड़ी ही अद्भुत, बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं, उदाहरण देने से व्यर्थ लेख की कलेवर-वृद्धि होगी। गीताञ्जलि भी समाप्ति की इस कला से ओत-पोत

है। पर मैं यहाँ अपने कवि की ही इस कला के दो-चार उद्धरण दूँगा, जो मेरा प्रकृत विषय है।

(क) सर्व प्रथम 'तुलसीदास' कविता को देखिए। छः सौ पंक्तियों की इस कविता का आरम्भ—

"भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे"

कहकर किया गया था, तब तुलसीदास ने जन्म ग्रहण किया था, पर ज्ञान-प्राप्ति के बाद, (जैसे उन्हीं के द्वारा सांस्कृतिक रश्मि का पुनः प्रसार हुआ हो!) उन्होंने घर से बाहर निकलते ही देखा—

संकुचित खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल
प्राची दिगन्त-उर में पुष्कल रवि-रेखा।"

यह है परिसमाप्ति की कला। अस्त से शुरू किया, फिर सूर्योदय ही पर समाप्ति। जैसे एक ही रात्रि में तुलसीदास ने सारे व्यामोहतमों को पार कर प्रकाश पा लिया।

(ख) "मित्र के प्रति" कविता में—

"कहते हो, नीरस यह बन्द करो गान
कहाँ छन्द, कहाँ भाव, कहाँ यहाँ प्राण
था सर प्राचीन सरस सारस हंसों से हँस,
वारिज वारिद में बस, रहा विवश प्यार
जलतरङ्ग ध्वनि कल-कल, बजा तट मृदङ्ग सदल
पैंगें भर पवन कुशल गाती मल्लार।"

से शुरू कर, अपनी सकल-साधनाओं और उन्मुक्ति के मुक्त विचारों से समलंकृत कर, अपने पूर्ण विश्वास और प्रकाश से परिसमाप्ति की गई है—

"लखो दिया है पहना, किसने यह हार बना,
भारति, उर में अपना, देख दृग थके।"

(ग) "प्रथम-प्रभात" कविता में,

"प्रथम चकित-चुम्बन-सी सिहर समीर
कँपा स्रस्त अम्बर के छोर"

जैसी अतिशय भाव भरी पंक्तियों से प्रारम्भ कर और

"वातायन में कर-कोमल आघात"

जैसे चटुल-स्पर्श से सहृदयों का हृदय गुदगुदाते हुए, प्रकाश से समाप्ति की गई है,

"जग कर मैंने खोला अपना द्वार
पाया मुख पर किरणों का अधिकार।"

यहाँ यह कला विकाश की सीमा पर पहुँच गई है, भावों की विवेचना से लेख बहुत बढ़ जायगा, पाठक इस दिग्दर्शन को आत्म-मनन का इङ्गितमात्र समझेंगे।

इसी प्रकार "निशा के उर की खुली कली"—नामक गीत में,

"मूँद पलक प्रिय की शय्या पर
रखते ही पग, उर थर-थर-थर
काँप उठा वन में तरु-मर्मर
चली पवन पहली।"

से समाप्ति करते हुए अपनी प्रतिभा का आश्चर्यकर उप-

योग दिखलाया है। शब्दों की सरलता के कारण तो भाव किसी भी सहृदय से तुरत मैत्री कर लेते हैं।

'शेफालिका' कविता में—

"बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन - उभार ने
पल्लव - पर्य्यङ्क पर सोती शेफालि के।"

जैसी मधुर कोमल पंक्तियों से आरम्भ कर, शृङ्गार-रसात्मक भावों की समाप्ति, अमर-विराम पर की गई है, और यह दार्शनिकता प्राकृतिकता से सूनी भी नहीं। जैसे उसके सत्य-पथ पर पहुँच जाने की प्रमाण-स्वरूप यह सचाई दिखलाई गई हो—

"आशा की प्यास एक रात में भर जाती है
सुबह को आली शेफाली झर जाती है।"

'सन्ध्या-सुन्दरी' कविता की समाप्ति कला भी विलोकनीय है:—

"दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है।"

से आरम्भ की गई चित्रमयी कविता की सुन्दर परिसमाप्ति अत्यन्त कठिन है, विशेषतया तब, जबकि कवि को केवल तसवीर बनाना लक्ष्य नहीं। पर इसका उद्धरण मैंने जब-जब देखा है, तब-तब तसवीर ही के प्रसंग में। अब आप जरा इसकी परिसमाप्ति पर गौर करें। कवि ने इसे किस प्रकार भाव-चित्र पर, अन्तश्चित्र पर समाप्त किया है। जब संध्या धीरे-धीरे उतर आती है, तब आगे उसका विराम कहाँ होता है? कवि कहता है—

"अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन।"

जिस प्रकार वह 'सखी "नीरवता" के कन्धे पर डाले बाँह छाँह-सी' अम्बर से उतरी थी, उसी प्रकार निशीथ की नीरवता में ही उसने अवसान भी पाया। प्राकृतिक सत्य की हैसियत से भी उस समय संध्या अन्तर्धान ही हो जाती है—पर कविता यहीं समाप्त नहीं होती, कवि ने उस प्रकृति के साथ जो प्रणय-स्थापित किया था, जिसकी वजह से वह अमूर्त्त भी सौंदर्य की परम प्रतिमा प्रतिभासित हो रही थी,

"हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से"
और
"अलसता की - सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली।"

आदि तरह-तरह के लावण्य उसके अंग-अंग में तरंगित होते दीख रहे थे—अब उसका विरह उसे सताने लगा, वह नीरव निशीथ में भी शान्ति की कल्पना नहीं कर सकता—फिर?

"विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।"

इसे समाप्ति की कला कहते हैं।

और एक 'उदाहरण' देकर मैं विस्तार भय से यह प्रसंग यहीं समाप्त करूँगा।

"बीती रात सुखद-बातों में प्रात पवन प्रिय डोली
उठी सँभाल बाल मुख लटपट दीप बुझा हँस बोली
रही वह एक ठठोली।"

ये पंक्तियाँ—"नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली"—नामक शृङ्गार-रस की, कवि की सर्व-श्रेष्ठ कविता की, समाप्ति की हैं। इसमें जिस शृङ्गार, सौन्दर्य का प्रकटीकरण किया गया है, उसकी पूरी व्याख्या में बहुत ज्यादा जगह घिरेगी, मैं यहाँ अन्तिम स्पर्श पर ही विचार करना चाहता हूँ। इस कविता को खत्म करना बड़ा खतरनाक था, यह पूरी पढ़कर कोई भी सहृदय समझ सकता है, विशेषतया नग्नता न आने देने का प्रयत्न रखने पर। पर कवि ने इसके अवसान में कमाल कर दिया है, "प्रातःकाल स्वास्थ्य-प्रद अनुकूल वसन्त-समीर का सुख-स्पर्श पा तरुणी उठती है, पूरी रात तो सुखद बातों (कितना आच्छादन है!) ही में बीत चुकी थी—[उसने उस रात को बिताया नहीं; क्योंकि यह तो भार का व्यञ्जक होता, वह खुद बीत गई, जैसे उसे अभी उसकी और आकांक्षा बनी थी।] और सर्व-प्रथम बाल, मुख, वसन आदि सँभालती हुई चिराग बुझा देती है (यहीं—इसी बुझाने में, कला का प्रकाश मिलता है; क्योंकि अब तक सब से अधिक उसे वह चिराग ही खटक रहा था, जैसे उसी की लाज ने उसे 'अनबोली' कर रक्खा था, अब तो उसे गुल करती हुई, तुरत हँसकर बोलती ही है। दूसरे—'खुशी के वक्त में क्या काम जलनेवालों का? ठहरा) और जरा मुसकराती हुई कहती है—'वह तो एक दिल्लगी थी।' क्या 'दिल्लगी' है?

४

चीर-चीरकर दिल देखनेवाले अगर उसकी पूरी पहचान रखनेवाले होते, तो मेरे मित्र रामचन्द्र ही इसमें पूरे उतरते—जिन्होंने सैकड़ों मेढ़कों को तड़पा-तड़पाकर उनके दिलों को—(Frog-dissection) देखा है, पर बात कुछ दूसरी ही है—

"कौन जान सका, किसी के हृदय को
सच नहीं होता सदा अनुमान है।"

—पन्त

फिर 'निराला' जी तो हिन्दी के उन कवियों के अग्रगण्य होते हैं, जिनकी कविताएँ समझ में नहीं आतीं, लोग कहते हैं। और 'कोटेशन्स' में भी मैंने हमेशा नवीन होने की चेष्टा की है, इसलिए कह नहीं सकता, कवि के भावों के साथ मैंने कितनी तन्मयता प्राप्त की है! पर हाँ, प्रचलित पद्धति के अनुसार मैंने केवल बिना समझे-समझाये बातें बनाने की कहीं कोशिश नहीं की है। अपना रहस्य खुलने के भय से जान-बूझकर अपने और पराये भावों को रहस्यमय बनाने का प्रयत्न नहीं किया है, यह नवीनता या विशेषता, चालाकी या चोरी, अध्ययन-शील पाठकों को आप मालूम पड़ेगी। अस्तु, 'भावप्रकरण' के उपसंहार में कुछ उन चीजों को मैं सामने रखना चाहता हूँ, जिन्होंने मुझे प्रभावित नहीं किया, जिनका सौन्दर्य मैं समझ नहीं सका।

पहले मैं—'सन्ध्या' ही की यह पंक्ति पेश करता हूँ—

"और क्या है? कुछ नहीं।"

इस प्रवाहमयी कविता में मुझे यह एक ही पंक्ति चट्टान-सी मालूम पड़ती है, जैसे उसकी सारी शान्ति इससे टकराकर क्रान्ति बन गई हो। मैं यहाँ सौन्दर्य समझने की तनिक कोशिश भी नहीं कर सकता। यद्यपि अँगरेजी वाक्य के "Nothing but" की खूबसूरती बताने की चेष्टा इसमें मालूम पड़ती है।

इसी प्रकार "जागो फिर एक बार" नामक दोनों कविताओं में मुझे दो रोड़े मिलते हैं, बड़ी मुश्किल से, उनसे बचकर मैं सौन्दर्य-लोक में पदन्यास कर पाता हूँ। एक तो 'पहले' की परिसमाप्ति मुझे 'दो कौड़ी' की मालूम पड़ती है, जैसे कलम को रुलाकर जबर्दस्ती उतनी लाइनें उगलवाई गई हों। जिस कविता का आरम्भ—

"अरुण - पंख तरुण - किरण
खड़ी खोल रही द्वार"

और—

"शिशिर-भार-व्याकुल कुल खुले फूल झुके हुए,
आया कलियों में मधुर मद-उर-यौवन-उभार"

जैसे तड़ित्तुलित पदों के अंत्यानुप्रासों से हुआ हो, उसकी समाप्ति में शब्दों का यह कंकाल सिर्फ दार्शनिक अभिव्यञ्जना के लिए, मैं नहीं देख पाता—

"ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने ही हजार—जागो फिर एक बार।"

दूसरे—दूसरे पद्य में भी जहाँ—

"समर में अमर कर प्राण
गान गाये महा सिन्धु से
सिन्धु नद तीर वासी
सैन्धव - तुरङ्गों पर
चतुरङ्ग चमू - संग।"

जैसे शाब्दिक और अर्थिक उत्कर्ष से कविता का आरम्भ — और —

"सत् श्रीअकाल,
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल—"

जैसे अविस्मरणीय विन्यास के साथ भाव पुष्टि की गई —

"सिंही की गोद से छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेष - माता ही रहती है निर्निमेष —
दुर्बल वह—छिनती सन्तान जब —
जन्म पर अपने अभिशप्त तप्त आँसू बहाती है,—
किंतु क्या योग्य जन जीता है ?
पश्चिम की उक्ति नहीं, गीता है, गीता है
स्मरण करो बार-बार।"

लिखकर सूखी धमनियों में भी रक्त-सञ्चार किया गया है, "सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते" न लिखकर, ध्वनिमय - "पश्चिम की उक्ति नहीं, गीता है — गीता है" सुनाकर जड़ शरीर में सञ्जीवनी-शक्ति का संचार किया है; वहाँ कुछ आगे चलकर, एकदम असाहित्यिक

"पर क्या है, सब माया है--माया है"

कहना मुझे एकदम नीरस, बल्कि "राम-नाम सत्य है" की तरह असत्य प्रतीत होता है। और इसकी समाप्ति भी मुझे एकदम पसन्द नहीं।

इसी तरह के दो-एक उदाहरण और हैं, पर उनसे व्यर्थ हो सहयोग करना होगा। सच्ची बात यह है कि कविताओं की ऐसी दार्शनिक रूप-रेखा मुझे कतई पसन्द नहीं—अगर है तो वह इस प्रकार की—

"अभय हो गये थे तुम, मृत्युञ्जय व्योम-केश के समान
अमृत-सन्तान! तीव्र भेदकर सप्तावरण-मरण-लोक,
शोक-हारी! पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्रार
जागो फिर एक बार।"

या

"ज्योति में न लगती रे रेणु
नहीं वहाँ श्रुति-कटु-स्वर, वह अच्छिद्र-वेणु
चाहता, बनूँ उन पग-पायल की रिन-रिन।"

या

पास ही रे हीरे की खान
खोजता कहाँ और नादान

आदि-आदि।

कविता में चित्र-कला

"प्रायः सभी कलाओं के लिए मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्तिप्रेम ही कला का जन्मदाता है। जो भावना-पूर्ण सर्वाङ्ग-सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृत-विद्य है, वह उतना बड़ा कलाकार है। पश्चिमी सभ्यता के मध्यकाल तक जब

संसार की विभिन्न सभ्यता-प्रसूत वस्तु-भावनाओं का श्रेणी-विभाग, सञ्चय तथा उपयोग नहीं हुआ था, कलाएँ अपने-अपने देश, संस्कृति तथा कलम के अनुसार विभिन्न आकार, इंगित तथा भावनाएँ प्रदर्शित करती हुई भी एक ऐसी व्यञ्जना कर रही थीं, जो तमाम भिन्नताओं के भीतर से एक भाव-साम्य की स्थापना करती थी। संसार की भौतिक सभ्यता से सब देशों के गुँथ जाने के कारण संसार-भर के लोगों को वह आत्मिक लाभ पहुँचा। फलस्वरूप कला में देश-भाव की जो संकीर्णता थी, आदान-प्रदान की सहृदयता ने उसे तोड़ दिया, कला की सृष्टि व्यापक विचारों से होने लगी, और हर जाति की उत्तमता से प्रेम-सम्बन्ध जोड़कर लोग उससे अपनी जातीय कला को प्रभावित करने लगे।

काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन मालकोश राग की वीर-मूर्ति अँगरेजी-स्वर में, नायिका के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की गजलों में मिलने लगा, और बहार तथा आसावरी की लोक-प्रियता थिएटरों की, मित्र-हृदय को गुदगुदाकर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाली रागिनियों ने ले ली। इसी प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद्य-वैशिष्ट्य की परिखा को पार कर संसार के प्राङ्गण में नये, दूसरे ही दूसरे रूप में देख पड़ने लगे। उनके रूप-भाग में कुछ देशीय विशिष्टता रह गई, पर वे अरूप-भाग से मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति बन गये। अरूप-अंश,

वर्णना-भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अवच्छेद रहा। रूप-अंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।"
—निराला

ऊपर की पंक्तियाँ इस कला की रूप रेखा तथा उत्तरोत्तर उत्कर्ष या नावीन्य का संक्षिप्त इतिहास हैं। अँगरेजी और अँगरेजी-हिन्दोस्तानी रवीन्द्र के साहित्य के साथ अधिकाधिक सहयोग रखनेवाली आधुनिक कविताएँ साफ़ अँगरेजीपन लिये हुए रहती हैं; पर इस कला का अपना, पवित्र, सुकुमार तथा मधुर रूप आर्य-कविताओं में भी भरपूर देखने को मिलता है। रवीन्द्रनाथ तो प्रत्यक्ष मिश्रित हैं—आर्य और पश्चिमी कला के समीकृत स्वरूप। यहाँ इतना स्थान नहीं कि मैं संस्कृत, विशेषयता कालिदास से प्रभावित रवीन्द्र की कलाओं का प्रदर्शन करूँ। पर पंतजी के—

"कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ाकर लहरों-से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार"

जैसे अनेक भाव संस्कृत में मिलते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि पन्तजी उन्हीं उन्हीं से प्रभावित हैं; क्योंकि उस वक्त 'उस पार' बुलाने की कभी कल्पना नहीं की जाती थी, सब इसी पार मिलते-मिलाते थे, फलतः वह उन्हीं की देन है। मैं सिर्फ संकेतों की बाबत कह रहा हूँ—

"एष वातेरितपल्लवांगुलिभिः

मामामन्त्रयतीव चूतवृक्षः"

"दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां
तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ।"

"त्वं रक्षसा भीरु, यतोऽपनीता
तं मार्गमेताः कृपया लता मे
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवत्यः
शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ।"

—कालिदास

इतने उदाहरण पर्याप्त होंगे। अगर मुझसे पूछा जाय, और मुझे भारतीय भावों की तरफ से बोलने का हक दिया जाय तो मैं कहूँगा कालिदास वाले भाव पन्तजी से अधिक स्पष्ट और सुन्दर हैं।

प्रसङ्गवश, मैं यहाँ एक कालिदास की बनाई हुई तसवीर दिखलाकर प्रकृत कवि की मिश्रित कला की दो-चार बानगी दूँगा—

"कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोःपावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ।"

दुष्यन्त कहता है कि मैं इस तसवीर को इस प्रकार पूर्ण करना चाहता हूँ कि कलकलनिनादिनी मालिनी के पुलिनों पर आँखमिचौनी खेलते हुए हंस के जोड़े हों और उस नदी के सब ओर हिमालय के पवित्र-पवित्र चट्टानदार टीले हों, जिन पर हिरनों की राशि जुगाली करती बैठी हो और पास ही एक ऐसा पेड़ हो, जिसकी डालों पर वल्कलवसन लटकाये हुए हों

और जिसकी छाँह में कस्तूरीवाले हिरने की सींग में अपनी बाईं आँख खुजलाती हुई हरिणी बैठी हो। इस चित्र की सर्वांगीण सफलता के लिए बहुत लिखना निरर्थक होगा। कालिदास संस्कृत-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार कवि है।

पीछे के उदाहरणों में निरालाजी की कई चित्रमयी पंक्तियाँ अन्य प्रसङ्ग में बताई जा चुकी हैं। यहाँ कुछ नवीन उदाहरण दूँगा। पाठक सर्वत्र समान रूप से असमान कौशल का प्रदर्शन पावेंगे—

(क) "वसन विमल तनु-वल्कल,
पृथु उर सुर-पल्लव-दल
उज्ज्वल-दृग कलि कल, पल
निश्चल, कर रही ध्यान।"

—गीतिका

यों यह तसवीर वसन्त-श्री ही के लिए बनाई गई मालूम पड़ती है, पर लता की कल्पना में ज्यादा फबती है। यह लता एक पेड़ की डाल नहीं है, वसन्त-सुषमा की प्रतिनिधि, तरु का नारी रूप। कवि कहता है—

"पवित्र (स्वच्छ) वल्कलरूप वसन-धारिणी है वह, उसकी उभरी-भरी छाती पर सुन्दर-सुन्दर कोंपल-दल, यही मालिका की जगह पर, खूबसूरत कली की रोशनदार आँख—[आँखें नहीं; क्योंकि तसवीर तिरछे तौर से उतारी गई है, यह उसकी प्रतीक्षा का प्रत्यायक है, फिर प्रकृत्या भी पेड़ का पूर्णरूप तो एक ओर से देखा नहीं जा सकता। विशेषतया लतिका (स्त्रीलिङ्ग का)

का सवाल उठने पर; क्योंकि उसका तिरछा खड़ा होना ही ज्यादा सुन्दर है] जिसकी पलकें निश्चल-स्तब्ध; जैसे वह किसी (प्रिय) के ध्यान में हो।" इसे दुष्यन्त-विरहिणी शकुन्तला की तसवीर भी कह सकते हैं। चित्रकार ने अपनी सुविधा के लिए एक ही कली का जिक्र किया है, यह अप्रौढ़ता नहीं, कला है।

(ख) "मेघ के घन केश
निरुपमे, नव-वेश
चकित चपला के नयन नव
देखती हो भू - शयन तव
मन्द-लहरा-पट-पवन, रव
छा रहा सब देश।
उतर बैठी हो शिखर पर
भूल अपनापन विनश्वर,
गा रहे गुण अमर-मर-नर
पा रहे सन्देश।
झर रहा चिर-श्रुत मधुर-स्वर
निर्झरी के वक्ष को हर
निर्निमेष खड़ी सुघर अयि,
लख रही निज शेष !"

—गीतिका

अर्थ एकदम साफ है। इसी लिए मैं इस पर कुछ नहीं लिख रहा। पूर्ण चित्र संपूर्ण कविता में समाप्त होता है, इसी लिए अपूर्ण नहीं लिख सका। अक्सर उद्धरणों में, जिसका सम्बन्ध जहाँ अपेक्षित ही रहता है, छोड़कर लोग आगे बढ़

जाते हैं, जिसे मैं कमी समझता हूँ. इससे लेखक के प्रति अन्याय होता है।

(ग) एक दिव्य रूप की झाँकी:—

"आओ, मधुर-सरण मानसि मन।
नूपुर चरण-रणन जीवन नित, वङ्किम चितवन
चित चारु मरण।
नील वसन शतद्रु-तन-ऊर्मिल
किरण-चुम्बि मुख अम्बुज रे खिल,
अन्तस्तल मधु-गन्ध अनामिल
उर-उर तव नव राग जागरण।
पलक-पात उत्थित जग कारण
स्मित आशा-चल-जीवन-धारण
शब्द अर्थ-भ्रम-भेद-निवारण
ध्वनि शाश्वत-समुद्र-जग-मज्जन।"

—गीतिका

और चल चित्रों के नमूने—

"स्पर्श से लाज लगी।
अलक-पलक में छिपी छलक
उर से नव-राग-जगी।
चुम्बन-चकित चतुर्दिक-चञ्चल,
हेर, फेर मुख, कर बहु-सुख छल
कभी हास, फिर त्रास, साँस-बल
उर-सरिता उमगी।"

—गीतिका

"दूर नदी पर नौका सुन्दर
दीखी मृदुतर बहती ज्यों स्वर

वहाँ स्नेह की प्रतनु देह की
बिना गेह की बैठी नूतन।
ऊपर शोभित मेघ छत्र सित,
नीचे अमित नील-जल-दोलित
ध्यान-नयन-मन, चिन्त्य प्राण-धन
किया शेष रवि ने कर अर्पण।"

—गीतिका

और—

"रही आज मन में
वह शोभा जो देखी थी वन में
उमड़े ऊपर नव - घन, धूम - धूम अम्बर,
नीचे लहराता वन, हरित श्याम सागर
उड़ा वसन बहती रे ,पवन तेज छन में।
नदी-तीर, श्रावण, तट नीर छाप बहता,
नील डोर का हिँडोर चढ़ी - पैंग रहता
गीत मुखर तुम नव-स्वर विद्युत् ज्यों घन में।
साथ-साथ नृत्यपरा कलि-कलि की अप्सरा,
ताल लताएँ देतीं करतल-पल्लव-धरा,
भक्त मोर चरणों के नीचे नत तन में।

—गीतिका

इन उदाहरणों में एक से एक सुन्दर चित्रों के प्रदर्शन हैं। तूलिका इतनी साफ है कि रंगों का परिचय देना फिजूल है, जब कि यहाँ भावों की बारीकी नहीं, बल्कि तसवीर ही दिखलाना लक्ष्य है।

(घ) पर, एक तसवीर है—

"कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना

सीखा केवल हँसना—केवल हँसना ।
मंद-मलय-भर अंग-गंध-मृदु
बादल अलकावलि कुञ्चित-ऋजु
तारक-हार चंद्र-मुख मधु-ऋतु-
सुकृत-पुञ्ज-अशना ।''

यह रवीन्द्रनाथ के—

"अचल - आलोके रएछ दाँड़ाए,
किरण - वसन अंगे जड़ाए
चरणेर तले पड़िछे गड़ाए
छड़ाए विविध भंगे ;
गंध तोमार घिरे चारि - धार
उड़िछे आकुल कुंतल - भार
निखिल गगन काँपिछे तोमार
परस-रस-तरंग ।''

के Parallel तैयार की गई मालूम पड़ती है। पश्चिमी भावों के अपरिपाक का पाप दोनों के सिर पर लदा है, इसलिए भारतीय दृष्टि से दोनों ही चित्र दूषित हैं। 'रवीन्द्रनाथ' ने तो—'उड़िछे आकुल कुन्तल-भार' कहकर भाव पर पर्दा डाल दिया है, जाने वह कुंतल-भार क्या है ? पर 'निराला'-जी ने 'बादल अलकावलि' कहकर उसे दूसरी तरह से बिगाड़ा है; यों कि—अगर उस दिव्यमूर्ति का परिस्फुट लावण्य देखने की लालसा हो, तब तो बालों की पूर्ण श्यामलता चाहिए। और अगर काले-काले बादल ही बाल हैं, तब फिर उसकी 'शुभ्र-किरण-वसना' की उपपत्ति चाहिए; क्योंकि काले बादल और चमकती ज्योति का इस रूप में वर्णन बहुत ही अप्राकृत है, बहुत ही

असुन्दर और, अगर चाँदी के तारों-सी चमकती केशराशि है (क्योंकि उजले बादल रोशनी के साथ भी रह सकते हैं) तब तो—'उड़िछे आकुल कुन्तल-भार' और भी असुन्दर है। यहाँ पर 'कुञ्चित-ऋजु' विशेषण भी। यदि अँगरेज रानियों की-सी तसवीर होने की वजह से—'उड़िछे आकुल कुन्तल-भार' उनके बालों का-सा सुनहलापन लिए सौंदर्य, व्यक्त करता हो है, ऐसा कहा जाय, तब भारतीय आँखों में उसकी कोई कीमत भी न होगी; क्योंकि सौंदर्य आस्वाद का तरीका भारतीय और अँगरेजी अलग-अलग है। फिर दिव्य मूर्ति के लिए यह कोई सुन्दर-कल्पना भी नहीं कि वह 'गौन' पहने और 'मेमों'-सी स्वर्णकेशी है। अब एक विराट् चित्र का उदाहरण देकर यह प्रसंग भी समाप्त करूँगा।

"देखो बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती, कल्पना है इसकी, मकरन्द-विंदु;
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिंधु,
दश-दिक-समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव-मंगल पदतल धँस रहा गर्व—
मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व।"

—'राम की शक्ति-पूजा'

इसी प्रकार—

"यह श्री पावन गृहिणी उदार
गिरि-वर-उरोज-सरि-पयोधार

कर वन-तरु फैला फल निहारती, देती
सब जीवों पर है एक दृष्टि
तृण तृण पर उसकी सुधा-वृष्टि
प्रेयसी, बदलती वसन, सृष्टि नव लेती।"

और —

"प्रेयसी के अलक नील, व्योम
दृग पल कलंक, मुख-मञ्जु-सोम
निस्सृत-प्रकाश जो तरुण-क्षोम प्रिय-तन पर
पुलकित प्रतिपल मानस-चकोर
देखता भूल दिक उसी ओर
कुल इच्छाओं का वही छोर जीवन-भर।"

आदि 'तुलसीदास' कविता में भी अंकित किये गये हैं।

दृढ़ता और निष्ठा

यदि किसी कवि की कविता में उसके जीवन के सकल संस्कारों की छाप न पड़ी तो वह सर्वाङ्गपूर्ण कविता नहीं कहला सकती; क्योंकि दूसरे शब्दों में कविता आत्मा की तथ्य-अभिव्यक्ति कहलाती है। पर उस अभिव्यक्ति का ढंग अवश्य कवितोचित होना चाहिए; अन्यथा उसे मैं कविता नहीं मानता। निरालाजी ने जटिल से जटिल परिस्थितियों को बड़ी ही दृढ़ता और निष्ठापूर्वक पार किया है। जैसी-जैसी कठिनाइयाँ, उनके मुक्त-वृत्तों तथा स्वच्छन्द आलोचनाओं के चलते उपस्थित हुई थीं, हिन्दीज्ञों को भली भाँति मालूम हैं। पर उन सबों का उन्होंने बड़ी ही निर्भयता के साथ सामना किया है—और अपूर्व सफलता प्राप्त की है।

"देखें वे हँसते हुए प्रवर
जो रहे देखते सदा समर
एक साथ जब शत घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण
मैं खड़ा देखता रहा अपल
वह शर-क्षेप, वह रण-कौशल !
व्यक्त हो चुका चीत्कारोत्कल
क्रुद्ध-युद्ध का रुद्ध-कण्ठ फल
और भी फलित होगी वह छवि
जागे जीवन-जीवन-का रवि।"

—'सरोज-स्मृति।'

जैसी पंक्तियों में उसी भाव की सुन्दर स्फूर्ति हुई है। 'तुलसीदास' की भावना-धारा में भी कवि का अपना ही स्वर फूटा पड़ता है। जैसे इन्होंने अपने जीवन का यही आदर्श, यही लक्ष्य बना लिया हो कि—

"करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर-द्वार
बहना जीवन के प्रखर-ज्वार में निश्चय
लड़ना विरोध से द्वन्द्व-समर
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर"

और शायद इसी प्रशस्त-पथ का यह परिणाम है कि इन्होंने आगे की कविताओं में लिखा—

"प्रात तव द्वार पर
आया जननि, नैश-अन्ध-पथ पार कर।"

अपने भीतर से जैसे इन्हें यह विश्वास, यह प्रकाश प्राप्त

हुआ हो। पर पहुँचने से पहले की दशा पर भी दृष्टिपात करें—

लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात
कण्टक चुभे जागरण बने अवदात
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात
अवसन्न भी हूँ, प्रसन्न मैं प्राप्त-वर। प्रात तव द्वार पर।

इतनी साधना का ही यह विश्वास-रूप कविताओं मे प्रतिफलित हुआ है।

"प्रति पद पराजित भी अप्रतिहत बढ़ता रहता,
पहुँचा मैं लक्ष्य पर।"

इस तरह अनेक भाव यत्र-यत्र-सर्वत्र देखने को मिलते हैं, मेरा यहाँ इंगित मात्र ही का प्रयत्न है।

हास्य-विनोद और मस्ती

महाकवि की कविताएँ केवल दिमागी करामात हों, यह अच्छा नहीं लगता। उनकी अभिरुचि के अनुसार उचित मस्ती और आनन्द-कलरव की भी जरूरत मालूम पड़ती है, कालिदास तो इन तमाम विशेषताओं का प्रतिनिधि-कवि है। वह मजाक-पसन्द कितना था, यह एक इसी पद्य से प्रकटित हो जायगा।

"तथागतायां परिहासपूर्वं
सख्यां सखी वेत्रभृदावभाषे
बाले व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां
वधूरसूयाकुटिलं ददर्श।"

"जब इन्दुमती अपनी सखी के साथ स्वयम्वर के प्रांगण में वरमाला लिये घूम रही थी, तब प्रत्येक राजा का

परिचय पाने के बाद जरा नाज से आगे बढ़ जाती थी। इन्दुमती अज ही को वरण करना चाहती थी, यह उसकी सखी को अविदित न था। सो उसने मजाक की सोची। जब इन्दुमती अज के पास पहुँची, तब उसने पहले ही की तरह उसका परिचय बताया, और कहा कि "सखी, चलो अब आगे चलें।" इस पर इन्दुमती ने उसे घूरकर देखा।" रवीन्द्रनाथ की भी 'स्वप्नमंगल' 'पुरस्कार' आदि कितनी ही कविताएँ हास्य-विनोद से ओत-प्रोत हैं।

निरालाजी ने गद्य में तो 'सटायर्स', 'ह्यूमर्स' आदि की झड़ियाँ लगा दी हैं, पर उनकी यह विनोद-प्रियता पद्यों में भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। 'सरोज-स्मृति' जैसी करुणा की कविता में इन्होंने हास्य का पुट देकर अपनी श्रेष्ठ कला-कारता का परिचय दिया है—

"ये कान्यकुब्जकुल - कुलांगार
खाकर पत्तल में करें छेद"

और उनके पैरों की 'बिवाई' की उपमा—

"ये नो यमुना के-से कछार"

आदि लिखते हुए—

"ऐसे शिव से गिरिजा-विवाह
करने को मेरी नहीं चाह।"

से समाप्ति की है। मुझे लगातार पंक्तियाँ याद नहीं और इस लेख भर में अधिकाश उद्धरण मैंने यों ही दिये हैं।

मुमकिन है, कहीं कुछ पाठ भेद हो; अनर्थ के लिए भी मैं ही दोषी हूँ।

'शूर्पणखा' के चित्रण में भी गुप्त-हास्य है। पर व्यंग्य तो कभी-कभी बड़े तीखे चुभनेवाले हुए हैं। जैसे—

"देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।"

यहाँ देवों के परिचय में आये हुए 'भोगियों' ने व्यंग्य की सुन्दर सृष्टि की है। इसी प्रकार—

"ढके हृदय में स्वार्थ, लगाये ऊपर चन्दन
करते समय नदीश-नन्दिनी का अभिनन्दन"

आदि पद्य भी द्रष्टव्य हैं—

और 'मस्ती' का जोरदार उदाहरण—'सरोज-स्मृति' में जब कुण्डली से दो शादी होने की बात मालूम होती है, कवि कहता है—

"खण्डित करने को भाग्य-अङ्क
देखा भविष्य के प्रति अशंक।"

फिर जब 'सरोज' खेलने के लिए कुण्डली ले लेती है, और सासुजी शादी के लिए समझाने आती हैं, तो कवि का इशारा पा कुण्डली को छिन्न-भिन्न देखकर विस्मित हो जाती हैं, और सरोज?

'हँसती वह संचित टुकड़ों पर'

यहाँ की पंक्तियाँ भी स्मृति-पथ को पार कर चुकी हैं, इसी लिए मैंने गद्य में उनका आशय भर लिख दिया है।

एक और उदाहरण 'परिमल' से—

"जन-अपवाद गूँजता था, पर दूर,

क्योंकि उसे कब फुर्सत—सुनता ? था वह चूर ।
न देखा उसमें कभी विषाद ।"

—परिमल

कविताओं के भीतर से तो 'बादल' आदि में मस्ती का ज्वार देखते ही बनता है । 'धारा' को दो पंक्तियाँ देखिए:—

—"बहने दो, रोक टोक से कभी नहीं रुकती है ;
यौवन-मद की बाढ़ नदी की किसे देख झुकती है ?"

—परिमल

दार्शनिकता

कवि का दार्शनिक रूप अभिज्ञों के लिए अभिनव नहीं । जिस प्रकार उसने नवीन से नवीनतर अगणित छन्दों की सृष्टि की है, उसी प्रकार उसने कविता को छन्द की कड़ियों से मुक्ति भी दिलाई है । यही उसकी विशेषता है और सच्चा निरालापन भी ।

"प्रति-पल तुम ढाल रहे सुधा-मधुर ज्योति-धार,
मेरे जीवन पर, प्रिय यौवन वन के बहार ।"

—परिमल

ही का मुक्त रूप—

'जागो फिर एक बार'

है । उसी प्रकार—

मधु-ऋतु-रात, मधुर अधरों की पी मधु सुध-बुध खो ली
खुले अलक, मुद गये पलक-दल श्रम-सुख की हद हो ली ।"

का ही द्वितीय रूप—

"खोलो, दृगों के द्वय-द्वार
मर्त्य-जीवन ज्ञान-तम के करण, कारण-पार ।

उधर देखोगे, सुघरतर तुम्हीं दर्शन-सार
मोह में थे हत, जग परितृप्त वारम्बार।"

है। दार्शनिक पद्यों में अकसर लोग जो तमाशा करते हैं, अनन्त-अनादि, अस्ति-नास्ति, माया-ब्रह्म आदि रटे-रटाये शब्दों का व्यवहार करते हुए, वह मेरे विचार से दार्शनिकता से अधिक छिछोरेपन का परिचायक होता है, पर निरालाजी ने दर्शन का जो रूप कवित्व के भीतर से दरसाया है, वह उनकी प्रौढ़ि का प्रत्यायक है। वहाँ 'थ्योरियों' के शब्द नहीं, आत्म-परिचय की ज्योतिर्मय ध्वनि है। निष्कलुष दृष्टि से देखना अवश्य आवश्यक है। दर्शन का प्रकाश और कालुष्यपूर्ण दृष्टि— 'सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः !'

"देख चुका जो-जो आये थे, चले गये
मेरे प्रिय सब बुरे गये सब भले गये।
क्षणभर की भाषा में, नव-नव अभिलाषा में,
उगते पल्लव-से कोमल, शाखा में
आये थे जो निष्ठुर कर से मले गये
मेरे प्रिय सब बुरे गये सब भले गये।
चिन्ताएँ, बाधाएँ,
आती ही हैं, आएँ,
अन्ध हृदय है, बन्धन निर्दय लाएँ,
मैं ही क्या ? सब तो ऐसे ही छले गये,
मेरे प्रिय, सब बुरे गये, सब भले गये।"
—परिमल

"जग का एक देखा तार।
कंठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर-झङ्कार।

बहु-सुमन,-बहुरंग,-निर्मित एक सुंदर हार
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा भार।"

* * * *

"चक्र के सूक्ष्म छिद्र के पार,
बेधना तुझे मीन शर मार,
चित्त के जल में चित्र निहार
कर्म का कार्मुक कर में धार,
मिलेगी कृष्णा सिद्धि महान,
खोजता कहाँ उसे नादान ?"

—गीतिका

आदि शतशः उदाहरणों में कवि का दार्शनिक स्वरूप सुस्पष्ट हुआ है। पाठक पढ़कर ही पूर्ण प्रमोद प्राप्त कर सकेंगे।

२

कवि की सामाजिक, राष्ट्रीय भावनाएँ भी अनेक किस्म की, 'मास्टर पीसेज' के रंग में देखने में आती हैं। सर्वत्र नवीनता और कलाएँ परिस्फुट हैं। विस्तार-भय से मैं दो-चार पंक्तियाँ ही लिख सकूँगा।

"बन्दूँ पद सुंदर तव
छुन्द नवल स्वर गौरव

जननि, जनक-जननि-जननि जन्मभूमि-भाषे
जागो नव-अम्बर भर ज्योतिस्तर-वासे।"

—गीतिका

* * * *

"छोड़ दो, जीवन यों न मलो
एँठ अकड़ उसके पथ से तुम रथ पर यों न चलो।

वह भी तुम जैसा ही सुंदर,
अपने दुख-पथ का प्रवाह खर
तुम भी अपनी ही डालों पर
फूलो और फलो।

× × ×

नर-जीवन के स्वार्थ सकल।
बलि हों तेरे चरणों पर मा,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल।"

—गीतिका

प्रकाश और ज्योति

तरह-तरह के रंगों से आधुनिक कविताओं की मूर्तियाँ सजाई-सँवारी गई हैं, पर निरालाजी को सूर्य का स्वर्ण-वर्ण तथा ज्योति ही ज्यादा प्यारी है। इनकी कविताओं में ज्योति के इतने दर्शन होते हैं कि उन्हें "ज्योतिर्मय" कहना अनुपयुक्त न होगा।

१—बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर
२—ज्योति की तन्वी
३—ज्योति अपार लिये
४—ज्योतिर्मयि, उतरो!
५—पल्लवित तनु की तन्वी ज्योति
६—दिखा जग ज्योतिर्मय, मुख चूम।
७—दिव्य ज्योति हो लीन
८—रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र में लिखा अमर—
९—बँध गई दृष्टि ज्योतिःकारा
१०—नयन-ज्योति में ज्ञान अकम्पित।"

आदि उदाहरण पर्य्याप्त होंगे।

उपसंहार

जब मैंने यह लेख लिखना आरम्भ किया था, मुझे विश्वास था कि मैं अवश्य ही निरालाजी की कविताओं की, कम से कम मुख्य विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर सकूँगा, पर अवसान निःश्वास से करना पड़ा। इसका कारण अपर्याप्त अध्ययन-मनन के अतिरिक्त अद्भुत समय में इस लेख का लिखना भी हुआ, जल्दबाजी भी हुई। इन कविताओं के विषय में अब भी सब कुछ नहीं, तो बहुत कुछ कहने को बाकी ही रहा। उसकी पूर्ति, हो सका तो मैं फिर करूँगा। ये कविताएँ कविसम्मेलन या मनोरञ्जन मात्र की वस्तु नहीं, इनके लिए सुचिर अध्ययन और Vast knowledge की जरूरत होती है। ये दर्शन के सूत्र-मात्र नहीं, साहित्य की बारीकियों के नमूने भी हैं।

उपयोगिता

इन कविताओं की उपयोगिता क्या है? या इस तरह की कविताओं की, राष्ट्र या समाज के श्रेय की दृष्टि से क्या आवश्यकता है और अगर ये निरुपयोगी, निरावश्यक हैं तो इनका बहिष्कार ही क्यों न किया जाय?—ये प्रश्न कितने छिछले हैं, इसकी समीक्षा के बजाय इनके उत्तर में दो-चार शब्द लिखना निरापद न होते हुए भी निरास्पद न होगा। मेरी समझ से यह प्रश्न कालिदास-काल से उठाना ही सही जँचता है; क्योंकि कालिदास की कविताएँ वीर और

रौद्र रस के भयंकर उदाहरण हैं, उनके पढ़ते ही नसों के साथ ही मुँह भी फूल उठता है—ये बातें प्रत्येक कविता-प्रेमी को मालूम हैं। रहे भारवि, माघ, भट्टनारायण या विशाखदत्त वगैरह दो-एक कवि! सो इन्होंने राष्ट्रोत्थान में कितनी मदद दी है, इनसे कविता-युग में कितना परिवर्तन हुआ है, संस्कृत-साहित्य में कालिदास और श्रीहर्ष के सामने इनकी कितनी पूछ है, पाठकों को मालूम होगा। और यह भी मालूम होगा कि कालिदास ने कैसे संस्कृत साहित्य को जिलाया है, जयदेव ने अपनी अनुपम श्रृङ्गार-सृष्टि से इसे कितना सँवारा है, कितनों को भक्त बनाया है, कितना सामाजिक रुचि-परिवर्त्तन किया है, समाज ने उन्हें कैसे देवता माना है।

रहा यह कि तब देश गरीब न था, गुलाम न था और आज सब तरह की यातनाएँ सह रहा है, उसकी जागृति के लिए जागरण-उद्बोधन की जरूरत है। पर यह भी कोई गहरी बात नहीं। कारण, दुःख-सुख, गरीबी-अमीरी विधना का नया विधान नहीं। कभी कोई काल न था, जब ये दोनों न थे। पर मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि हिटलर, कमालपाशा और गान्धी, मालवीय, नेहरू कभी महाकवि कहलाएँगे या नहीं? यदि नहीं तो किसान-साहित्य भी कभी साहित्यिक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। साहित्य किसी देश-काल को ही लक्ष्य कर नहीं निर्मित होता। उसका सम्बन्ध सीधे विश्व से होता है, और विश्व किसी खास पक्ष के

लिए नहीं रहता। चने चबानेवाले विद्वान् लोग कालिदास की कविताओं को जिस चाव से पढ़ते-पढ़ाते हैं, टैक्सी से जल्द जल्द सभा-भवन में पहुँचनेवाले, बेशकीमती खद्दरधारी लोग महात्मा गान्धी के भाषण को भी उतनी दिलचस्पी से न सुनते होंगे। यहीं राजनीति से साहित्य पृथक् है। राजनीति अगर मनुष्य के मस्तिष्क को प्रौढ़ बना सकती है तो साहित्य हृदय को। राजनीति अगर जीने का अधिकार दिला सकती है, तो साहित्य जीवन को सुखी बनाता है। मनुष्य केवल जीना नहीं जाहता, जीवन का आनन्द प्राप्त करना भी चाहता है। वह केवल दिमागी खयालातों पर खुश नहीं हो सकता, कुछ हार्दिक सहानुभूति भी चाहता है! अनुभूति मस्तिष्क से नहीं हृदय से की जाती है। साहित्य मस्तिष्कवान् नहीं, सहृदय होता है। जीवन हृदय से ज्यादा सम्बद्ध है या मस्तिष्क से, इसका मस्तिष्क से सोच-विचार कर माकूल—मुँह तोड़ जवाब दिया जा सकता है, पर हृदय से अनुभव कर नीरव-रव से अधिक प्रभावित किया जा सकता है, मस्तिष्क से नहीं, हृदय से पूछें। तो क्या साहित्योत्कर्ष के लिए मस्तिष्क का साहाय्य एकदम अनपेक्षित है? या दूसरे शब्दों में, उसके विना साहित्य जीवित रह सकता है? यहाँ कौन-सा विचारवान् व्यक्ति 'हाँ' कहने का दुस्साहस करेगा? मैं तो पहले ही लिख चुका हूँ कि रोटी का सवाल—उस रोटी का, जिसके विना कहीं कुछ हो नहीं सकता, राजनीति ही के द्वारा हल हो सकता है;

पर मैं यह भी पहले ही लिख चुका हूँ कि अगर मानव-जीवन का अभिलक्ष्य इतना ही होता तो शायद आज मानव-जाति चरागाहों में चरती दिखाई देती, शायद ये प्रातिद्वन्द्विक समर नहीं होते दिखाई देते और शायद सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के लिए रोज-रोज नये-नये आविष्कार नहीं होते दीखते। पर ऐसा हो कैसे सकता है? फलतः मनुष्य के हृदय की खुराक भी मिलनी ही चाहिए, पर उसे न तो राजनीति पूरा कर सकती है और न विज्ञान। यहीं साहित्य की जरूरत है।

देश की इस गुलामी की दशा ने भी विश्व को 'रवीन्द्र' दिया है,—किसानों का प्रतिनिधि, मजदूरों का सेवक, कारागार के द्वार से सुप्रशस्त-उर कवि नहीं; सौंदर्य-सृष्टि का स्रष्टा, रहस्यों का द्रष्टा, संगीत का निधि और साहित्य का प्रतिनिधि महाकवि। उसके उद्बोधन के छन्दों ने—'जागो किसान, जागो किसान; साहित्य-प्राण, देशाभिमान' जैसे पद्यों ने उसे वह पद नहीं दिलाया, किन्तु विश्व-जनीन भावनाएँ, दार्शनिक अनुभूतियाँ और सौंदर्य-पर्यवेक्षण की सूक्ष्मतम-दृष्टियाँ ही उसके लिए सब कुछ रहीं। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी माइकेल ने जो सृष्टि की, उससे देश को आध्यात्मिक, राजनीतिक या सामाजिक किसी भी प्रकार का उत्कर्ष-प्रकर्ष नहीं प्राप्त हुआ। अगर हुआ तो साहित्य को, विशेषतया वङ्ग-साहित्य को। कवि इतना कुछ कर सकने पर भी सफल है।

हिन्दी में निरालाजी की, या उन्हीं के स्टैण्डर्ड के दो-एक अन्य महाकवियों की कविताएँ भी भारतीय स्वराज्य को लक्ष्य कर नहीं गढ़ी गई हैं। उनका प्रयत्न भी कम या ज्यादा रवीन्द्र ही की तरह का रहा है। हिन्दी के अभाग्य या सौभाग्यवश इसी पद तक पहुँचे व्यक्ति को अगर रवीन्द्र नहीं घोषित किया जाता तो यह साहित्यिक अवनति नहीं हुई। पर भविष्य के रवीन्द्रों को यह देखने को तो रहेगा कि इस स्थान तक आकर मनुष्य निराला, प्रसाद या पन्त ही कहला सकता है, रवीन्द्रनाथ नहीं।

अब रही बात यह कि अगर देश स्वतन्त्र होता तो बहुत-से रवीन्द्र होते, सो तो एकदम हास्यापद है। क्या मैं दबी जबान से यह पूछ सकता हूँ कि जब भारत भारत था, तब सौ-दो-सौ कालिदास क्यों नहीं हुए? और आज जो हमारे देश के सिर पर पैर रक्खे हुए हैं, उनके गर्भ से भी दस-पाँच शेक्सपियर और दस-पाँच शेली, कीट्स क्यों नहीं होते? संसार की ऐसी विभूतियाँ अगर गुदड़ी-बाजार में बिकें तो शायद इनका नाम भी हम लोगों के काम में बाधक भर हो। संस्कृत के एक आचार्य ने कविता की बारीकी पर विचार करते हुए कहा है—"येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।"

और जो आधुनिक 'छायावाद', या दूसरे शब्दों में निरालाजी वगैरह की खिल्लियाँ उड़ाई जाती हैं, वह केवल

मूर्खतामूलक है। कारण, यह छायावाद नहीं, प्रकाशवाद ही है। भावों को प्रकटित करने की एक अभिनव सुन्दर-सरणि। जहाँ कुछ अस्पष्टता है, वहाँ साफ कवि की कमजोरी है। वाद का कोई दोष नहीं, विवाद की कोई वजह नहीं। आरम्भ में कमजोरियों का होना एकदम स्वाभाविक है, केवल समुचित। अन्त तक उसी दृष्टान्त को जबान पर रखकर अपनी शेखी बघारते रहना एकदम अस्वाभाविक है, एकदम अनुचित। प्रसाद को जपते-जपते माधुर्य तथा ओज का वैरी बन जाना अक्ल का वैरी बन जाना है। तथा सब आधुनिक 'छीछालेदरों' में,अनधीत-साहित्यतत्त्वों के मौर्ख्य-प्रदर्शन में आत्मभाव खोजना, सौन्दर्य-कल्पनाओं की कल्पना करना तथा पक्षपात, विज्ञापन आदि के भाव से गहरा अध्ययन करना तक समय की बरबादी है, मस्तिष्क का ह्रास, हृदय को संकुचित बनाना, आत्मा को कुण्ठित करना।

सफलता

क्रिया जितनी आसान है, सफलता उससे ज्यादा परेशान करनेवाली। पर इसके मानी यह नहीं कि हर एक व्यक्ति क्रिया-निपुण होता है। कभी-कभी क्रियाएँ कपाल-क्रिया करने भर को होती हैं और कभी-कभी अकल्पित कल्पनाओं के सर्वश्रेष्ठ पद तक पहुँचा देनेवाली। बीच की हालत आप तय है। निरालाजी ने जो करना आरम्भ किया, उसे अपनाया नहीं; निभाया नहीं। उन्हें उतना नाम न मिला, जितना

उन्होंने काम किया। शायद इसीलिए वह उत्साहहीन हो गये। पर उन्होंने जितना कुछ किया, एक विद्वान की तरह, एक प्रौढ़ कवि की तरह, इसमें कुछ संशय नहीं।

एक कवि की तरह उन्होंने लोकोन्मुखता नहीं दिखाई, एक दार्शनिक की तरह लोक की तरफ पीठ किये रहे। इसी लिए लोक ने उन्हें तिरछी नजर से देखा। कवि की तरह कभी-कभी उन्होंने सोचा जरूर था—

"मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?"

पर दूसरे ही क्षण एक दार्शनिक की तरह समाधान भी भी कर लिया—

"रे कुछ न हुआ, तो क्या ?
जग धोका तो रो क्या ?"

इसी मानसिक विद्रोह ने उन्हें लोक की आवाज नहीं सुनने दी। लोक उनकी प्रतिभा का कायल था। अब भी है। वह उनसे बहुत कुछ उम्मीद रखता था, अब भी रखता है, "मैं आपके सुथरे भावों को, सुलझे विचारों को बड़े चाव से पढ़ता हूँ। आपको मैं महत् भावों का कवि मानता हूँ। आप भी मेरे भावों को समझें, मुझे ऐसी चीजें न दें, जिन्हें मैं बारह वर्षों तक पढ़कर भी न समझूँ। आप मुझे स्वच्छ पवित्र भावों के अधिकाधिक दर्शन कराएँ। शब्दों के लोभ में बहुत न पड़ें। शब्दों का कवि बहुत बड़ा कवि नहीं होता। आपके

शब्द भावों के गुलाम ही की तरह के हों, उनको छिपानेवाले नहीं, वे आपके विशाल हृदय को व्यक्त होने दें, मखमल ही से सही, ढँकें नहीं।" पर उन्होंने उसकी एक न सुनी। लोक की यह सलाह उन्हें नहीं रुची। रुचती कैसे? उनकी चढ़ती को न देख सकनेवालों ने उसका अर्थ उन्हें उलटा-सीधा समझा दिया। सीधे कवि-हृदय को बहुतों की नीरव अनुकूलता की अपेक्षा दो-चार की विचारहीन उक्तियाँ ही रुचिकर प्रतीत हुईं। और, उनसे प्रतिभा का दुरुपयोग कराया गया।

मैंने इस लेख में तत्कोटिक अन्य कवियों की तुलनात्मक आलोचना प्रायः नहीं की है, उसे अन्य निबन्धों के लिए बाकी रक्खा है। पर उनको दिखाने से इतना जरूर साफ कर सकता कि निरालाजी ने कहीं अधिक शब्द-प्रियता व्यक्त कर दी है, जो कविता या भावों को उत्कृष्ट बनाने के बजाय क्लिष्ट भर बना सकी हैं। पर 'तुलसीदास'-जैसी कविता में उन्होंने 'परिवर्त्तन' और 'आँसू' से अत्यधिक उन्नत भावनाएँ दी हैं, यह भी सुस्पष्ट कर सकता। अवश्य 'तुलसीदास' और दोनों से क्लिष्ट है, पर उन्नत भी। पाठक क्लिष्टता के कारण पढ़ने से जी चुराते हैं, अध्यापक क्लिष्टता के कारण (नहीं पढ़ा सकने के कारण) वैसी कविताओं को पाठ्यक्रम में डर-डर कर रखते हैं, यही एक क्लिष्टता की काली करतूत है, जिसने कवि को खूब लोकप्रिय नहीं होने दिया और जो जुगनू भर थे, वे सूर्य के सिर पर चढ़ने की कोशिश करने लगे।

यदि निरालाजी ने कड़ी कविताओं की सिद्धि के लिए कड़ी आलोचनाएँ न लिखी होतीं, अपने को ओजस्वी, तेजस्वी तथा मधुर के साथ-साथ सरल भी बनाया होता तो आज एक ही ओर से यह आवाज नहीं सुनाई देती कि वह नये कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, किन्तु इतनी ही साधना, इतना ही अध्ययन, ऐसा ही परिश्रम और इतनी ही रचनाएँ उनकी सर्वश्रेष्ठता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण होतीं। मेरा तो यह अन्तिम अभिमत है:—

"तुम उन्हें आसमां कहो न कहो,
वह मगर हैं जमीं की खाक नहीं!"

एप्रिल '३७



अनुक्रम

विश्व-साहित्य में प्रथम क्रान्ति

"सप्तपर्णा"

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री की सात भाषाओं (हिन्दी, अंगरेजी, बंगला, उर्दू, संस्कृत, प्राकृत, ब्रजभाषा) की चुनी-चुनी सात-सात कविताओं का अनुपम संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है।